



# आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी व्यक्तित्व और कृतित्व

लेखिका

कुमारी पी० वासवदत्ता एम० ए०

युगवाणी



प्रकाशन

युगवाणी प्रकाशन

युगवाणी प्रकाशन, कानपुर

मूल्य १२ रु०

प्रकाशक — युगवाणी प्रकाशन कानपुर

प्रकाशनकाल — अप्रैल सन १९६५

मुद्रक — विवेक प्रिंटर्स कानपुर

गुरुदेव  
आचाय-प्रवर प० नन्ददुलारे जी वाजपेयी  
को  
सादर  
समर्पित



## प्राक्कथन

साधना के लिए आकांक्षा अपेक्षित है। मेरी प्रबन्ध-लेखन की आकांक्षा मेरे मानस में प्रारम्भ से ही विद्यमान थी और वह तभी पूर्ण रूप में पल्लवित हुई जब मुझे एम०ए० उत्तराखण्ड की हिंदी परीक्षा में अष्टम प्रश्नपत्र के विकल्प में किसी निर्धारित साहित्यिक विषय पर एक सघु प्रबन्ध लिखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वास्तव में प्रबन्ध लेखन का उद्देश्य परीक्षार्थी की साहित्यिक चेतना का जागृत करना और उसके अतगत व्यवस्थित साहित्यिक लेखन शैली को जन्म देना ही है जोकि उसके आगामी साहित्यिक जीवन की पूर्व पीठिका का कार्य कर सक। प्रबन्ध लेखन की यह आकांक्षा मैंने हिंदी विभाग के अध्यक्ष आचार्य वाजपेयी जी के सम्मुख व्यक्त की। उन्होंने अपनी स्वीकृति प्रदान कर मुझे डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के समीक्षा और शोध सम्बन्धी कार्य पर समीक्षात्मक प्रबन्ध लेखन का आदेश दिया। उनके इस आदेश से मुझे अत्यंत प्रसन्नता हुई और उनके आदेश को कार्यावित करने के लिए मैं अध्ययन में प्रवृत्त हुई। प्रबन्ध लेखन के अंतराल में विषय से सम्बंधित सामग्री प्राप्त करने में मुझे सघर्ष का सामना करना पड़ा, परंतु अपने पूज्य गुरुदेव की कृपा और आशीर्वाद सदा कार्य में प्रेरणा ही प्रदान करते रहें और इस प्रकार आठ माह के निरंतर प्रयत्न के पश्चात् मैं इस प्रबन्ध को प्रस्तुत कर सकी हूँ।

आधुनिक हिंदी समीक्षा का भविष्य उज्ज्वल है और वह अपने नव्यतम रूपों में विभिन्न प्रवृत्तियों को समाहित किए हुए एक नवीन दिशा की ओर गतिशील है। युगोत्तर समीक्षा में जहाँ एक ओर स्वच्छतावादी समीक्षा पद्धति उदित हुई हैं वहाँ आधुनिक हिंदी समीक्षा में समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक शैलियाँ भी प्रचलित हैं। स्वच्छतावादी समीक्षा के प्रणेता आचार्य वाजपेयी जी हैं। उन्होंने अपनी नवीन मौलिक उद्भावनाओं और साहित्यिक प्रतिभा द्वारा इस समीक्षा को जीवन्त रूप प्रदान किया है। इसी प्रकार मानवतावादी और समाजशास्त्रीय समीक्षा शैलियों का भी आधुनिक हिंदी समीक्षा में विशेष योगदान एवं प्रदेय है। मानवतावादी समीक्षा आधुनिक हिंदी समीक्षा को एक विशेष स्वरूप प्रदान करती है। अथवा शब्दों में मानवतावादी समीक्षा आधुनिक हिंदी समीक्षा का एक प्रमुख अंग है। मानवतावादी समीक्षा के प्रवर्तक डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी हैं जिन्होंने समीक्षा क्षेत्र में एक नव्यतम स्वरूप प्रस्तुत किया है। अपने इस प्रबन्ध में मैंने डा० हजारीप्रसाद द्विवेदीजी के शोध और समीक्षा कार्यों पर प्रकाश डाला है जिससे उनका समीक्षक और शोधकर्ता व्यक्तित्व अधिक स्पष्ट रूप से उदघाटित हो सके।

प्रबंध के प्रथम अध्याय में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी का जीवन एवं व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है। उनकी प्रारम्भिक जीवन की क्षांतिया, स्वभाव और अध्ययन का क्षेत्र, विभिन्न रचियाँ इस अध्याय के विषय हैं। अन्य साहित्यकारों की भांति द्विवेदीजी को भी प्रारम्भ से सधर्षों और जीवन में लक्षणावतों का सामना करना पड़ा है। प्रबंध के इस अध्याय की सामग्री एकत्रित करने के लिए अत्यधिक कठिनाइयाँ और बाधाएँ उपस्थित हुई हैं फिर भी अपने गुह्येव द्वारा समय-समय पर प्राप्त जाशीर्वात् के फलस्वरूप मैंने सामग्री का संचयन किया है। आचार्य द्विवेदीजी के पत्र-सम्पर्क आदि द्वारा प्राप्त एवं स्वतः पत्र-तंत्र से आकलित सामग्री ही इस अध्याय का एकमात्र आधार बन पाया है।

प्रबंध का द्वितीय अध्याय द्विवेदीजी का साहित्यिक निर्माण काय से सम्बन्धित है जिसमें कि उनकी समस्त साहित्यिक कृतियों और रचनाओं पर एक विहंगम दृष्टिपात किया गया है। उनकी समस्त साहित्यिक कृतियों का विभिन्न रूपों में वर्गीकरण भी किया गया है। प्रथम कोटि में उनके समीक्षात्मक ग्रन्थ हैं। इसके अंतर्गत उनकी 'सूर-साहित्य', 'साहित्य का साथी', 'आधुनिक हिन्दी साहित्य पर 'विचार' आदि समीक्षात्मक कृतियाँ हैं। साहित्यिक कृतियों का द्वितीय रूप उनके शोध ग्रन्थों में प्रस्तुत हुआ है। 'कबीर', 'मध्यकालीन धर्मसाधना', 'नाथ संप्रदाय', 'हिन्दी साहित्य का आन्विकाल' आदि उनके शोध-ग्रन्थ हैं जो इस प्रबंध का प्रमुख प्रतिपाद्य बने हैं। तृतीय प्रकार की रचनाएँ द्विवेदीजी की निबंध पुस्तकें हैं जिनमें द्विवेदीजी का निबंधकार का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से विकसित हुआ है। उनके सम्पादित ग्रन्थों में 'सदेशरसक', पृथ्वीराज रासो', 'नाथसिद्धों की बानियाँ' आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। द्विवेदीजी के कथा-साहित्य से सम्बन्धित तीन पुस्तकें हैं 'दाणभट्ट की आत्मकथा' और 'मेघदूत एक पुरानी कहानी तथा 'चारुचंद्रलेख। वस्तुतः 'मेघदूत एक पुरानी कहानी—मेघदूत का कलात्मक अनुवाद है। इस प्रकार इस अध्याय में उनकी समस्त कृतियों का वर्गीकरण कर उनका रचनातिथि सहित परिचय दिया गया है।

प्रबंध के तृतीय अध्याय में द्विवेदीजी के समीक्षक व्यक्तित्व का निरूपण किया गया है। उनकी समीक्षा के प्रमुख चोठिका उनकी मानवतावादी दृष्टि है जिसको उनकी समस्त समीक्षात्मक कृतियाँ में देखा जा सकता है। मानवतावादी समीक्षक के अतिरिक्त इस अध्याय में द्विवेदीजी की साहित्य एवं कलागत माय तार्जों एवं प्रतिमानों का भी प्रतिपादन हुआ है। प्राचीन साहित्य सम्बंधी विचारों के अतिरिक्त द्विवेदीजी की आधुनिक साहित्य सम्बंधी समीक्षाओं एवं आदर्शों पर भी प्रकाश डाला गया है। आधुनिक समीक्षादर्श के सदर्थ में द्विवेदीजी के बाद सम्बंधी (छायावाद, प्रगतिवाद, आदर्शवाद) दृष्टिकोणों का भी उल्लेख

किया गया है। समग्रतः उनकी समस्त कृतियों का आधार उनकी व्यापक मानवीय दृष्टि ही प्रतीत हुई है।

चतुर्थ अध्याय में द्विवेदीजी के शोध सम्बन्धी कार्यों पर दृष्टिपात किया गया है। अध्याय के प्राथमिक अंश में शोध के स्वरूप, शोध और समीक्षा का अंतर एवं हिन्दी में शोध काय की परम्परा आदि पर विचार किया गया है। हिन्दी की शोध-काय की परम्परा का आलेख करते हुए द्विवेदीजी के शोध सबंधी कार्यों का विवरण दिया गया है। द्विवेदीजी के शोध काय सम्बन्धी क्षेत्रों को भी इस अध्याय के अंतर्गत रखा गया है।

समीक्षक एवं शोधकर्ता व्यक्तित्व के साथ ही उनके साहित्यिक व्यक्तित्व का एक अथवा अनेक इतिहास लेखक के रूप में प्राप्त होता है। अध्याय के प्रारम्भिक भाग में इतिहास लेखन सम्बन्धी भारतीय और पाश्चात्य आदर्शों को प्रदर्शित किया गया है। द्विवेदीजी के इतिहास लेखन सम्बन्धी आदर्श और विशेषताएँ क्या हैं? मुकुलजी और द्विवेदीजी के हिन्दी साहित्य के काल विभाजन सम्बन्धी विचार और उनके जोचित्य पर भी विचार किया गया। इसके अनिर्दिष्ट इस अध्याय में द्विवेदीजी की इतिहास सम्बन्धी उपलब्धियों और प्रदेयों का भी विवेचन किया गया है।

समीक्षक एवं शोधकर्ता के अनिर्दिष्ट प्रवृत्त के छोड़े अध्याय में द्विवेदीजी के आचार्यत्व की भी चर्चा की गई है। आचार्यत्व को प्राचीन परम्परा का उल्लेख करते हुए आधुनिक हिन्दी साहित्य में उसकी विकसित परम्परा इस अध्याय का विषय वस्तु बनी है। आचार्य द्विवेदीजी के आचार्यत्व के उपकरण क्या हैं, इस प्रश्न का भी समाधान इस अध्याय में हुआ है।

सातवाँ अध्याय शैलीकार द्विवेदी का है। इसमें हमने द्विवेदीजी के अंतरंग और बहिरंग शैली प्रसाधनों पर विचार किया है। नवा अध्याय उपसंहार और प्रदेय का है। इसमें प्रथम अध्याय से अष्ट अध्याय तक के विषय के सारांश को प्रस्तुत किया गया है।

द्विवेदीजी के समीक्षक व्यक्तित्व के प्रतिपादन के साथ ही युगीन समीक्षकों एवं शोधकर्ताओं से उनकी तुलना प्रकरण के अष्टम अध्याय में की गई है। इस अध्याय में अंतर्गत हिन्दी समीक्षा एवं शोध की परम्पराओं पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार कर द्विवेदीजी की समीक्षात्मक एवं शोध सम्बन्धी उपलब्धियों का उल्लेख किया गया है। अध्याय के द्वितीय चरण में द्विवेदीजी की शोध सम्बन्धी दिशाओं और विशेषताओं को भी देखा गया है। नवम अध्याय में द्विवेदीजी का हिन्दी साहित्य को प्रदेय क्या है, इस पर विचार किया गया है।



इस प्रबन्ध के प्रस्तुत किये जाने का पूणरूपेण श्रेय परमपूज्य गुरुवर्य आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी को है जिनसे मुझे पितृवत् स्नेह और आशीर्वाद प्राप्त हुआ है। उन्होंने मेरी साहित्यिक चेतना को अपने परम ज्ञान के आनीक से एक नवीन ज्योति प्रदान की है। मेरी साहित्यिक अभिरुचियों को जागृत ही नहीं किया वरन् उसे यापि भी प्रदान की है। मेरा यह प्रबन्ध उनकी निरन्तर प्रेरणा और आशीर्वाद का परिणाम मात्र है।

मैं अथ गुरुजनों को भी धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकती जिन्होंने समय-समय पर मुझे इस प्रबन्ध सम्बन्धी पुस्तकें प्रदान कर इस काय को अविश्वरूप से आगे बढ़ाने में सहायता प्रदान की है। साथ ही बहिन पद्मा वाजपेयी को अपनी कृतज्ञता प्रकट किये बिना नहीं रह सकती जिन्होंने मुझे इस प्रबन्ध लेखन में पूणरूप से स्नेह एवं प्रेरणा प्रदान की है। समय-समय पर उन्होंने मुझे सामग्री के सचयन हेतु अनेकानेक पुस्तकों से लाभावित किया है। अतः मैं उनके प्रति आभारिक कृतज्ञता प्रकट करती हूँ।

मेरा यह प्रबन्ध लेखन का प्रथम प्रयास है। मैं अपने विचारों को कहीं तक प्रतिपादित कर सकी हूँ और कहीं तक सफलता प्राप्त कर सकी हूँ इसका निणय विद्वज्जनों पर ही छोड़ती हूँ।

हिन्दी विभाग  
सागर विश्वविद्यालय

पी० वासुदेवता

## भूमिका

सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की एम० ए० की परीक्षा के निमित्त एक लघुप्रबन्ध लिखन की स्वीकृति दी जाती है। प्रतिवर्ष एम० ए० के कुछ चुने हुए विद्यार्थी इस प्रकार के प्रबन्ध लिखते हैं जिनमें कभी किसी साहित्यकार, लेखक या कवि के समग्र लेखन का अध्ययन किया जाता है और कभी किसी साहित्यिक धारा, प्रवृत्ति, समस्या आदि का विचार किया जाता है। यद्यपि इन्हें लघुप्रबन्ध की श्रेणियाँ दी जाती हैं, परन्तु कभी-कभी ये आकार में दीर्घ हो जाते हैं और इनमें विषय का समग्र स्थापन किया जाता है। कु० वासुदेवदास का प्रस्तुत प्रबन्ध इसी प्रकार का है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में हिन्दी के सुप्रसिद्ध समीक्षक, शोधकर्ता और पंडित आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की सदिप्त जीवनों के साथ उनके व्यक्तित्व और साहित्यिक निर्माण कार्य का विंगद रूप में उल्लेख किया गया है। प्रबन्ध को आवश्यक-अध्यायों में बाँटकर प्रत्येक अध्याय में पद्य विशेष का आकलन और अध्ययन किया गया है। यों तो द्विवेदी जी एक रचनात्मक साहित्यज्ञ भी हैं, परन्तु मूलतः वे एक सांस्कृतिक-चिंतक हैं। इस प्रबन्ध में द्विवेदी जी के रचयिता रूप की केवल प्रासंगिक चर्चा की गई है, प्रमुखतः उनके चिंतक रूप का विस्तार के साथ आलेख किया गया है। प्रबन्ध लेखन के समय इसी आशय का शीर्षक दिया गया था, पर पुस्तक रूप में प्रकाशित होते समय शीर्षक कुछ बदल दिया गया है। इसीलिये यह स्पष्टीकरण आवश्यक था।

कु० वासुदेवदास ने परिश्रमपूर्वक और श्रद्धापूर्वक यह प्रबन्ध लिखा है। द्विवेदी जी की साहित्यिक और चिंतनात्मक प्रवृत्तियों को स्पष्ट करते हुए यत्र-तत्र कतिपय अन्य साहित्यिकों और विचारकों से उनकी तुलना भी की गयी है, परन्तु वहाँ आशय इतना ही रहा है कि द्विवेदी जी की विशेष प्रवृत्ति दिशा को समझ लिया जाय और उनकी मौलिक उपलब्धियों को उन्हीं भूमिकाओं पर देखा जाय। तुलना का आशय कहीं भी किसी की श्रेष्ठता या अवरता प्रदर्शित करना नहीं रहा है। एक श्रद्धालु विद्यार्थी के लिये ऐसा करना न सम्भव ही था, न उचित ही।

यह कहना तो समीचीन न होगा कि इस प्रबन्ध में द्विवेदी जी के साहित्य का विश्लेषण एवम् निर्मागत रूप से हुआ है, परन्तु उनके प्रदेय को यथासंभव

अविकल रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न अवश्य किया गया है। निदेशक के रूप में मैंने इस प्रबंध के प्रणयन में यथेष्ट रुचि ली है, इसलिए इसके गुण दोषों में मेरा भी दायित्व किसी-न किसी मात्रा में स्वीकार करना होगा, और उसे मैं स्वीकार करता हूँ।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन के अवसर पर मुझे विशेष प्रसन्नता है। क० वासवदत्ता प्रथम श्रेणी में एम० ए० करने के पश्चात् प्राचीन और नवीन साहित्य सिद्धांतों का विवासात्मक अध्ययन कर रही है। मुझे आशा है कि उसके लेखन में क्रमशः अधिक प्रौढ़ता आएगी और वह हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अपनी योग्यता के अनुरूप कार्य कर सकेगी।

सागर विश्वविद्यालय

१५४६५

—नन्दुस्तारे भाजपयो

## अनुक्रमणिका

### १—जीवन और व्यक्तित्व

१

जीवन, कृतिमा, स्वभाव और व्यक्तित्व, सामाजिक सम्पर्क, अध्ययन का क्षेत्र, श्रुतियाँ ।

### २—द्विवेदो के साहित्यिक व्यक्तित्व का श्रमिक विकास

२२

समीक्षात्मक ग्रन्थ, मूल साहित्य, साहित्य का माघो, आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार, गोप ग्रन्थ, कबीर, मध्यकालीन धर्म साधना, नाथ सम्प्रदाय, हिन्दी साहित्य का आदि काल, इतिहास ग्रन्थ, हिन्दी साहित्य की भूमिका, हिन्दी साहित्य, निबन्ध पुस्तकें, अशोक के फूल, विचार और वितक, विचार प्रवाह, हमारी साहित्यिक समस्याएँ, कल्पलता, साहित्य का मर्म, छानुवाद, प्राचीन भारत का कलात्मक विलास, प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, लालकनेर, सपादित ग्रन्थ, सपेथारासक, पद्मवीराज रासो, नाथ सिद्धो की वानियाँ, कथा साहित्य, बाणभट्ट की आत्मकथा, मेघदूत ( एक पुरानी कहानी ) ।

### ३—सम्बन्धी द्विवेदी

५८

साहित्य सम्बन्धी आदर्श और सिद्धांत, साहित्य का प्रयोजन उसके हेतु, का परूप सम्बन्धी द्विवेदी जो कि विचार, कहानी, नाटक, उपन्यास, वाद पर द्विवेदी जो कि विचार, आदर्शवाद, छायावाद, यथाथवाद, प्रगतिवाद, कलात्मक, छन्द, अलंकार, व्यावहारिक समीक्षा, मानवतावादी दृष्टि, श्रुतन जो और द्विवेदी जो की मित्र दृष्टिया, द्विवेदी जो की समीक्षा का सांस्कृतिक आधार, द्विवेदी जो की अन्त प्राचीन साहित्य दृष्टि, प्राचीन साहित्य की समीक्षा, प्राचीन हिन्दी-साहित्य, सम्बन्धी द्विवेदी जो के समीक्षात्मक विचार, आधुनिक साहित्य सम्बन्धी समीक्षाएँ ।

### ४—शोधकर्ता द्विवेदी

१०१

शोध का स्वरूप, शोध और समीक्षा का अन्तर, हिन्दी में शोधकाय की परम्परा, द्विवेदी जो के शोधकाय के विभिन्न क्षेत्र, ऐतिहासिक शोध, हिन्दी साहित्य की भूमिका, नाथ सम्प्रदाय, कबीर, निरंजन कीन है, मध्यकालीन धर्म साधना ।

## ५—इतिहास लेखक द्विवेदी

१२६

इतिहास लेखन का आदर्श भारतीय और पश्चिमी, इतिहास लेखन शैली, द्विवेदी जी की इतिहास लेखन शैली की विगणता व आदर्श, शुक्ल जी का आदर्श, युगों के नामकरण का प्रश्न, काल विभाजन और उसके औचित्य पर विचार, शुक्ल जी के इतिहास से द्विवेदी जी के इतिहास में मतभेद स्पष्ट, द्विवेदी जी के इतिहास की उपलब्धियाँ और प्रदेय ।

## ६—आचार्य द्विवेदी

१५४

आचार्य का स्वरूप एवं उपकरण, आचार्यत्व की प्राचीन परम्परा, आधुनिक हिन्दी साहित्य में आचार्यत्व की परम्परा, आचार्यत्व के उपकरण द्विवेदी जी के आचार्यत्व के उपकरण, साहित्यतर विषयों में प्रवेश, व्यक्तित्व के कतिपय गुण मिलनसार स्वभाव, कतिपय चारित्रिक विशेषतायें, जीवन दृष्टि की विशालता ।

## ७—शैलीकार द्विवेदी

१७६

द्विवेदी जी की गद्य शैली, समीक्षात्मक शैली, विदुद्ध विचारारमक शैली, निष्कष्य शैली का बहिरंग पक्ष ।

## ८—द्विवेदी युगीन समीक्षक और शोधकर्त्ता

१६६

हिन्दी समीक्षा का आधुनिक युग, हिन्दी समीक्षा का द्वितीय चरण, शुक्लोत्तर शास्त्रीय समीक्षा, स्वच्छतावादी समीक्षा का आरम्भ स्वच्छतावादी कवियों का समीक्षाकाय, स्वच्छतावादी गद्य समीक्षक, द्विवेदी जी का समीक्षाकाय, आधुनिक हिन्दी शोध की पृष्ठभूमि, द्विवेदी जी के शोधकाय की दिशाएँ, समकालीन शोध कर्त्ताओं का काय, आधुनिक विश्वविद्यालयीन शोध, (१) हिन्दी के प्राचीन कवि और काय सम्बन्धी शोध, (२) प्राचीन सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण का शोध, (३) जीवनी सम्बन्धी शोध, (४) आधुनिक काव्य सम्बन्धी शोध, (५) सद्भाषित्व समीक्षा, वाद सम्बन्धी शोध, भाषा सम्बन्धी शोध, शोध के क्षेत्र में द्विवेदी जी की विशेषतायें ।

## ९—उपसंहार और प्रदेय

२२७

व्यक्तित्व की विशेषतायें साहित्य निर्माण, इतिहास लेखक, शोध और समीक्षा शैलीकार, आचार्यत्व, प्रदेय, ऐतिहासिक प्रदेय, मानवतावादी दर्शन, तात्विक प्रदेय ।

## जीवन और व्यक्तित्व

### जीवनी

इतिहास इसका साक्षी है कि प्राचीनकाल से अब तक जितने भी प्रसिद्ध साहित्यकार हुए हैं, उनमें से अधिकांश को आरंभिक जीवन में या अपने जीवन काल में कुछ कुछ कठिनाइयों का सामना करना ही पड़ा है। आधुनिक युग में भी कवियों और लेखकों पर सरसरी दृष्टि दौड़ान पर भी यह बात अवगत होती है। अपवाद स्वरूप कुछ उदाहरण अवश्य मिल जायें, यह दूसरी बात है। विदेशों में भी यही बात हमें नजर आती है, उदाहरणार्थ जानसन को ले सकते हैं। उन्होंने भी अपने जीवनकाल में अनेक कठिनाइयों का सामना किया था, फिर भी साहित्य रचना में कोई अवरुद्धता नहीं आने दी। हमारे द्विवेदी जी भी इसके अपवाद न थे। उन्हें भी अपना प्रारंभिक जीवन कठिनाइयों में बिताना पड़ा था और इन्हीं कठिनाइयों की कसौटी में जीवन रूपी स्वर्ण को बसकर सारा स्वर्ण के रूप में अपने जीवन को बनाया तथा अपनी कृतियों द्वारा गिरी हुई जनता को साहस देने का भार उठाया। इसलिए भी वे मानवतावादी लेखकों में दीप स्थान रखते हैं। अब हम उनके साहित्यिक जीवन के साथ-साथ व्यक्तिगत जीवन संबंधी घटनाओं, व्यक्तित्व सम्बन्धी विचारों, व्यक्तित्व की विशेषताओं, साहित्यिक रचनाओं और उनके श्रमिक विकास, तथा उनके अन्य कार्यों, पर विचार करेंगे।

उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में एक छोटा सा ग्राम था जहाँ द्विवेदी जी के प्रपितामह के पिता के नाम पर ही 'आरत दुबे' का छपरा बसाया गया था। वह जिस बड़े गाँव का हिस्सा था उस गाँव का नाम ओमबलिया था। उसी गाँव में उनके बाबा रहते थे। द्विवेदी जी के बड़े प्रपितामह (आरत दुबे) ने यह छोटा सा टोला बसाया था। उनको ज्योतिष शास्त्र का अच्छा ज्ञान था। इसी ज्योतिष से काफी पैसा भी कमाया था। पारिवारिक आर्थिक दंगा फिर भी दोन थी। इसी परिवार में आचार्य जी का जन्म सन् १९६४ शुद्ध श्रावण गुक्ला एकादशी को अर्थात् अगस्त १९०७ ई० में हुआ था। इनके पिता ५० अनमोल द्विवेदी बड़े अध्ययनशील एवं सत स्वभाव के व्यक्ति हैं। ये महावीर हनुमान के परम भक्त हैं। द्विवेदी जी की माता का नाम परमशक्तिदेवी है। आजकल दोनों बच्चाबच्चा को प्राप्त हो चुके हैं और भगवान विश्वनाथ की पुरी काशी में निवास कर रहे हैं।

द्विवेदी जी का बचपन का नाम बजनाय द्विवेदी था। एक बार की बात है कि इनके पिता मुकदमा लड़ रहे थे। उस समय मुकद्दमे में रुपया का बड़ी आवश्यकता थी। पास में रुपए नहीं थे पर भाग्यवश उनको कहीं से १००० रुपयों की अचानक प्राप्ति हुई उससे अनमोल द्विवेदी जी बड़े प्रसन्न एवं सन्तुष्ट हुए। पास पड़ोस के लोगों ने द्विवेदी जी का नाम बजनाय से बदल कर हजारोप्रसाद रख दिया और उसी दिन से ये इसी नाम से प्रसिद्ध हैं।

इनका विवाह सन् १९२७ में श्रीमती भगवती देवी के साथ हुआ था। इनके चार पुत्र और तीन पुत्रियाँ हैं।

द्विवेदी जी की प्रारम्भिक शिक्षा अपने जिले के प्राइमरी स्कूल रेपुरा में हुई। सन् १९२० में अपने चाचा की देखरेख में बसरिकापुरा मिडिल स्कूल से उन्होंने प्रथम श्रेणी में मिडिल परीक्षा पास की। मिडिल पास करने के पश्चात् उन्होंने ससृष्ट पन्था प्रारम्भ किया। इन्होंने ससृष्ट की पढाई पहले परागर ब्रह्मचर्याश्रम में, जो गाँव के पास ही था, गुरु की। पश्चात् रणवीर ससृष्ट पाठशाला काशी विश्वविद्यालय से सन् १९२३ में प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण की। १९२६ में साहित्य की परीक्षा, फिर १९३० में गणितशास्त्र परीक्षा पास की। अग्रेजी स्कूलों में नियमित अध्ययन नहीं हुआ। पर वालों की स्थिति आर्थिक दृष्टि से बहुत सामान्य थी। स्वयं इधर उधर से सग्रह करके अग्रजी की एडमिशन परीक्षा (हाईस्कूल) सन् १९२७ ई० में काशी विश्वविद्यालय से ही पास की। सन् १९२६ ई० में इण्टरमीडियट परीक्षा एवं आचार्य परीक्षाएँ पास की।

उनके चाचा प० बाबेविहारी दुबे मैथिलीशरण गुप्त जी के प्रेमी थे। उन्होंने आचार्य जी का बाल्यकाल में भारत भारती, जयद्रव्यवध, रटायया था। उनके स्कूल के हेडमास्टर प० महेंद्र पांडे, 'जयरघुवश वनज वन भानू' भजन कराते थे और शिवजी के मन्दिर में पकड़ ले जाया करते थे। रामचरितमानस से ही थोड़ी सी साहित्यिक सस्कृति बीज रूप में मिली है। छपी किताब उस समय वहाँ बहुत कम मिलती थी परंतु गांव में आयसमाज के कारण कुछ कुछ शास्त्राथ और विद्या का वातावरण था। उन दिनों प० तुलसीराम के दशनों के अनुवाद को पढ़ गए थे। जो भी पढ़ते वडे ध्यान एव रुचि से पढ़ते थे। उपनिषद की टीकाएँ, महाभारत के कई पाठ पढ़ डाले थे। तुलसी रामायण नियमित रूप से पढ़ा करते थे। पंद्रह सोलह वष की अवस्था में बनारस आये। इनके चाचा वडे शास्त्रार्थी थे। उन्होंने द्विवेदी जी को 'लघुसिद्धांत कौमुदी' पूरी याद करा दी। वे गुढ़ उच्चारण के साथ रटते थे। आचार्य जी ने सस्कृत बड़ी जल्दी पढ़ ली थी। उस समय इनको बिरला छात्रवृत्ति पंद्रह रुपय महीने मिलती थी। प० जगन्नाथ तिवारी जी के पड़ोसी गांव के रहने वाल और सब्धी भो हैं। वे अंग्रेजी पढ़ते थे, द्विवेदी जी सस्कृत। कभी कभी वे तिवारी जी से अंग्रेजी पढ़न में सहायता लेते थे। तिवारी जी भी बडे उत्साह के साथ उन्हें इस काम में मदद देते थे। सन् १९२७ के बाद से ही आचार्य जी की हिंदी की ओर रुचि एव मुकाब था। इन्हीं दिनों आचार्य जी का परिचय आचार्य नन्दलाले वाजपेयी जी से हुआ था। वाजपेयी जी आधुनिक काव्य के प्रेमी थे। उसी समय में द्विवेदी जी आधुनिक हिन्दी साहित्य की ओर उन्मुख हुए थे।

शास्त्राचार्य हाने के बाद द्विवेदी जी सन् १९३० में हिन्दी अध्यापन के हेतु साम्प्रतिके तन बुलाए गए। सन १९३२ में वे बी० ए० की परीक्षा में बैठना चाहते थे, किन्तु आला की अस्वस्थता के कारण बठ न सके और पढ़ना बन्द कर दिया।

साहित्याचार्य के रूप में तो इन्हें दुनिया जानती है, लेकिन वह एक उदभट ज्योतिषी भी हैं, इमे कम लोग जानते हैं। ज्योतिष द्विवेदी जी को अपनी पतक परम्परा से ही नहीं मिली, इन्होंने ज्योतिष विषय में शास्त्री और आचार्य परीगाएँ भी उत्तीर्ण की हैं। इनके पिता जी की तीव्र इच्छा थी कि वे या तो ज्योतिषी बने या फिर बकील बने। बकील तो नहीं बने पर ज्योतिषी से साहित्यकार बने बने इसकी कहानी पृथक है।

द्विवेदी जी की साहित्यकार बनाने में हरिशोष जी का बडा हाथ था।



वह अपनी रचनाएँ इन्हे बड़े धाव से सुनाया करते थे और इन्हें बखिताएँ लिखने के लिये सत्त्व प्रोत्साहित एवं प्रेरित किया करते थे। द्विवेदी जी का कहना है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पास जाते मुझे ठर लगता था। बाबू श्यामसुन्दरदास जी भी मरी पहुँच स बाहर थे। हरिऔध जी और लाला भगवानदीन दोनों की मुझ पर बड़ी कृपा रहती थी। तब मैं ब्रजभाषा में बखिताएँ लिखता करता था। मेरी रचनाएँ बीर रस पूण हुआ करती थी, मैं उनका पाठ भी बड़े जोरशोर से किया करता था। हरिऔध जी मुझे कभी कभी आधुनिक भूषण कहा करते थे।

शातिनिकेतन में एक हिन्दी अध्यापक की आवश्यकता थी। उन दिनों आशा देवी (अब श्रीमती आशा आयनायकम) वहाँ रेक्टर थी। वे एक अच्छे हिन्दी अध्यापक की खोज में थी। हरिऔध जी ने द्विवेदी जी का पारचय एतन प्रभावपूर्ण शब्दों में दिया कि एकदिन आशादेवी जी बहुत प्रभावित हुई और इनको शातिनिकेतन ले गईं। यह घटना नवम्बर १९३० ई० के प्रारम्भ की है।

## कृतियाँ

शातिनिकेतन पहुँचने पर हमारे प्रकार के सस्वार पढ़ने लगे। द्विवेदी जी ६ नवम्बर को चलकर ७ नवम्बर १९३० को शातिनिकेतन पहुँचे और उन्होंने ८ नवम्बर को काय भार संभाला। द्विवेदी जी इन तिथियों को 'द्विजत्व' प्राप्ति की तिथि मानते हैं। यहाँ से वे अपना दूसरा जन्म मानते हैं। इसीलिये तिथियाँ द्विजत्व प्राप्ति की तिथियाँ हैं। धीरे धीरे महान् यक्तियों से परिचय हुआ। वहाँ बबिगुप्त रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महामहोपाध्याय प० विधु शंकर भट्टाचार्य, आचार्य सिनिमाहन सेन, आचार्य नदलाल बसु श्रीमान दीनबन्धु सी० एफ एण्ड जू और अ य अन्क देशी विदेशी विद्वानों के संपर्क में आए। वहाँ प० बनारसीदास चतुर्वेदी से परिचय हुआ और 'विद्याल भारत में लिखना गुरु' किया। इन व्यक्तियों से आचार्य जी काफी प्रभावित हुए। वे स्वयं नहीं यह सकते उन्होंने किससे क्या लिया? यहाँ में इनका साहित्य सेवा की प्रेरणा मिली। इनका यग यमग फलने लगा। शातिनिकेतन में काय करते हुए उनका हिन्दी, अंग्रेजी बंगला आदि के विद्वानों से संपर्क हुआ और वे इन यास्वी विद्वानों एवं साहित्यकारों से प्रभावित हुए और बहुत कुछ सीखा भी। परिणामतः उनकी साहित्यिक प्रतिभा चमक उठी। सन १९३० के आसपास आरम्भ कर आज तक एक अखण्ड तपस्वी की भाँति द्विवेदी जी साहित्य की साधना में सलग्न हैं। शातिनिकेतन में रहते हुए उन्होंने कई ग्रंथों का निर्माण किया है।

'मूर साहित्य' इन्होंने सन १९३२ में लिखा था तथा इसका प्रकाशन सन् १९४० में हुआ था। यही उनका सर्वप्रथम ग्रंथ है। इस ग्रंथ के बारे में

## जीवन और व्यक्तित्व

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने भूमिका में इस प्रकार लिखा है, "श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी भक्तितत्व, प्रेमतत्व, राधाकृष्ण मतवाद आदि के सबष में जो कुछ भी उल्लेख योग्य जहाँ वहाँ से पा सके हैं उसे इस ग्रंथ में संग्रह किया है और उस पर भली भाँति विचार किया है। दूसरा ग्रंथ उनका 'हिंदी साहित्य की भूमिका' है जिसका रचनाकाल सन् १९३६-४० है। हिंदी साहित्य की भूमिका दृष्टिकोण से पाठकों के सामने लाने की तीव्र इच्छा थी जिसकी पूर्ति द्विवेदी जी ने इस पुस्तक के द्वारा की है। इस पुस्तक में नवीन दृष्टिकोण को जिस स्पष्टता और याग्यता से व्यक्त किया गया है वह अत्यंत दुर्लभ है। यह पुस्तक हिंदी साहित्य का इतिहास नहीं है और न यह ऐस किसी इतिहास का स्थान ही ले सकती है। आधुनिक इतिहासों को यह अधिक स्पष्ट करती है और भविष्य में लिखे जाने वाले इतिहासों की मार्गदर्शिका है। इसी में इसका महत्त्व है। तीसरी पुस्तक 'नख दपण में हिंदी कविता' नामक छोटी सी पुस्तिका या प्रकाशन भी सन् १९३४ में हुआ है। चौथी पुस्तक 'कबीर' है। द्विवेदी जी ने शांतिनिकेतन में रहकर कबीर की रचना की है। इसका रचनाकाल सन् १९३४ है। इसमें कबीर के व्यक्तित्व, साहित्य और दार्शनिक विचारों की आलोचना की गई है। साथ ही साथ यह एक शोधात्मक ग्रंथ है। इसका छठा संस्करण निकल चुका है। इससे इसकी प्रसिद्धि का अनुमान लगा सकते हैं। सन् १९४० में 'मध्यकालीन धर्मसाधना' पाठकों के सामने प्रस्तुत हुआ। इस पुस्तक में कुल मिलाकर ३७ निबन्धों का संग्रह है। पर इनको धर्म से बँटाकर एक ग्रंथ का रूप देने की सफल चेष्टा की गई है। इस पुस्तक से मध्यकाल पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इस पर भी सूर तथा उनकी कृतियों पर संक्षेप में विचार किया गया है। यद्यपि यह पहले एक लेख का स्वरूप लेकर पाठकों के सामने आया तत्पश्चात् उसी लेख की एक पुस्तिका का स्वरूप दे दिया गया। इसके बाद सन् १९४० में बाणभट्ट की रचना हुई जिसमें लिखने की पृष्ठ-भूमि ही अलग है। अभी उसी पर विचार करेंगे।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' लिखे जाने की कहानी भी अजीब है। आचार्य द्विवेदी जी ने एक बराह मूनि देखी थी जिसमें परम तेजोमय बराह नहीं-सी सलज्जा परिश्री का उद्धार कर रहे हैं। इस प्रतीक को उन्होंने चंद्रगुप्त, रामगुप्त स जोड़ा। दूसरे जब वे वी० ए० में रत्नावली पढ़ते थे तब विवादग्रस्त, मगलाचरण की लेकर उनका मन बाणभट्ट की ओर गया। तीसरे इसी बीच जब राहुल जी ने 'बोल्गा से गंगा' में बाणभट्ट को नाचगान, व्यसनी,

सपट तथा गठ अक्षिप्त किया ( यही बात श्रीहृष ने भी उसके वाक्य कही थी ) तो आचार्य जी ने इसी तथ्य को रोमांटिक तथा प्रतीनात्मक परिवेश देने के लिए राहुल जी के दो अध्यायों से अधिक चार पांच अध्यायों में बाणभट्ट की एक जीवनी लिखने तथा अंत में दीदी का पत्र छापने और हावलकत का अम्बरी भूमिका का खनन करने के लिए उक्त प्रेरणा मिली । उन्होंने इस उपन्यास के लिये नहीं लिखा था, किन्तु 'विशाल भारत' में पहली दो किस्तों के छपते ही सबसे पहले राहुल जी का प्रशामात्मक पत्र और फिर स्व० चतुरभन शास्त्री का पत्र मिला । फिर पांच अध्यायों में समाप्त किए जाने के लिए संकलित यह नावसट एक अप्रतिम उपन्यास बन गया ।<sup>१</sup>

बाणभट्ट एक ऐतिहासिक उपन्यास है । आजकल कई उपन्यास निकलते रहते हैं । फिर भी बाणभट्ट की कथा अधिकांश उपन्यासों से भिन्न है । यह निराला और अनूठा उपन्यास है । श्री गोवर्द्धन शर्मा एम० ए० ने बाणभट्ट की आत्मकथा के बारे में लिखा है कि सफल आलोचना बनने के लिए विश्लेषण की जिस सूक्ष्मता को पाना आवश्यक है वही आलोचनात्मक तत्त्व ( क्रिटिकल फॅक्टरी ) सभ्यता उपन्यास की सहृदयता में बाधा पहुँचा सकता है लेकिन द्विवेदी जी की आलोचनाओं और निबन्धों में पाठकों के हृदय की गुदगुदाने, सांस्कृतिक स्मृति को जगाने और बहा ले जान की जो शक्ति है, वही बाणभट्ट की आत्मकथा को सफल उपन्यास बना सकी है । द्विवेदी जी रचित इस आत्मकथा में तो कहीं इतिहास तत्त्व की अवहलना हुई है और न उपन्यास तत्त्व का बलिदान ही । इस रचना में कहीं भी वस्तुगत अस्वाभाविकता नहीं मिलती ।<sup>२</sup> इतिहास के अच्छे विद्वान् भगवन्तरण उपाध्याय सप्रयास ढूँढ़ने के बाद भी श्री द्विवेदी जी के ऐतिहासिक निरूपण में कहीं कोई छिद्र न पा सके । शैली भाषा, स्वाभाविकता, तत्कालीन समाज के चित्रण की दृष्टि से यह एक श्रेष्ठ उपन्यास भी है । 'बाणभट्ट की आत्मकथा' यह नाम ही पाठकों के हृदय में भ्रम उत्पन्न कर देता है । बाण की अन्य रचनाओं की भाँति इसका भी अचूरा होना बाण की दीर्घ प्रत्यक्ष मान अलङ्कृत भाषा शैली, तत्कालीन समाज व संस्कृति का सजीव उभरा हुआ चित्र, बाणभट्ट, हृषिकेश, कुमार कृष्ण वदन लोरिकदेव आदि ऐतिहासिक चरित्रों की अवतारणा और आत्मकथा की सहज स्वाभाविक विशेषताएँ भावुकता प्रवाहमय अभिव्यञ्जना सब इस भ्रम को पंगु करने में सहायक होते हैं कि बाण

१-उद्धृत धर्मयुग फरवरी १९६२ ।

२-साहित्य सदन दिसम्बर १९२४ ।

## जीवन और व्यक्तित्व

भट्ट की आत्मकथा शायद वास्तविक आत्मकथा का हिन्दी रूपांतर हो। सञ्चत के उद्भट विद्वान डा०शान्तिकुमार नानूराम व्यास भी एक बार इसी भ्रम में पड़ गये यह है द्विवेदी जी की प्रतिभा का चमत्कार। इसके साथ ही उन्होंने एक आस्टियन महिला केवरायन को मिली पाण्डुलिपि की कथा की मौलिक उदभावना करके इस भ्रम को अधिक दूर तक बढ़ा दिया है।

तत्पश्चात् 'नाथ संप्रदाय' का प्रकाशन सन १९५० में हुआ। भारतीय धर्म साधना के इतिहास में नाथ संप्रदाय बहुत महत्वपूर्ण संप्रदाय रहा है पर उसके बारे में पुस्तक लिखना बड़ा कठिन कार्य है। इस पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व ही डा० बडधवाल और राहुल सास्त्र्यायन ने यद्यपि योड़ा बहुत काम किया था, तो भी यह संप्रदाय एक प्रकार से उपेक्षित रहा है। शोधात्मक ग्रन्थों में इसकी गणना की जाती है। हिन्दी साहित्य में इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

अनेक पुस्तकों के अतिरिक्त द्विवेदी जी समय समय पर निबंध भी लिखते रहते हैं। ऐसे ही निबंधों का सग्रह अब तक कई निकल चुके हैं। द्विवेदी जी ने इन निबंधों में सञ्कृति, इतिहास, समाजशास्त्र, मनाविज्ञान आदि विविध विषयों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है जो एक तरह गवेषणात्मक तथा आलोचनात्मक कहे जा सकते हैं। जिनमें अशोक के फूल, विचार और चिंतक, हमारी साहित्यिक समस्याएँ आदि निबंध सग्रह क्रमशः सन १९४७, १९४९ एवं १९५० को निकले हैं।

इन निबंध सग्रहों के अलावा अनूदित ग्रंथ भी हैं जिन्हें इन्होंने शांतिनिकेतन में रहते समय तैयार किया था। द्विवेदी जी रवीन्द्रनाथ से बहुत प्रभावित हुए थे साथ ही बगला भाषा से भी। अनूदित ग्रंथ रवीन्द्रनाथ द्वारा लिखे और बगला भाषा के हैं। इनमें मेरा बचपन, लाल कनेर आदि, कई कविताएँ हैं। सञ्कृत से इन्होंने प्रबंध चिन्तामणि, पुरातन प्रबंध सग्रह आदि ग्रंथों का अनुवाद किया है जो इतिहास के पुनर्गठन के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं।

सन् १९५५ में 'भेषदूत' एक पुरानी कहानी भी लिखी है जिसकी भाषा सरल एवं प्रवाहमान है। उपयोग का स्थान भी रिक्त नहीं छोड़ा है। यद्यपि कहने के लिए उपयोग एक ही लिखा है पर उसके लिखने की शैली नवीनतम है जो पाठक को आकृष्ट किए बिना नहीं रहती, जिसका जिक्र हम ऊपर कर चुके हैं। इस प्रकार शांतिनिकेतन में रहकर अनेक स्वतंत्र पुस्तकें, अनेक निबंधों,

अनेक अनूदित पुस्तकों की रचना की है जो इनक यण रपी सौरभ को चतुर्दिक फलाने मे समय हैं ।

इनकी इस चतुर्दिक प्रतिभा को प० अमरनाथ जी या ने अच्छी तरह पहचाना और इ ही दिनो बिना आवेदन पत्र दिए ही उ हाने द्विवेदी जी को काशी विश्वविद्यालय हिन्दी विभाग के रीडर पद पर इनकी निपुक्ति कर दी । इस पद का इ हान अस्वीकार कर दिया । इस प्रकार शांतिनिकेतन म ही हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद को य बीस वर्षों तक सम्मान के साथ सुशोभित करते रहे । इसी बीच श्री गोविन्द मालवीय जी हिन्दू विश्वविद्यालय के नय कुलपति पद पर प्रतिष्ठित हुए । इ होने रिना आवेदन पत्र भेजे ही द्विवेदी जी को हिन्दी प्रोफेसर तथा हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रूप म नियुक्त कर दिया । ये बड़ों का दबाव न टाल सके और सन १९५० से १९६० तक वे इसी पद पर रहे । यहाँ रहकर भी आप साहित्य की निरन्तर सेवा करते रहे । इसी सदभ म उन दिना लिखी पुस्तका पर विचार कर लना ज्यादा उचित मानूम होता है ।

सन १९५० में साहित्य का साथी' नामक पुस्तक की रचना की थी जो विद्यार्थियों को ध्यान म रखकर लिखी गयी है, इस दृष्टि स बहुत ही उपयोगी एवं पानवद्धक है । समिति की उपाधि परीक्षाओं (कोविद तथा रत्न) क विद्यार्थियों को एक ऐसी पुस्तक की कमी अनुभव की जा रही थी जिसके द्वारा विद्यार्थियों को साहित्य के विभिन्न अङ्गों की जानकारी मिल सके । इसी जानकारी के लिए इस पुस्तक की रचना हुई और यह पुस्तक गुजरात विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षाओं म मन् १९५८ १९६० तथा उस्मानिया विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा म सन १९५८ ५९ के लिए स्वोक्ति की गई थी । अब तक इसक चार संस्करण निकल चुके हैं । साहित्य के विभिन्न अङ्गों पर साहित्य का साथी पूण प्रकाश डालता है । 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह भाषण विहार रास्टभाषा परिषद के दूसरे वष की भाषणमाला का प्रथम ग्रन्थान है जो १३ मार्च १९५२ ई० मे पटना म परिषद क तत्वावधान म हुआ था । यह एक गोधग्रय है । जिन विषयों को पूव इतिहासकारा न उपेक्षित एवं सदेहास्पद कहकर प्रकाश म लाने की कोशिश न की एम काल का लेकर विस्तार से विचार किया गया है । पाठ व्याख्यानों का यह सग्रह आत्काल क सम्बन्ध म काफी प्रकाश हातन म समय है । इसक सम्बन्ध में अनेक विद्वानों की सम्मतिपा निकली हैं जो निम्न प्रकार हैं—डा० अमरनाथ या न 'हिन्दी साहित्य का आत्काल पर अपने विचार अभियक्त करत हुए कहा है कि 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' बड़े मूल्य की वस्तु है ।

हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक समय का इसमें बहुत ही सुन्दर दिग्दर्शन है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का मत भी द्रष्टव्य है। निरसदेह यह पुस्तक अमूल्य है। वास्तव में यह हिन्दी साहित्य की उत्पत्ति और विकास पर विषय प्रकाश डालती है। इसमें शोध सम्बन्धी विद्वान अत्यधिक लाभान्वित होंगे। डा० धीरेन्द्र वर्मा का मन ध्यान रखने योग्य है 'हिन्दी साहित्य के आदिकाल' के सम्बन्ध में इसमें बहुत सी नवीन सामग्री है। प० रामनरेश त्रिपाठी जी का मत इस प्रकार है। "इस पुस्तक में लेखक की सूक्ष्म विवेचना शक्ति और ऐतिहासिक गवेषणा के प्रमाण मिलते हैं। यह पुस्तक हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक इतिहास के जिनासुओं के लिए बड़ी ही उपयोगी है।"

इसके पश्चात् 'हिन्दी साहित्य' सन १९५३ में प्रकाशन में आया। इस ग्रन्थ में साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों और महत्वपूर्ण वाह्य रूपों के मूल और वास्तविक स्वरूप का परिचय देने की चेष्टा की गई है। यद्यपि यह पुस्तक भी विद्याधिया को ध्यान में रख कर लिखी गई है। फिर भी अथ इतिहासों से कम महत्त्व नहीं रखती। सन १९५४ में 'साहित्य का मर्म' जो लखनऊ विश्व-विद्यालय में दिये गये तीन व्याख्यानो का संग्रह है - प्रकाश में आया। इसमें भारतीय समीक्षा मित्रात रम, एवं काव्य रूपों आदि पर विचार प्रकट किया गया है।

उपयुक्त स्वतंत्र ग्रन्थों के आलावा अनेक फुटकर निबंध भी लिखे हैं, व्याख्यान भी दिये हैं और ग्रन्थों का संपादन भी किया है। निबंध संग्रह जैसे कल्पलता का स० २००८ में प्रथम प्रकाशन हुआ और दूसरा संस्करण स० २०१२ में निकला। दूसरा निबंध एवं भाषण संग्रह 'विचार प्रवाह' है जो प्रथम बार जुलाई १९५६ में पाठकों के समक्ष आया। यद्यपि इसके कुछ लेख व भाषण पत्र पत्रिकाओं में छप चुके थे पर पुस्तक के रूप में सन् १९५६ में ही सामने आया। निबंध संग्रहों के अतिरिक्त कई ग्रन्थों का सम्पादन भी किया है। इन सम्पादित ग्रन्थों में सबसे प्रथम ग्रन्थ 'सदेव रासक' है जिसका सम्पादन काय १९६० में हुआ है। इसकी प्रस्तावना में द्विवेदी जी ने लिखा है। अनेक स्रोतों के पश्चात् इनकी प्रतिपादा का पता लगाकर उनका हवाला इसमें स्पष्ट रूप से दिया गया है। इसका सम्पादन अपने दिव्य श्री विश्वनाथ त्रिपाठी (लेखकर के० एम० कालज, दिल्ली) के साथ किया है। अन्य एक ग्रन्थ 'पद्मीराज रासो' का संपादन सशोधित संस्करण ई० १९५७ में निकला है। इसका सम्पादन द्विवेदी जी ने नामवर सिंह के साथ किया है। इसकी भूमिका हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने लिखी है तीसरा सम्पादित ग्रन्थ 'नाथसिद्धा की वाणियाँ' है जिसका

सम्पादन स० २०१४ म हुआ। इनम चौबीस नायमिदा की रचनाएँ सम्पादित हैं।

आजकल द्विवेदी जी पञ्जाब युनिवर्सिटी चण्डीगढ़ के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष एवं प्रोफेसर से पद को सुगोभित कर रहे हैं। उनकी विद्वता और अध्ययनशीलता से मुग्ध हो १९४७ ई० म हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने अपने कराची अधिवेशन मे साहित्य परिषद का अध्यक्ष निर्वाचन किया। १९४९ ई० मे लखनऊ विश्वविद्यालय ने उहे टाक्टर आफ लिटरेचर की आनरेरी उपाधि से विभूषित किया।

द्विवेदी जी आजकल पञ्जाब विश्वविद्यालय चण्डी गड के हिन्दी अध्यापक व पद पर प्रतिष्ठित हैं। आज व एक कुशल अध्यापक और शिष्याविन् होने के साथ ही साथ कई भाषाज्ञ के ममन और प्रकाण्ड विद्वान तथा कुशल गवकार है। उनकी रचनाएँ आज हिन्दी जगत म अपना विश्व स्थान रखती हैं। उनके 'सूर साहित्य को साहित्य समिति, इन्दौर न स्वर्णपत्रक म समाप्त किया है। इसी प्रकार उनके 'वीर पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन न उहे अपना मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्रदान किया है। वाणभट्ट की आत्मन्या पर नागरी प्रचारिणी सभा न 'महावीर प्रसाद द्विवेदी स्वर्णपदक देकर सम्मानित किया। भारत सरकार न पद्मभूषण देकर उहे सम्मानित किया है। सन १९६१ म रवीन्द्र गान्धी के अवसर पर साहित्य अकादेमी (नई दिल्ली) ने उहे डार्ड हजार रुपय का पुरस्कार दिया। द्विवेदी जी ने पुरस्कार की पूरी रकम पञ्जाब विश्वविद्यालय को दे दी। इसम द्विवेदी जी के कुछ आय मद के धन का मिला कर पञ्जाब विश्वविद्यालय प्रति वर्ष भारतवर्ष की भाषनापक एकता पर सचश्रेष्ठ निवृध लिखन वाले विद्यार्थी को उपाधि वितरण उत्सव व अवसर पर हजारी प्रसाद द्विवेदी स्मरण पत्रक' दिया करता है। सन १९६२ क अक्टूबर महीन म भारत सरकार ने उहे इस म एक सांस्कृतिक गिण्टमण्डल के सन्स्य के रूप म भेजा।

चण्डीगढ़ म द्विवेदी जी न 'लालित्य मीमासा सन् १९६२ म लिखा है जो अभी प्रेम म है। दूसरा भारतीय नाट्य परम्परा और रणरूपक जिसकी टा० हजारी प्रसाद द्विवेदी और श्री पद्मवीनाथ द्विवेदी न मिलकर सम्पादन किया है, प्रेम म है। इसके अनिरिक्त आजकल एक ग्रंथ 'चारुचंद्रलक्ष लिख रहे हैं जिसम अभी तीस अध्याय निध या प्रकाशित हा चुक है। इस ग्रंथ का उद्देश्य, मध्यकालीन साधनाया का प्रकट करना या जिसम चारुचंद्रलक्ष सिद्ध

प्राप्त करने अपनी कहानी प्रथम पुरुष में कहती है, 'तामन प्रेम साधना में निम्न, कुंठादि का प्रतीक होकर अपनी कहानी मध्य पुरुष में कहता है वही राजा प्रेम साधना के पूर्व विश्वास का प्रतीक हाकर अपनी कहानी 'उत्तम पुरुष' में कहता है।'

इसके अलावा इन्होंने प्रारम्भ में अनेक छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ लिखी हैं। जस मता का सूक्ष्मवेद्य, अवध में का रमात्मक साहित्य' कालिदास द्वारा प्रयुक्त प्रसाधन सामग्री रवीन्द्रनाथ को कवितायें हैं। इस प्रकार यह हिन्दी की सेवा सन १९३० में आजनक अनवरत रूप में करत आ रहे हैं। इसके अलावा इनकी कई कविताएँ लिखी हैं एक कविना मकेच भी मिलता है। यद्यपि लिखते समय कविता लिखने का उद्देश्य न था पर लिख गये कविता - अथ उस गद्य रूप कविता का जवलाकन करें।

"एक सहृदय मित्र ने पछा कि तुम क्या जानते हो कवि भवानी मिश्र को, जिसकी कविता हुआ करती अमाधारण मगर पत्र बहुत सामान्य, जवा एसी कि हर झूठे गली के लोग समझें अथ एमी कि भारी ठूठ - बोडम रीत जायें और वाती वात में यात निकल आये फरीरा की, बनी की, पीर मुर्शिद की। स्मरण आया कि हाँ, मैं जानता हूँ एक फकरत राम का जो नाम ऐसा ही बताता है, मगर वह मरत मुन्दर आदमी है, और यह कह रह, 'कवि है' अजब हैरान हूँ क्या मस्त मौना लाग ही कवि कहे जात हैं यहाँ पर।

माचकर मैंने कहा - भाई, जरा हुलिया बताओ वेश क्या है, सबूत क्या कि वेश क्या? बताया है मयौना बंद, सदरिया एक घोती, एक कृति बस मही है वेश। सीधी का चमकता एक माती है कि फेरी में बटो है उम्र, रहता कभी बर्षा, कभी राखे, कभी उत्तर, कभी दक्खिन कभी पूरव, कभी पश्चिम, पैर में बांधे तनीचर, गा न सक्ता, रो न सक्ता, मगर कुछ कुछ सिखा सक्ता, भटकतो को मही रास्ता दिखा सकता और कुछ लिख लिखा सक्ता, यह गरम अकवाह है यह कवि प्रयागी हा नहीं मक्ता ज्वाचित् योग न विभ्रवन योगी है, वियागी स नही हरगिज।

मुझे रिलकुप नहीं पार रह गया यह मिश्र जी है और कोई नहीं 'बस मेरे विज्ञान के मुलकत राम ही हैं। याद आयी मैंन्डा घातें बुदल मिश्र जो की वोन उनक है कि धरती में मट ही मरफत है मगर कुछ जव छो- दो तो नाग से फुफकार उठते हैं—पग का रूप देने ही बने हैं। हवा में या उठा करते व कि



जैसे बाज पक्षे छोड़ उड़ता है मगर है देखता रहता धरिणी को झपटना फिर अचानक दखकर आखेट वाछित, चला जाता है वहाँ फिर आसमा म ओर पक्षे खोल बहता है कि गोया कुछ हुआ ही नहीं ।

क्या वह आदमी कवि हो गया है ।

याद आया आत्मी यह शहर म प्राय भटक जाता रहा पाता न रास्ता खोज । शायद फिर विचारा भटक कर कविया गया है । हाय, वह भोला परेशानी भरे जाने कहीं है, पूछता फिरता कहा उनचास नम्बर है, गली का नाम जो पूछो, मगज खजला रहा है ।

सच बताऊँ मित्र, भाला मिथ सुन्दर गद्य है, चबल मनोहर सरस सङ्गत गद्य, ऐसा गद्य जो है लोचवाला, तजवाला, जरा कुछ झुक जाय ता उस मजवाला जिस दुनिया छ द कहती है । विचारा क्या अजब जो इस तरफ भी भटक जाये ।

सच बताओ मित्र, क्या तुमन सुना वह पन तिनो किस ओर है ? मैं जानता हूँ सहज जन वह है हृत्प्य के अतल से निस्सत अकृत्रिम प्रेमवाला गील मृदुता सरलता स खचित मणिमय हमवाला, जरा कुछ झुक जाय तो वह सरस योग क्षेमवाला जिस दुनिया कवि कहा करती । विचारा क्या अजब वह इस तरफ भी भटक जाए ।

## स्वभाव और व्यक्तित्व

द्विवेदी जी का जीवन बड़ा सरल है, कृत्रिमता का आभास तक नहीं मिल पाता इनका सरल, सहज स्वभाव बड़ा ही आकषक है । सात्मी के अवतार हैं मानों । हमशा खदर का कुत्ता और घाती पहने हुए कंधे पर लापरवाही से भागलपुरी चादर डाले हुए जब व बठते हैं उस समय उनका एक पाव चितन की की धारी म हमगा तरगित होना रहता है । व बातचीत के सिलसिले म तरह तरह के विनोद करते रहते हैं ठट्ठहाकर हमना मानो उनम सरल एव निष्कपट स्वभाव का प्रतीक है । बड स्पष्ट भाषी हैं । ऐसा लगता है अपनी हसी के बीच वे इस दुनियाँ को चिना को ही भूल जात हैं । उनका दृष्टिकोण एकांगी नहीं, वे कमा अपन दृष्टिकाण का दूसरा पर रखकर नहीं परसत । उनका कहना है सब लोगों का दृष्टिकाण भिन्न भिन्न हाता है । भारतीय दृष्टिकोण अलग है और पश्चिमी दृष्टिकाण अलग । हम यह नहीं कह सकते कि यही ठीक है और वही ठीक है । जपन अपन दस की संहति क अनुसार रीतिरिवाज का

निर्माण हाता है। हम उनके बात-चीत के सिलसिले में उपयुक्त बातों को अच्छी तरह पा सकते हैं। समुचित दृष्टिकोण के द्वारा किसी देश की संस्कृति को माप दंड बनाकर दूसरे देश की संस्कृति को नहीं परखना चाहिए। बड़ दृष्टिकोण एकांगी दृष्टिकोण बनकर रह जायगा। उनकी इस विशालदृष्टि ने गिरती हुई मानव जाति को उठाने की प्रेरणा दी। इसी मानवतावादी दृष्टिकोण एवं स्वभाव के कारण शीघ्र ही पाठक व श्रोता से आत्मीय संबंध स्थापित हो जाता है।

उच्च आदर्शों को अपने जीवन में महत्व देते हैं इसीलिए इनको महात्मा गांधी एवं कबीर रबीन्द्र से इतनी भक्ति व श्रद्धा है। परिश्रम करने से कभी नहीं डरते। इसी परिश्रम के द्वारा उन्होंने अपने जीवन को आज इस रूप में परिवर्तित कर लिया है। प्रातः ४ बजे उठकर अपने आवश्यक कार्यों से निवृत्त हो दो तीन घंटा पढ़ना तो मानों इनका अनिवार्य नियम सा बन गया है। ये बड़े उदार स्वभाव के हैं। सरस्वती तो उन पर खुश हैं पर लक्ष्मी भी प्रसन्न रहती हैं। किसी को कोई पस्तु दान के पश्चात् देने का ध्यान ही नहीं रहता। हमेशा सादगी को अपनाने वाले हैं।

## सामाजिक सम्पर्क

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के स्वभाव में सामाजिकता और विनय भावना इतनी विशिष्ट रूप में पायी जाती है और वे स्वतः एक ऐसे प्रभावशाली वक्ता हैं कि साहित्यिक क्षेत्र के अतिरिक्त सावजनिक क्षेत्रों में भी उनकी अवाय गति रही है। किसी भी विषय पर किसी भी समय में वे उत्तम प्रकार की वक्ता दे सकते हैं, इसके कारण भिन्न भिन्न प्रकार की संस्थाएँ उनको प्रायः बुलाया करती हैं। कुछ लोगों ने उनके इस मनोभाव को दल कर उन्हें किसी केन्द्रीय और परिनिष्ठित विचारधारा का उपायक मान कर उन्हें धुरीहीन साहित्य की सत्ता दी थी इस संबंध में श्री घमवीर भारती का वक्तव्य हमारे सामने है। परंतु जिस व्यक्ति ने अपने विचारों का अपनी स्पष्टता के साथ इतना विशद् रूप में व्यक्त किया है उसे धुरीहीन कहना आरोपकर्ता की एकाकी धारणा का ही परिचायक है। द्विवेदी जी जब साहित्य में लोक जीवन के कथिषा का महत्व प्रदर्शित कर चुके हैं और स्वयं एक उदार मानवतावादी भावना के व्यक्ति हैं तब आधुनिक जीवों के प्रगतिशील तत्त्वों का पग लेना उनके लिए स्वाभाविक है। जब जब लेखकों की विचारधारा अथवा उनकी किसी विशेष समस्या का प्रश्न आया है तब तब द्विवेदी जी के प्रगतिशील शक्तियों का हिसाब दिया है। अपने साहित्यिक निबंधों में उन्होंने प्रेमचंद जी

को जो महत्व प्रदान किया गया है उससे उनकी सामाजिक दृष्टि का अच्छी तरह परिचय मिल जाता है। अनएव केवल निम्न निम्न सभाओं में जाकर अपनी धारणा कहने के अधिकार का उपयोग करने के कारण उनको धुरी ही कहना सगन जान पड़ता है।

द्विवेदी जी साहित्यिक क्षेत्र के बाहर एक अविरोधी दृष्टि रखते हैं और साहित्य में भी प्रत्येक नये आन्दोलन में कुछ न कुछ सायकता देखने हैं जिस किसी व्यक्ति में उह प्रतिभा दिखाई देने की है उसकी प्रशंसा करने में वे नहीं हिचकते यही कारण है जनकानन्द नय लखका को उनका आशीर्वाद और उनकी आशंसा प्राप्त हुई है परन्तु इसका यह आशय नहीं कि वे विभिन्न प्रतिभाओं की तुलनात्मक स्थिति का ध्यान नहीं रखते। विभिन्न लखकों की विभिन्न पुस्तकों की भूमिका व प्रशंसा पत्रों पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अपने मूल विचारों को टाबाडाल नहीं होने देते। उनकी प्रशंसाओं में भी विभिन्न प्रकार की 'योजनाएँ' रखा करनी है। कवि के अनुरूप स्तर पर ही व सम्मति या आशंसा देते रहते हैं। द्विवेदी जी इस प्रकार की सम्मति या और भूमिकाओं में विनक्षण प्रकार का सन्तुलन रखा करता है जिससे समझना सबके लिए सम्भव नहीं। उनके एक वक्तव्यो का गहराई से देखने और समझने की आवश्यकता है।

द्विवेदी जी या तो ज्योतिषाचार्य होने के कारण उक्त विद्या में काफी निष्णात हैं परन्तु ज्योतिष की वैज्ञानिकता के सम्बन्ध में उनका स्पष्ट मत भी उनके वार में यक्त हुआ है। जब हूपार प्रधान मंत्री ने ज्योतिष विद्या की वैज्ञानिकता पर सन्देह प्रकट किया और जनता को यह चेतावनी दी कि उन पर जास में दखल विश्वास न करें तब आचार्य द्विवेदी जी ने भी अपनी अनौपचारिक वक्तव्यों में उनका समर्थन किया था। इससे यह सिद्ध होता है कि द्विवेदी जी किसी प्रकार के अंधविश्वास से अपना नाता नहीं जोड़ते। ज्योतिषों के पंडित हान रूप भी ज्योतिष विद्या पर उनकी अपूर्ण आस्था इस धारणा का प्रमाण है।

द्विवेदी जी प्रत्येक प्रकार के भाग्यवाद या नियतिवाद के विरोधी हैं। भारतीय इतिहास में नियतिवादी धारणाएँ इतनी बलमूल हो गई थी कि उनको जनता के मस्तिष्क में दूर करना एक महान अभियान बन गया है। जो कुछ निश्चय है वही हागा अवकाश में जम पिड़ने जम में किया है उसका उसी प्रकार का फल मिलना एसी धारणा में द्विवेदी जी के विचारों के विरोध में पड़ते हैं। रबीन्द्रनाथ के मरण के कारण द्विवेदी जी नवीन विचारों और जीवन दृष्टियों के एकात्म समाज हैं। और उनके साथ किया भी पौराणिक या गता-

न्यायिक विचार प्रभाव नहीं रतना । व सच्चे अर्थों में बुद्धिवादी विचारक हैं ।

ऊपर हम द्विवेदी जी की विनयशीलता का उल्लेख कर चुके हैं । विनयशीलता के कारण उनके प्रति सभी का आकर्षण रहता है । उच्चतर होना में उनका सपना उनके अथ गुणों के साथ उनकी विनयशीलता के कारण हो गया है । उनके बगान प्रवास में जनक बगदगीय विद्वानों में उनका मक हुआ है । गानिनिकेतन में सी० एम० एड्जुज जैम—अंतराष्ट्रीय स्थापित प्राप्त व्यक्तियों में भी उनका सम्बन्ध रहा है । नेहरू जी की कथा इतिहास गानो गानिनिकेतन में विद्याभ्यास करती हुई द्विवेदी जी के सपना में आयी थी । और अब भी उनका उसी प्रकार सम्मान करती हैं । द्विवेदी जी के वैयक्तिक गीत विचार के कारण आचार्य नरेंद्रदत्त और जयप्रकाश नारायण जैसे लोगों से भी उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है । इससे अतिरिक्त उनकी राष्ट्रीयता और हिंदी सम्बन्धी बापों के कारण राष्ट्रपति राजे द्रप्रसाद और पुष्पात्तमनास टंडा जी भी उनका प्रति सदागम रहे हैं । केन्द्रीय मन्त्रीमण्डल के भी हुमाय कवीर द्विवेदी जी से स्नेह सम्बन्ध रखते हैं । इन अतिरिक्त देश भर में द्विवेदी जी के अनेक मित्र और स्नेह भी प्राप्त होते हैं ।

शिक्षा के क्षेत्र में द्विवेदी जी न जा प्रगति की है उसमें भी उनका वैयक्तिक उत्थान उनकी योग्यता का आग्रह उनके वैयक्तिक गुणों का आग्रह पर ही हुआ है । गानिनिकेतन में उनका प्रवास उस स्थिति में हुआ था जब व उत्तर प्रदेश का साधारण सहायक पठित थे । महत्मा उनकी ओर लागे की दृष्टि इत्यन्त गहरी थी कि वे एक अतिगम्य सहृदय, मज्जुन और विनीत व्यक्ति थे । गानिनिकेतन में उनका स्थिर होकर रहना भी उनके वैयक्तिक गुणों का परिणाम है । उनके पास अग्रणी की कोई उपाधि नहीं थी फिर भी अपनी योग्यता और लगन का कारण उन्होंने अपने अध्यापिका का धराधर सन्तुष्ट रखकर और गानिनिकेतन के पारिवारिक सदस्य बन गये ।

इस समय उनका स्थानांतरण गानिनिकेतन से काशी विश्वविद्यालय का हुआ उस समय विश्वविद्यालय में पञ्चमीयों बापों के अत्यापक और पठित भी हिंदी विभाग में उपस्थित थे । स्वभावतः अपने ऊपर किसी व्यक्ति का आना उन्हें पसंद न था । इसके कुछ पूर्व ही द्विवेदी जी को 'मानदेरी टाक्टरेट' की उपाधि मिल चुकी थी अथवा उनके पास किसी प्रकार की उपयुक्त उपाधि न थी और काशी विश्वविद्यालय में कुछ उपाधि धारो लागे की अभी न थी । वैसी स्थिति में द्विवेदी जी की सर्वोच्च प्रोफेसर पद की नियुक्ति उनके सामाजिक व्यक्ति का ही परिणाम था । इस पद पर पहुँचकर उन्होंने अपने साधिका के साथ सदैव

सद-यवहार करने की पद्धति अपनायी थी। अपने सह अध्यापकों को वे पूरे अधिकार और पूरा सम्मान दिया करते थे। इतने पर भी थोड़ा बहुत असनोप बना ही रहा। परन्तु इसके कारण काशी विश्वविद्यालय हिन्दी विभाग में अध्यापन एवं शोध काम सम्बन्धी विशेष नहीं आने पाया और नियमित रूप से सारा काय चलता रहा। यहाँ आकर द्विवेदी जी ने अपने कतिपय गिण्टियों को शोधकाम के लिये प्राचीन साहित्य सम्बन्धी अनेक विषय दिये जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी साहित्य के इतिहास के अनेक अपरिचित पक्ष प्रकाश में आये द्विवेदी जी के तत्वाधान में जितने शोध प्रबन्ध प्रकाशित हुए उन पर द्विवेदी जी के निजी विचारों, दृष्टियाँ और पान की छाया है। इस प्रकार द्विवेदी जी एक सफल निर्देशक तो रहे ही हैं उनके समय में दूसरे प्राध्यापकों के निरीक्षण और निर्देशन में बहुत ही सतोप जनक काय हुआ। इसे हम द्विवेदी जी के व्यक्तित्व के गुणों का ही परिणाम कह सकते हैं।

काशी में रहते हुए आचार्य द्विवेदी जी ने नागरी प्रचारिणी सभा के उपाध्यक्ष और कायकारी अध्यक्ष का पदवी भी ग्रहण किया था। इस समय सभा के प्रधान मंत्री डा० राजबली पाण्डेय जी थे। यद्यपि दोनों का व्यक्तित्व अशत भिन्न प्रकार का था। पर दोनों ने मिलकर अनेक उल्लेखनीय काय किये। नागरी प्रचारिणी सभा को केन्द्रीय शासन द्वारा हिन्दी विश्वकोष और हिन्दी का बहुत इतिहास संग्रह, सोलह भागों में प्रस्तुत करने के निमित्त कुणकल सहायता प्राप्त हुई। इस काम का का बहुत दूर तक संचालन द्विवेदी जी और पाण्डेय जी के सम्मिलित प्रयास द्वारा संपन्न हुआ।

काशी विश्वविद्यालय में यद्यपि द्विवेदी जी का सम्मान अक्षुण्ण था परन्तु वहाँ की व्यवस्था ने एक ऐमा अप्रत्याहित मोड़ लिया कि द्विवेदी जी को वह स्थान छोड़ना पड़ा। परन्तु एक बार स्थान छोड़ दान पर द्विवेदी जी ने उस ओर कभी साककर भी नहीं देखा। अन्य अध्यापक भी इसी समय पदच्छिन किये गये थे वयो तक मकहूम और अत में उनकी विजय भी हुई परन्तु द्विवेदी जी इस झगड़े में पड़ना ठीक नहीं समझते थे। उनके जैसे साहित्यिक और अपने काम से काम रखने वाले व्यक्ति का इस प्रकार के सघर्षों में पड़ना स्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता। कुछ लोगों के विचार में यह द्विवेदी जी का कच्चापन हो सकता है परन्तु अपनी प्रकृति के अनुरूप उन्होंने इस टीका टिप्पणी की भी अधिक चिन्ता नहीं की।

केन्द्रीय सरकार के जिन मूत्रों से काशी विश्वविद्यालय में इस प्रकार की हलचल हुई थी जिसके परिणामस्वरूप द्विवेदी जी के साथ अनेक वरिष्ठ

अपना पदच्युत कर लिये गये थे उन्ही सूत्रा के महयोग से आचार्य द्विवेदी जी को चर्चीगढ़ के पञ्जाब विश्वविद्यालय में प्राफेसर और अध्यक्ष का पद प्राप्त हुआ विलक्षण बान यह है कि उन समय पञ्जाब विश्वविद्यालय की आर से जो स्थान विनाशित हुए थे उनमें द्विवेदी जी के प्राफेसर का उल्लेख नहीं था। सामान्य वैसे स्थिति में एक भिन्न प्राणीय व्यक्ति को एक अविनाशित पद पर नियुक्त कर देना विश्वविद्यालय का भी कठिन था। परन्तु यह द्विवेदी जी के पाण्डित्य के साथ साथ उनकी व्यवहार कुशलता ही थी कि उनके कारण यह अमभावित कार्य भी सम्भव हुआ।

पञ्जाब विश्वविद्यालय चर्चीगढ़ में पहुँच कर द्विवेदी जी ने विभाग का संयोजन बड़ी कुशलतापूर्वक किया है। उनके सहयोगियों का स्नेह और सम्मान उन्हें परिपूर्ण रूप में प्राप्त था। पञ्जाब सामान्य बीरो का प्रदेश है। काव्य और कला मन्त्र थी अभिप्रेक्षा वहा सातिनिवेनन वा काशी जैसी नहीं थी परन्तु द्विवेदी जी के जाने ही चर्चीगढ़ विश्वविद्यालय द्विवेदी जी का एन समुद्र केन्द्र बनता जा रहा है और द्विवेदी जी के तत्वावधान में उच्चतर अध्यापन और शोध की सुचारु परम्परा बननी जा रही है।

द्विवेदी जी का सर्वत्र भारतवर्ष के अनकानक विश्वविद्यालयों में किसी न किसी प्रकार बना हुआ है। वे उन्ही विभिन्न समितियों के सदस्य हैं। इससे अनिरक्त वे कन्द्रीय सरकार की गतेकानक योजनाओं की पूर्ण में सहयोग देते रहते हैं। कन्द्रीय मस्थायित साहित्य एक्डेमी में वे सदस्य हैं। और उनकी द्विवेदी भाषा की प्रवचन समिति में भी सक्रिय समामद है। जब से भारतवर्ष स्वतन्त्र हुआ तब से शास्त्रीय माध्यम में साहित्यिक विनाश का अनकानक फाय होते रहते हैं उनमें द्विवेदी जी का योगदान उल्लेखनीय है। जिस किसी कार्य का वे अपने हाथ में लेते हैं उस पूरा करने का उन्हें ध्यान रहता है। उनके समय का पर्याप्त अण इन कार्यों में अधिवाहित होता है।

द्विवेदी जी की साहित्यिक प्रवृत्ति उनकी सामाजिक साथ ही उनके राष्ट्रीयता वाली विचारा से परिचित होकर कुछ वर्ष पूर्व राष्ट्रपति ने उन्हें पद्म भूषण उपाधि में विभूषित किया था। यद्यपि उनकी यह उपाधि सदैव सुयोग्य व्यक्तियों को ही नहीं दी जाती परन्तु आचार्य द्विवेदी जी को यह उपाधि उनकी राष्ट्रीय सेवाओं के उचित पारितोषिक रूप में दिया गया। खेद की बात है यह राष्ट्रपति नगरदेश की आर से द्विवेदी जी को जो सम्मानित उपाधि थी थी उसमें कुछ ही समय पश्चात काशी विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने उन्हें अपना विश्व-

विद्यालय से पृथक कर दिया। यह उक्त विश्वविद्यालय की व्यवस्था के स्वरूप पर आशका उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं परन्तु और भी छेद है कि केन्द्रीय शासन ने इस अनाकाक्षित घटना का कोई प्रतिवाद नहीं किया। किसी भी दूसरे देश में इस प्रकार का व्यतिरेक क्षम्य नहीं होता। परन्तु भारतवर्ष की नवीन जनतांत्रिक जनता अभी इतनी पृष्ठ नहीं हो पाई है कि ऐसी घटनाओं सुनने को न मिले।

ऊपर द्विवेदी जी के सावजनिक, शक्षणिक और साहित्यिक क्षेत्रों के कार्यों का जो सक्षिप्त विवरण दिया गया है इससे उनके श्रेष्ठ व्यक्तित्व और उपलब्धि का कुछ परिचय मिल जाता है परन्तु व्यक्ति रूप में द्विवेदी जी और भी अधिक विशिष्ट अपने मित्रों और माथियों के प्रति उनका सौजन्य पूर्व व्यवहार तो प्रसिद्ध ही है परन्तु अपने स छोटे साथियों और शिष्यों के प्रति उनका बड़ा ही शिष्ट और सहृदय व्यवहार रहता है। यही कारण है कि द्विवेदी जी के प्रति हिन्दी के असंख्य विद्यार्थियों और विद्वानों का समान रूप से सम्मान और सौहार्द है।

द्विवेदी जी की बान चीत में अपूर्व विनोद की क्षमता रहा करती है। जब वे कोई बात कहते हैं जिसमें प्रच्युत हास्य निर्मित रहता है, तब सुनने वाला यदि नहीं हसता तो वे स्वयं अट्टहासपूर्वक हस पड़ते हैं जिसके परिणाम स्वरूप थोटा मण्डनी को भी उनका साथ देना पड़ता है। जिस किसी गोष्ठी में द्विवेदी जी पहुँच जाते हैं वहाँ प्रायः हसी का ताता नग जाना है और गभीर से गभीर व्यक्ति भी हसी रोक नहीं पाता। परन्तु इसका यह आनन्द नहीं कि द्विवेदी जी पूरे हसो हैं। गभीरता के अवसर पर वे यथेष्ट गभीर भी रहते हैं परन्तु उनकी प्रकृति में विनोद का गुण विशेष मात्रा में उपस्थित है। जो उनमें व्यक्तित्व को आकर्षक और अभीप्सित बनाने में सदैव सहायक होना है।

द्विवेदी जी की भाषण शली बड़ी राधक होती है। भाषणों में उनकी मूल प्रवृत्ति भावात्मक रहा करती है। परन्तु वह भावात्मकता विचारों से उच्छिन्न नहीं होती। सामान्य मानसिक स्तर पर बड़े हुए थोताओं को अपनी ओरसखी वक्तव्यता द्वारा त्रमश भावोद्बलन की भूमिका पर ले जाने की क्षमता द्विवेदी जी के भाषणों में होती है। वे अपनी वक्तव्यताओं में छोटे छोटे आख्यानों और छुटकूलों का भी उपयोग करत रहते हैं जिसके कारण रोचकता बढ़ जाती है और विषय हृदयगम हो जाता है। बीच बीच में द्विवेदी जी गुरुदेव रवीन्द्रनाथ का नाम भी ले लत हैं। और उनमें सर्वाघत किसी संस्मरण का उल्लेख कर

दते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि रवि दावू की वाणी में और उनके विचारों में अद्भुत आकषण रहा करता है। उन सस्मरणा को सुनाकर द्विवेदी जी श्रोतामण्डली को मुग्ध कर देते हैं। यद्यपि उनके व्याख्यानों में भावनात्मक पक्ष की प्रधानता रहती है परन्तु उनके ससृष्ट हिन्दी साहित्य के गभीर अध्ययन की भी छाया रहा करती है। यदा कदा द्विवेदी जी प्राचीनतम और आगम ग्रन्थों के आधार पर भी साहित्य के सैद्धांतिक विवेचन किया करते हैं।

इन दिनों द्विवेदी जी लालित्य मीमांसा नामक एक कला शास्त्रीय ग्रन्थ लिखने में सलग्न हैं। भारतीय कला शास्त्र के कूट विवेचन अग्नेजी और बगला आदि के माध्यम से तो उपलब्ध हैं परन्तु हिन्दी में मौखिक शास्त्र पर अभी अधिक सामग्री नहीं पायी जाती। द्विवेदी जी जैसे प्राचीन साहित्य के विद्वान और बहुश्रुत व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि उनका लालित्य मीमांसा ग्रन्थ हिन्दी साहित्य को उनकी मूल्यवान देन होगा। वर्तमान समय में पश्चिम के सौन्दर्यशास्त्र को आधार बनाकर विश्वविद्यालयों में अधिकांश विवेचन किया जाता है। इस नवीन ग्रन्थ के प्रकाशित होने पर बहुत संभव है कि भारतीय सौन्दर्याग्रन्थ की कोई सम्बद्ध रूपरेखा हमारे समक्ष आ सकेगी। ऐसा होने पर भारतीय विद्यार्थियों का अपने देश के एक ऐसे गभीर विवेचन का परिचय मिलेगा जिसकी अब तक कुछ छुटपुट प्रकरण ही हमें पाठ हैं।

## अध्ययन का क्षेत्र

यद्यपि आरम्भ में द्विवेदी जी ज्यामिति के विद्यार्थी रह चुके हैं परन्तु इस विषय के साथ उनका कोई स्थायी सम्बन्ध निमित्त नहीं हो पाया। जान पड़ता है कि अपने अभिभावकों के आशेष में ही उन्होंने यह विषय अध्ययनाय लिया था। इसके साथ उनकी आंतरिक अभिरुचियों का अधिक योग नहीं था यही कारण है कि ज्यामितिपाठ्याय की परीक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात् उन्होंने इस विषय में कुछ भी नहीं लिखा।

द्विवेदी जी का वास्तविक अध्ययन क्षेत्र साहित्यिक सीमा में आता है। यद्यपि इस विज्ञान साहित्यिक क्षेत्र में उसकी विशेष अभिरुचि उन्हें उन दिशाओं में ले गई जिन्हें रहस्यवादी या आध्यात्मिक काथ्य कहा जा सकता है। कालिदास भवभूति और भारवि की अपेक्षा उन्होंने अपभ्रंश साहित्य सिद्ध और नायक का साहित्य, जन और बौद्धों का साहित्य अधिक संपन्नता के साथ पढ़ा और समझा है। गूर, तुलसी और केशव की अपेक्षा उन्होंने कबीर आदि निगुणिया सन्त कवियों पर



अधिक अभिनयण दियाया है। साहित्य में भी उहान उग मानवतावादी और आध्यात्मिक साहित्य की ओर दृष्टिपात किया जो चान् परिनिष्ठित साहित्य की श्रेणी में न जान पर लोकजीवन और लोक सस्कृति की भूमिका पर जिसका मतलब अविस्मरणीय है। आधुनिक भारतीय साहित्य में उहान रची द्रनाथ और प्रेमचन्द को सर्वाधिक महत्व दिया है वनमें स प्रथम कवि अपना रहस्या मूय रचनाका के कारण विश्व प्रसिद्ध हो गये हैं और दूसरे लखन प्रमचन्द अपने मानवतावादी और प्रगतिशील कथा साहित्य के कारण द्विवेदी की व अधिक समीप हैं। यहाँ हम उस अध्ययन की चर्चा कर रहे हैं जो द्विवेदी जी के विषय अभिरचि का विषय रहा है। या उहोने सस्कृत, हिंदी और बंगला साहित्य की सभी पार्श्वों का अध्ययन किया है जिसका प्रमाण उनके विषयों से ज्ञात होता है।

साहित्यिक अध्ययन की अभिरचि में द्विवेदी जी की क द्रोय आस्था सामाजिक और सस्कृतिक पक्षों से रही है। वे साहित्य का अनुशीलन कला की बारीकी पर करने के उतन पशपाती नहीं हैं जितने मानव विकास के सहायक उपकरण के रूप में हैं यही कारण है कि द्विवेदी जी ने साहित्यिक बणिष्ठय पर अधिक लक्ष्य न देकर जनजीवन के बिकासोत्तर लक्ष्यों का साहित्य में अधिक काविक दखन का प्रयत्न किया है। बाणभट्ट का आत्मकथा नामक अपने उपन्यास में उहोने लोकजीवन के और युगीन सस्कृति के पक्षों का बाण तथा उनके समकालीन कवियों के ग्रंथों का दृढ़ निकाला है। यदि उनका ध्यान बवल बाण की ही भाषा से देय और बलात्मक बणिष्ठय पर ही होता तो एम उपन्यास की रचना कदाचित न कर पाते। जहाँ वही किसी साहित्यिक कृति का उहाने विवचन किया है वहाँ सामाजिक भूमिका बराबर बनी रही है बल्कि यह कहना अधिक मुक्त होगा कि काय और साहित्य के विवचन में द्विवेदी जी का ध्यान जीवन पशपा पर ही रहा करता है।

द्विवेदी जी के अध्ययन का दूसरा क्षेत्र इतिहासिक और दार्शनिक भी है। उहान भारतीय इतिहास के विविध पशपा का गम्भीरतापूर्वक अनुशीलन किया है। और उन इतिहासिक युगों की लोक सस्कृति के विषय में पर्याप्त जिज्ञासा प्रदर्शित का है। द्विवेदी साहित्य का आदिमान नामक पुस्तक में दार्शनिक इतिहास के प्रति उनके चिन्तनका परिचय मिलता है। एम तो उहोने हिंदी साहित्य का पूरा इतिहास ही लिखा है अब एक हजार वर्ष के साहित्य में जो जो परिस्थितियाँ इतिहास का भूमिका पर मौजूद हैं उनका आसखन भी किया है परन्तु राजनीतिक इतिहास का हपदा उनका ध्यान सामाजिक और सस्कृतिक इतिवत्त की ओर अधिक रहा है।

जहाँ तक अंग्रेजी साहित्य का सम्बन्ध है द्विवेदी जी न उमम अध्ययन का अभ्यास किया है। पाश्चात्य साहित्य की रचनात्मक श्रम का ही नहीं समीक्षात्मक प्रथा का भी आधार उनकी विवेचनाओं में उपलब्ध होता है। यद्यपि निर्दिष्ट रूप से उन्होंने विदेशी साहित्य का आनुक्रमिक अनुशीलन करने में अधिक दिग्दर्शनी नहीं दिखाई परन्तु जहाँ तक संस्कृत प्रथा के सम्बन्ध में किम्वदन्त पश्चिमी वाद और विवेचना का सम्बन्ध है वे उससे अच्छी तरह परिचित हैं।

दशन की भूमिका पर द्विवेदी जी ने तन्त्र, शास्त्र और आगमा का सफेद निरीक्षण किया है उनकी प्रमुख अभिरुचि जिन रहस्यवादी और मानवतावादी तथ्या से है उसी के अनुरूप उन्होंने अपनी दार्शनिक अभिरुचि और अध्ययन का भी पद ग्रहण किया है। पिछले कुछ वर्षों में इनका विशेष ध्यान योग, तन्त्र और आगमा की उस धारा पर केन्द्रित हो रहा है जिनमें उन्होंने भारतीय साधनाओं और विचारों की गहनताओं, उपलब्धताओं हैं।

भारत यह कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी ने परिनिष्ठित साहित्य और परिनिष्ठित इतिहास और दशन का गीतना देकर मानव अभिनूरी साहित्य इतिहास और दशन को प्रमुखता प्रदान की है।

## रुचिया

द्विवेदी जी का साहित्यिक अध्ययन तत्सम्बन्धी रुचिया के परिचय देने के पश्चात् अब हम साहित्यिक रुचिया के सम्बन्ध में ध्यान देना चाहेंगे। द्विवेदी जी की रुचि में रचनात्मक कलाभिरुचि उत्तलनीय है। समीक्षा और निरन्धन तत्त्व के अतिरिक्त उन्होंने बाण नटकी आत्मन्या और चादचदनक नाम के उपन्यास भी लिखे हैं और आरम्भ में कुछ कवितायें भी लिखी थीं। यदि हम इन उपन्यासों को और कविताओं के-वस्तुपक्षका छोड़कर फल कलापक्ष पर विचार करें तो दायें कि उपन्यास और कविता की वाक्य-मौल्य यात्रनायें उनकी वृत्तिया में प्राप्त होती हैं। कोई निरा विचारक या पंडित इन प्रकार की वस्तुयें निमित्त नहीं कर सकता। कथानक का निमाण उसका उदयान पवन, आराह अवरोह जिन सघटित दृष्टि और निपुणता के माय आराह अवरोह आदि उन्भावित विय हैं वह उनकी कलाभिरुचि का परिचायक है।

द्विवेदी जी की भाषा के गठन और अनन्य प्रकार के भाषा प्रयाजन में पर्याप्त रुचि है। जब उनकी इच्छा होती है संस्कृतनिष्ठ भाषा का सपन और

चमत्कार प्रयोग करते हैं जब उनकी इच्छा होती है तब वे बोलचाल की सरल और प्रवाहपूर्ण भाषा का उपयोग करते हैं। उनके व्यंग्य और विनोदात्मक प्रयोग भी उनकी विशिष्ट अभिरुचि के परिचायक हैं। उनके ऐसे प्रसंग एक प्रच्छन्नता लिए होती है और पहली दृष्टि में सामान्य पाठक उसको पकड़ने में अक्षम्य रह जाता है पर चतुर और प्रसुद्ध पाठक के लिए उसमें एक अदभुत तरलता दिखाई देती है। द्विवेदी जी के हास्य व्यंग्य उनकी शालीन किन्तु अतर्भेनी रुचि के अनुरूप है। उनके व्यंग्यो में किसी को चोट नहीं लगती। पर मुसकान अपने आप फूट निकलती है। शास्त्रीय प्रयोगों में जिस स्मित हास्य कहा है उसके उदाहरण द्विवेदी जी की कृतियों में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं उनकी ये स्मित हास्य यदा यदा उनके भाषण और उनके वार्त्तालाप में भी दिखाई पड़ती है। यह एक विरला गुण है जो एक पंडित के ही अनुरूप है। स्पष्ट और सीधे हास्य और विनोद तो सभी लोग कर सकते हैं पर इस प्रकार गोपनहास्य निर्माण कोई बहुश्रुत व्यक्ति ही कर सकता है।

अपने निबन्धों में द्विवेदी जी ने जो आत्मीयता की शली अपनायी है वह उनकी प्रकृत अभिरुचि का ही स्रोतक है। कहीं बात कहते समय किसी रोचक तथ्य प्रासंगिक उल्लेख अथवा कोई साधारण बात कहते कहते किसी गम्भीर प्रकरण का आरम्भ करना द्विवेदी जी के निबन्धों में ऐसी विशेषताएँ जो अत्यन्त कम पायी जाती हैं। ये समस्त विशेषताएँ उनके व्यक्तित्व का जिस रूप में उदघाटित करती है उनसे द्विवेदी जी की सस्कृत अभिरुचियों का पता चलता है।

व्यक्तिगत भूमिका पर द्विवेदी जी जिनने सप्रथित और विनीत हैं उतने ही विनोद और हास्य प्रिय है। अपरिचित लोगों को उनकी रुचि और प्रकृति का ही बोध होना है उनमें परिचित होने पर खुली और विनोद प्रकृति का पूरी तरह अभिमान हो जाता है। चूटकुले सुनाने में द्विवेदी जी की क्षमता अपूर्व है। शान्तिनिकेतन के एक नवान् बाबू का वार्त्ता वे सुनाते हैं। नेपाल का नाम लेने में रेलवे ट्रेन पकड़ने में कभी धूक नहीं हो सकती यदि गाड़ी का समय हो भी गया हा तो उनका नाम लन में गाड़ी निश्चय ही मिलेगी। कोई न कोई ऐसी घटना घटित हो जायेगी जिस ट्रेन आने में ही विलम्ब हो जायेगा। नाम माहात्म्य का उल्लेख करते हुए वे उस प्रसंग को सुनाया करते हैं।

## द्विवेदी के साहित्यिक व्यक्तित्व का क्रमिक विकास

आचार्य द्विवेदी जी की जीवनी और उनके व्यक्तित्व का परिचय देने के पश्चात् यह आवश्यक है कि हम उनके रचित साहित्य पर एक सामान्य दृष्टिपात करें। इस दृष्टिपात के पश्चात् ही हम उनके समीक्षक और शोधकर्ता स्वरूप का विवेचन कर सकेंगे जो हमारा मुख्य विषय है। द्विवेदी जी के साहित्य में जहाँ एक ओर शोध और समीक्षा सम्बन्धी ग्रंथ और निबंध हैं वहीं उनकी रचनात्मक कृतियाँ भी जिनमें उनके उपयोग और उनके वैयक्तिक निबंध आते हैं। इन सबका सामान्य परिचय इसलिए भी आवश्यक है कि इनमें द्विवेदी जी के समग्र साहित्यिक स्वरूप का ज्ञान होता है। जिसका उपयोग हम अपने सीमित विषय के लिए भी कर सकते हैं। इस विहंगावलोकन में हमने दो मुख्य आधार ले रखे हैं। प्रथम आधार त्रिविध अनुक्रम में उनके साहित्यिक सक्षेप में प्रस्तुत करना है। परन्तु इसके साथ ही उनकी कृतियों का वर्गीकरण कर उनका आनुक्रमिक परिचय देना भी हमें उचित प्रतीत हुआ है इन दोनों भूमिकाओं पर उनके साहित्य का धारावाहिक परिचय देने से उनकी विविध साहित्यिक प्रवृत्तियों का बोध हो जाता है। और साथ ही उनके ग्रंथों का क्रमिक विकास दिशा का भी संकेत मिल जाता है।

इस विहंगावलोकन में हमने उनकी कृतियों के नामोल्लेख के साथ उनकी विषय वस्तु और प्रतिपाद्य के सम्बन्ध में सामान्य चर्चा की है। पृष्ठे अध्याय में केवल कृतियों का नामोल्लेख है और वह भी प्रकीर्ण रूप में है।

इस अध्याय में हम यंत्रिक व्यवस्थित रूप में उनके रचित साहित्य का निरीक्षण कर रहे हैं। हम सन्दूक कहना पड़ता है कि इस अवलोकन में द्विवेदी जी की कुछ कृतियाँ हमारे दृष्टिपात में नहीं आ सकीं। क्याचित वे इस समय बाजार में उपलब्ध नहीं हैं। सागर विश्वविद्यालय के पुस्तक भवन में और पंडित जी के निजी पुस्तकालय में भी ये अनुपलब्ध हैं। परन्तु सताप की बात है कि ये कृतियाँ अधिकांश छोटी पुस्तिकाएँ हैं और संभवतः उनमें से कुछ उनका बड़े संग्रहों में समाहित भी हो गई होगी। द्विवेदी जी के कृतियों का अवलोकन करते हुए हमने यह देखा है उनमें अनेक निबन्ध आंगिक रूपांतर के साथ अथवा उद्यो के साथ एकांगिक पुस्तिका में प्राप्त हो जाते हैं। अल्प प्रयत्न करने पर भी जहाँ ये पुस्तिकाएँ नहीं मिल सकती तब हमने अपना यत्न प्रलिखित किया है। यह इस अवसर पर हमारी विवशता ही कही जा सकती है। निबन्ध के अन्त में हमने उन पत्रिका का और पुस्तिकाओं का नामोल्लेख भी कर लिया है जिनमें उनकी विषयवस्तु का योग्य बन्ध आभास मिल सके। इसके अनिश्चित और कुछ कर भी नहीं सकते थे। अस्तु।

### समीक्षात्मक ग्रन्थ

#### सूर साहित्य

राजा रचनाकाल मत्त १६३४ है। इसकी पण्ड सख्या १९२ और शान अंश ५ है। प्रथम अध्याय में राधाकृष्ण के विराम के बारे में अनुमान किया गया है। वामुदेव की पूजा ३० ४०० वर्ष पूर्व की चरणी थी। महाभारत के समय तक आने वामुदेव कृष्ण, विष्णु और नारायण एक हो चुके थे। आगे चलकर हरिवंश और वायुपुराण आदि में गायानकृष्ण का वर्णन मिलता है। उनमें भी राधा का नामोल्लेख नहीं मिलता। दूसरी ओर गायानकृष्णती और पञ्चतन्त्र में पण्ड का आना राधा के अस्तित्व को घनात में ई० सन स ५०० भाँ अमभव नहीं है। इन सारी बातों का ध्यान में रखकर द्विवेदी जी ने दो तरह में अनुमान लगाए हैं। (१) राजा आभीर जानि की प्रेम देवी रही गायी त्रिमया सम्पन्न बालकृष्ण में रडा हागा इसीलिए जाय ग्रन्थों में राधा का नामोल्लेख नहीं है। जब बालकृष्ण की प्रधानता हो गई होगी तो इन बालकृष्ण की सारी ग्रन्थें प्रचारा में ली गई हागी। इस प्रकार राधा की प्रधानता न गइ हागी। (२) राधा को तब की किसी जाय पूर्व जानि की प्रमादवी रही हागी बाद में इनका प्रधानता न गइ हागी और कृष्ण के साथ इनका सम्पन्न बान्धन न्या न्या हागा।

द्विवेदी जी के साहित्यिक व्यक्तित्व का क्रमिक विकास

भागनत आदि पुराणों में गोपालकृष्ण की जो कथा पाई जाती है उसमें गोपियों के साथ रासनीला का वणन एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इन गोपिया का विवाह अप गोपों से हो चुका था कृष्ण के साथ इनका प्रेम परकीया प्रेम के रूप में ही हो सकता है। उत्तरकाल में राधा का स्थान कृष्ण से भी बढ़कर बताया जान लगा था। राधा के बिना कृष्ण अपूर्ण थे।

भक्ति तत्व नामक तीसरे अध्याय में बगल के चैतन्य देव के भक्तिवाद एवं बल्लभाचार्य ने अनुष्ठान एवं चैतन्यदेव ने प्रेम को प्रधान स्थान दिया है। चैतन्यदेव रागानुराग भक्ति के अनुयायी थे। इस अध्याय में सिर्फ भगवत्प्रेम के भेदभेद के विस्तार का वणन किया गया है। मधुर रस की प्राप्ति के लिये भक्त की सारी साधना है। अतः म राधा के असह्य गुणों में से २५ गुणों का वणन किया है।

उस युग की साधना और तात्कालिक समाज नामक अध्याय में इतिहास को ध्यान में रखकर वणन किया गया है। इतिहास की दृष्टि से १६ वीं शती के मध्यभाग तक भारतीय संस्कृति में पराजय का काल है। भारतवर्ष की असफलता की कृष्ण कहानी से इस युग का इतिहास भरा पड़ा है। परंतु इन सारी विघ्न बाधाओं के होते हुए भी भारतवर्ष अपने आत्मरूप में निरस्त नहीं हुआ था। १५ वीं या १६ वीं शती का शास्त्रों के भाष्य या टीका का युग कह सकते हैं वेदों का सर्वोत्तम भाष्य जिसे सायणाचार्य ने लिखा इसी युग की उपज है। इस समय तक मुगलमानों का आक्रमण शुरू हो चुका था। जबदस्तो हिंदुओं को मुसलमान बनाया जा रहा था। विदेशी मस्जिदों के आत्मरक्षा के लिये अब प्रधानतः दो शक्तियाँ काम करने लगीं। कबीर आदि की निगुण साधना और मूरदास आदि की सगुण साधना। मूरदास ने अनेक स्थान पर निगुण मत से सगुण उपासना की सरलता और उसका उत्कृष्ट भी दिखाई पड़ता है। मूरदास परने से उस युग के समाज का एक चित्र आखों के सामने खिंच जाता है। इस युग का साहित्य एक तरह बल्लभ साहित्य ही है। हिंदी साहित्य में भक्तिधारा को बहाने का श्रेय निश्चय ही रामानंद और महाप्रभु बल्लभाचार्य को है।

प्रेमतत्व नामक अध्याय में मूरदास की कविता का मम समयने के लिये उनसे पूर्ववर्ती तीन कवि जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास से इनकी तुलना की गई है। ये तीनों राधाकृष्ण के प्रेम में मत्त मधुर रस के उपासक थे। परकीयाभाव से राधा की वणना करते हैं। मूरदास की राधा केवल विलासिनी नहीं है। श्रीकृष्ण के माथ उनका केवल युवाकाल का सम्बन्ध नहीं है, वे परकीया नायिका भी नहीं हैं। बहुत छोटी उम्र से वे श्रीकृष्ण के साथ गृहियों के खेल खेल चुकी

हैं। सूरदास की राधा मानिनी हैं दारुण मानिनी। भारतवर्ष के किसी कवि ने राधा का वर्णन इस पूणत के साथ नहीं किया। सूरदास की यह सृष्टि अद्वितीय है। विश्व साहित्य में ऐसी प्रेमिका नहीं है। आगे सूरसागर की तुलना महाभारत से की गयी है। इसके दो चित्र ससार के साहित्य में बेजोड़ हैं ऐसा द्विवेदी जी ने कहा है। यशोदा और राधिका। यशोदा के वात्सल्य में वह सब कुछ है जो 'मात' शब्द को इतना महिमाशाली बनाये है। राधिका के चित्र में प्रेम का तत्व अथ स इति तक सर्वस्व निहित है। अन्त में सूरदास की गोपियों की तुलना नन्ददास की गोपियों से की गई है। नन्ददास का प्रेम मस्तिष्क की ओर से आता है, सूरदास का हृदय की ओर से।

सूरदास की विशेषता नामक अध्याय में गोडाय वेष्णवों की नायिकाओं के साथ सूरदास की गोपिकाओं की तुलना का वर्णन है। वैष्णव आलंकारिकों में तीन सौ तिरसठ प्रकार की नायिकाओं के उदारहण के लिये सफ़ा नाम गिनाये हैं। सूरसागर में इन गोपियों के नामों का कोई उल्लेख नहीं। सूरदास भक्त में सूरसागर में और कुछ नहीं। शुरू से अन्त तक भगवतलीला का वर्णन है।

कवि सूरदास की बहिरंग परीक्षा नामक अध्याय में अधुनिक और मध्ययुग का साहित्य की परिस्थितियों सूरदास का साहित्य उनकी जीवनी और प्रभाव पर प्रकाश डाला गया है। छोटे शब्दों में अधिक से अधिक भावों को व्यक्त करना और उसका चित्रमय होना उनकी अपनी विशेषताएँ हैं।

सूरदास की विशेषता को बताते हुए लिखा है। उनके पद नवीन न होते हुए भी एक विशेष नवीनता रखते हैं। बाललीला का वर्णन मातहृदय का चित्रण अतीव्र प्रेम की कल्पना आदि उनकी विशेषताएँ हैं। लीलागान करना एवं अप्रयुक्त भाषा को इतना सुन्दर और मधुर एवं आकर्षक बनाना, इन दोनों कार्यों को सूरदास ने निपुणता के साथ निभाया है।

अन्त में दो परिशिष्ट हैं (१) ब्रजभाषा साहित्य में ईश्वर और दूसरा ब्रजभाषा के कवि और युगलभूति। इन दोनों लक्षों से सूरदास के सीधा सम्बन्ध न होने से इन्हें परिशिष्ट रूप से दिखाया गया है।

## २ साहित्य का साथी

इसका रचनाकाल सन १९४६ है। पृष्ठ संख्या १३६ है। आठ अध्यायों का साहित्य का साथी विद्यार्थियों को साहित्य के विभिन्न अंगों की जानकारी

देने के लिये सच्चा साधी है। इसके चतुर्थ संस्करण ने विद्याधिर्मों 'की उपयोगिता को सिद्ध कर दिया है।

'साहित्य' नामक प्रथम अध्याय में साहित्य शब्द का अर्थ व्यापक होत हुआ भी 'साहित्य' शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में होता है, बताया है। समूचे ग्रन्थ समूह को व्यापक अर्थ में साहित्य मान लेने पर स्पष्ट ही तीन श्रेणी की पुस्तकें मिलेंगी। सूचनात्मक साहित्य, विवेचनात्मक साहित्य और रचनात्मक साहित्य। प्रथम अध्याय में रचनात्मक साहित्य के बारे में बताना ही लेखक का संकल्प है। साहित्य क्या है, जीवन और साहित्य का संबंध क्या है तथा वे कौन से उपादान हैं जो मनुष्य को पशु की प्रवृत्तियों से अलग कर मनुष्य बनाए रखने में समय होता है आदि पर सुचारु रूप से चिंतन किया गया है।

साहित्यकार नामक दूसरे अध्याय में किसी भी पुस्तक के विवेचन में चार बातों पर विचार करना परम आवश्यक बताया है। वे हैं लेखन, वक्तव्य वस्तु, कारीगरी और श्रुता या पाठक। पुन लेखक के अध्ययन के लिये चार बातों की जानकारी आवश्यक है। काल, जाति समाज और उसके समसामयिक ग्रन्थकार उसका व्यक्तिगत जीवन पर दृष्टिपात किया गया है। और यह भी बताया गया है कि एक लेखक की रचना दूसरे लेखकों की रचना से तीन बातों जैसे व्यक्ति या स्वभाव शैली और शास्त्रीय उपस्थापन से भिन्न हो जाती है।

जातीय (राष्ट्रीय) साहित्य नामक तीसरे अध्याय में राष्ट्रीय साहित्य क्या है? स्पष्ट किया है तथा प्रेमचंद का उदाहरण देकर समझाया है। "साहित्य का व्याकरण" नामक चौथे अध्याय में अलंकार शास्त्र को साहित्य का व्याकरण बताया है। अलंकार शास्त्र में शब्द शक्तियां, उनका अर्थ रस, गुण, दोष और अलंकार को विवेचना होती है। शब्द की तीन शक्ति अमिषा, लक्षणा, व्यंजना का वर्णन है। पुन इनके भेद प्रभेदा को उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है। वाक्य की आत्मा 'ध्वनि' है इसे ध्यान में रखते हुए वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि एवं रसध्वनि नौ रस, तथा विभाव अनुभाव एवं संचारी भाव पर विचार किया गया है।

'कविता' नामक पांचवें अध्याय में कविता पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। कवि और कवि नहीं पर वह भी मनुष्यों में ही होता है। सच्ची कविता को परिभाषा करते हुए लेखक कहते हैं सच्ची कविता वही है जिसमें—वाक्यगत सत्य के साथ साथ अलंकार, छंद, पद लातित्य भी हो। काव्य



भेद विषयीप्रधान का विस्तार वणन है जिसका अंतगत, छायावाद, रहस्यवाद कायड मनोविज्ञान भी आ गया है। अतः म काव्य के उद्देश्य व साथ यह अध्याय समाप्त होता है। 'उपवास और कहानी' नामक अध्याय में दोनों की अलग-अलग परिभाषा तथा तुलनात्मक ढंग से वणन किया गया है। दोनों के छ तत्व एवं उपवास की शैली के बारे में भी विचार किया गया है।

'नाटक' नामक सप्तम अध्याय में नाटक और उपवास का अंतर दर्शाते हुए नाटक के तत्व तथा भेद एवं प्रभेद पर विस्तार से चर्चा की गई है। रंगमंच, अभिनय, नाटक को पाच अवस्थायें नाटक की त्रियावस्तु तथा सकलनत्रय, नाटक की श्रेणी जैसे रूपक नाटय, नीतिनाटय भावनाटय तथा एकाकी नाटक पर विचार किया गया है। अतः म नाटक के उद्देश्य का वणन है। साहित्यिक समालोचक और निबंध नामक अष्टम अध्याय में लेखक ने बताया है कि मनुष्य का मन हजारो अनुकूल और प्रतिकूल धाराओं के सघष से रूप ग्रहण करता है उस अगर प्रमाण मात्र लें तो मूलनिर्धारण का कोई एक सामान्य मानदंड बन ही नहीं सकता। पुराना समालोचक तथा नया समालोचक का अंतर भी बताया गया है। साथ में निबंध की पारभाषा प्रकार आदि पर भी प्रकाश डाला गया है।

## १. आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार

इस पुस्तक में लेखक का आठ निबंध संकलित किए गए हैं जो उनके भाषण प्रतीक होते हैं। साहित्य के निर्माण और विकास तथा विभिन्न प्रवृत्तियों के संघर्ष में मनन योग्य मामलों में सखो में दी गई है। विद्वान लेखक ने साहित्य की समीक्षा व साथ साथ समाज की परिस्थितियों और उनके घात प्रतिघात का विश्लेषण किया है। उनकी मायता है कि साहित्य का इतिहास पुस्तक और प्रयत्नों का उदभव और विलय की कहानी ही नहीं है वह बहुरूप-स्रोत में बह आन हुए जीवन्त विकास की कथा है। प्रयत्न और प्रय इस प्राण धारु की आर इशारा प्रर करत हैं। वे ही मुख्य नहा हैं। मुख्य है वह प्राणधारा जो नाना परिस्थितियों में गुजरती हुई आज हमारे भीतर आत्मप्रकाश कर रही है। इस प्राणधारा का आत्मप्रकाश द्विधा-ज्ञा के सार लखो में दिखाई पड़ता है और इसी विशयता का कारण वे कुवल साहित्यिक आलोचक न रहकर जीवन का विचार पूर्ण निबंध बन गये हैं। यद्यपि इस पुस्तक का नाम आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार रखा है पर इनमें आधुनिक हिन्दी साहित्य की कोई विशय साकी न स्मिनाकर प्राचीन साकी ही नित नाई गई है।

## शोध ग्रंथ

### कबीर

इस ग्रंथ का रचनाकाल सन १९४१ है। तीन सौ सत्तर पन्ना वाली इस पुस्तक उनसहस्र सहित सातह अध्याय है। इस पुस्तक में कबीर के व्यक्तित्व साहित्य और दार्शनिक विचारों की आलोचना की गई है। अभी तक इस किताब के छ सशोषित संस्करण भी निकल चुके हैं। अब हम इस पुस्तक के सम्बन्ध में विचार कर ले तो इसकी विशेषता स्वयं प्रकट हो जाएगी।

प्रस्तावना नामक प्रथम अध्याय में कबीरदास के जाति सम्बन्धी खोज-सर्चा उनके द्वारा रचित ग्रंथों पर विवेचन किया गया है तथा कबीर पद्य के भिन्न भिन्न सङ्कलन कर्त्ता जैसे रामकुमार वर्मा, श्यामसुन्दरदास एवं आचार्य क्षितिमोहन सन के संग्रह का भी संक्षिप्त वर्णनात्मक परिचय मिल जाता है। द्वितीय अध्याय में कबीरदास पर योगमत का क्या प्रभाव पड़ा? अवधूत कौन है? सद्गुणानी सिद्ध, तांत्रिक, अवधूत गोरखपथी अवधूत तथा उसका वेश उसकी मुद्रा-आदि विलयों की चर्चा की गई है। तथा अतः मयह सिद्ध किया है कि कबीरदास का अवधूत नाथपथी सिद्ध योगी है। तृतीय अध्याय में 'नाथ पंथियों' के सिद्धांत और कबीर के मत पर प्रकाश डाला गया है। नाथपंथियों के सिद्धांत पर विचार करते हुए नाथपंथी अवधूत का मत क्या था और कबीरदास पर उसका कुछ प्रभाव पड़ा था या नहीं आदि पर विचार किया गया है। वेदान्त मत से नाथमत का विशिष्टय कापालिक और नाथमत की एकता तथा नाथमत की गुरुशिष्य परम्परा आदि का वर्णन किया गया है। चौथा अध्याय 'हठयोग की साधना' है। हठयोग क्या है? इस पर विचार करते हुए कहा है कि नाथपंथ की साधनापद्धति का नाम हठयोग है। इस अध्याय को खासकर इसलिए इस पुस्तक में स्थान दिया गया है कि कबीर और इस साधनापद्धति का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध था कि इस साधनापद्धति का समझे बिना हम कबीर को भी नहीं समझ सकते। इनके सिद्धांतानुसार महाकुण्डलिनी नामक एक शक्ति है जो स्रगुण मूर्ति में परिचायक है। यही शक्ति व्याप्ति में व्यक्त होने पर कुण्डलिनी कहलाती है। पुनः इस कुण्डलिनी को ठीक ठीक समझने के लिए शरीर की बनावट की कल्पना की गई है। और इस साधना के माँग में आने वाले अनेक बातों की चर्चा की गई है। इसी सिद्धांत में कैलास, इन्द्रा, पिङ्गला, सुषुम्ना, नाग, स्पष्ट पट्टकर्म और उर्मुनि आदि शक्तियों की व्याख्या या इन शक्तियों की स्पष्ट चर्चा है, ये सभी अवस्थायें हैं जिन्हें पारकर अंत में

कुण्डलिनी शक्ति उद्बुद्ध होनी है। इस प्रकार 'हठयोग की साधना' नामक अध्याय हठयोग का स्पष्ट करन में समर्थ है।

पाचवें अध्याय में निरजन कौन है ? इस पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही निरजन का वास्तविक अर्थ क्या है। यह बताया गया है। साधारण रूप में निरजन गन्द निगुण ब्रह्म का और विशेष रूप में शिव का वाचक है। आगे निरजन सम्बन्धी कल्पना की जटिलता का कारण एवं उसके ऐतिहासिक परम्परा का आद्य-वर्णन किया गया है। छठे अध्याय में, निरजन शब्द के भाग्य विषय के समान अनेक अर्थ शब्दों का भी कसा परिवर्तन हुआ है, पर विचार किया गया है। जैसे शून्य सहज, नाद ब्रह्म, आदि के भाग्य विषय पर भी काफी प्रकाश डाला गया है। सातवें अध्याय योगपरक रूपक और उलटबांसियों में योगियों और सहजयानियों की उलटबांसियों, सधाभावा, उनकी शली तथा कबीर के द्वारा माय साकेतिक गणना का वर्णन है। आठवें, नवम अध्यायों में ऋमश ब्रह्म और माया एक निगुण राम पर विचार किया गया है। इन सब पर विचार करते समय द्विवेदी जी ने सिर्फ इतिहास को ही दृष्टि में नहीं रखा है वरन् दार्शनिक एवं गार्हस्थ्य दृष्टि को भी अपनाया है।

दसवें और ग्यारहवें अध्यायों में ऋम से बाह्याकार तथा 'स तो भक्ति सतो गुह्र आनी' की व्याख्या की गई है। बारहवें अध्याय में व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है। लक्ष्य में इस अध्याय के अध्ययन से ये बातें अवगत हो जाती हैं। कबीर सिर से पर तक मस्तमौला, स्वभाव के फक्कड़, आदत से अक्खड़, भक्त के सामने निरीह, दिल के साफ दिमाग के दुरुस्त, भीतर से कोमल, बाहर से कठोर थे।

तेरहवें अध्याय में इस्लाम के भारतवर्ष आगमन से लेकर उसमें कबीर का क्या स्थान था तब अच्छी तरह बताया गया है। बीच में हिन्दू धर्म और इस्लाम का अन्तर स्पष्ट करने हुए माया का कारण क्या है, लीला क्या है, सगुण लीला से कबीरवास की लीला का भेद क्या है आदि पर अच्छी तरह चर्चा चलाई गई है। चौदहवें और पंद्रहवें अध्याय में ऋम से भगवत्प्रम का आदर्श क्या है ? कबीर और रबीन्द्रनाथ दाना के लीला सम्बन्धी विश्वासों में भेद एवं समानता को स्पष्ट किया गया है। इसका अलावा रूप अरूप, के भेद को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। सोलहवा अध्याय उपसंहार है जिसमें कबीर की वाणी का नाना रूप में उपयोग, कवि, उनकी विशेषता, समाज सुधारक, साम्प्रदायिक एवम् प्रतिष्ठाता आदि पहलुओं पर विचार किया गया है। परवर्ती पदों को

ठीक ठीक समझने के लिए परवर्ती कबीरपयी सिद्धांतों की जावकारी आवश्यक है अतः परिशिष्ट में उन्हीं सिद्धांतों का वर्णन किया गया है। परिशिष्ट दो म १ से १०० तक आचार्य क्षितिमोहनसन के संग्रह से उद्धृत और अन्तर्राष्ट्रीय रूपाति के वे पद्य हैं जिन्होंने महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे व्यक्ति को आकृष्ट किया, जो उन्हें इस योग्य जचे कि भारतीय मनीषा के प्रति पाश्चात्य विद्वानों अग्रजी अनुवाद की उपेक्षा और अवना को दूर कर सकेंगे और इसीलिए उन्होंने अग्रजी अनुवाद स्वयं किया। १०१ से २५६ तक के पद पिछले अध्याय में प्रनिपादित सिद्धांतों का और भी अधिक समर्थन करने की दृष्टि से संगृहीत हुए हैं।

## २ मध्यकालीन धर्म साधना

मध्यकालीन धर्मसाधना का रचना काल १६५२ ई० है। यह पुस्तक ३६ निबन्धों का संग्रह है। जिन्हें एक क्रम से बठा कर एक पुस्तक का रूप देने की सफल चेष्टा की गई है। और लेखक ने स्वयं ही निवेदन किया है मध्यकालीन धर्मसाधना यद्यपि भिन्न भिन्न अवसर पर लिखे हुए निबन्धों का संग्रह ही है तथापि प्रयत्न किया गया है कि ये लेख परस्पर विच्छिन्न और असम्बद्ध न रहें और पाठकों को मध्यकालीन धर्म साधनाओं का सक्षिप्त और धारावाहिक परिचय प्राप्त हो जाय। निस्सन्देह पुस्तक स इतना भर तो हा ही जाता है।

यद्यपि पुस्तक की कुल पृष्ठ संख्या दो सौ अठत्तर ही है जिसमें परिशिष्ट सिर्फ बीस पृष्ठ का है अर्थात् २५६ पृष्ठ ही हैं फिर भी उनमें छोटे बड़े ३६ निबन्ध आ गये हैं। हिंदी साहित्य के इतिहास उस युग को जिस सामान्यतः भक्तिकाल कहा जाता है, रामाश्रयी शास्त्रा को छोड़कर शेष तीनों दाखानों का ही नहीं, उनकी पृष्ठभूमि पूरा परम्परा और दार्शनिक आधार का भी आपाततः मनोरंजन और मानवधर्म विवरण इन निबन्धों में सहज सुनभ हो गया है।<sup>१</sup>

मध्यकाल की परिभाषा पहले ही अध्याय में दी गई है। जिसमें विषय का क्षेत्र स्पष्ट हो जाता है। उसके बाद आरम्भ इस काल के विविध धर्मों का परिचय है जैसे तांत्रिक, पांचरात्र तथा वैष्णव, पाण्डुपतमत और शैवागम, वापालिक मत, जैन मरमो सहज और नापसिद्धधर्म, निरंजन मत और कबीर

मत में घमण्डिता का अवशेष आदि उसके उपरान्त सामाजिक व्यवस्था विषयक छ निबंध हैं। वार्डमैंने निबंध से बत्तीसवें निबंध तक अधिकांश कृष्ण और राधा के विषय पर विचार है। जिस श्रीकृष्ण की प्रधानता गोपियाँ और श्रीराधा लीला और भक्ति लीला का रहस्य, राधिका का स्वरूप गीत गोविन्द की विरचिणी राधा आदि। तत्तीसवें से उन्तालीस तक अर्ध विषयों की चर्चा है। जैसे गूणमय रूप की उपासना कृष्णव कवि की—रूपोपासना, ब्रह्म का रूप इत्यादि।

परिशिष्ट में सर आर्थोल्स्टेन ने समूची भारतीय जनता को सात बड़े बड़े विभागों में बाटा है, दिखाया है। सर आर्थोल्स्टेन की कई तालिकाओं के आधार पर तालिका बनाई गई है। जिसमें सर आर्थोल्स्टेन के विचारों का ही प्रधान स्थान दिया गया है। इस तालिका से श्रेणी का नाम, जाति का नाम, उसका प्रदण और जनसंख्या जानने में काफी सुविधाजनक एवं सहायक है।

### ३ नाथ संप्रदाय

इसका रचनाकाल सन १९५० है। पृष्ठ संख्या २११ और उपसंहार सहित पंद्रह अध्याय हैं। द्विवेदी जी ने अनक संप्रदायों में सुरक्षित असौजिक कथाओं एवं अनक ग्रंथों के सम्भार अध्ययन के पश्चात् नाथसंप्रदाय का प्रथम प्रामाणिक इतिहास तथा उसके सिद्धों का विवचन प्रस्तुत किया है।

पुस्तक के आरम्भिक दो अध्यायों में नाथसंप्रदाय तथा संप्रदाय के पुराने सिद्धों का संक्षेप में वर्णनात्मक परिचय मिलता है। अगले तीन अध्यायों में मन्स्येन्द्रनाथ और कौल नाम निणय की रथायें हैं। छठवें और सातवें अध्यायों में जाल धरनाथ और कृष्णपाद तथा उनके कापालिक मत का विस्तृत वर्णन है। इसके उपरान्त आठवें अध्याय से द्वादशवें अध्याय तक क्रम से गोरक्षनाथ उनके ग्रंथ, पिंड और ब्राह्मण, पातञ्जलयोग योग विद्या की प्राचीनता, गारक्षनाथ का उपास्य यागमाग, हठयाग, सहजसमाधि तथा गारक्षनाथ के समसामयिक सिद्धों का संक्षेप वर्णन मिलता है। तत्पश्चात् अध्याय में परधर्मी सिद्ध संप्रदाय में प्राचीन मत जम बारह पद्य धानुपन मत रमश्वर मत आदि का विवचन किया है चौदहवें अध्याय में लाङ्गनाथ में संप्रदाय के नैतिक उपदेशों का सार तथा अंतिम अध्याय विषयों का उपसंहार है।

### ४ हिंदी साहित्य का आदिकाल

प्रमत्त पुस्तक विहार राष्ट्रभाषा परिषद के तत्वावधान में लिए गए

पाँच व्याख्यानों का संग्रह है। इसका रचना काल सन १९५२ है हिंदी साहित्य का आदिकाल इतना सदेहास्पद है कि नियंत्रण में कुछ भी कहना ठीक नहीं होगा, और ऐसा कहना महज नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक के द्वारा हिंदी के आदिकाल पर अध्ययनपूर्ण प्रकाश डालने की चेष्टा की है और इस प्रकार हिंदी साहित्य के भूले हुए पृष्ठों तथा विवादिन तथ्यों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। हिंदी के प्रारम्भ और आदिकाल के सम्बन्ध में जितनी शक्तियाँ और भिन्न भिन्न विचारपाराएँ हैं उतनी संभवतः विश्व की किसी दूसरी भाषा के सम्बन्ध में नहीं हैं। किसी ने उसे चौथी और पाचवी शताब्दी से, और किसी ने सिद्ध साहित्य के प्रारम्भ के साथ ही साथ माना है, तो दूसरे ११ वीं शताब्दी में भी उसका प्रारम्भ मानने में हिचकते हैं। अतः विशाल सूक्ष्म दृष्टि से द्विवेदी जी ने विवाद को मिटाने का प्रयास किया है।

प्रथम व्याख्यान में प्रारम्भ से लेकर आज तक उसे पुस्तक का विवरण दिया गया है जिनमें आदिकाल के सम्बन्ध में विचार विमर्श किया गया है। द्विवेदी जी ने १० वीं से १४ वीं शताब्दी तक के साहित्य को अपभ्रंश प्रधान साहित्य कहा है और अपभ्रंश में उपन्यस्त साहित्य की चर्चा की है। साथ ही साथ वीरगाथा नाम की अनुपयुक्तता भी सिद्ध की है। इस प्रकार से विषय प्रवेश ही कहा जा सकता है।

द्वितीय व्याख्यान में आदिकाल की प्राप्त सामग्री के सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने अपना विचार व्यक्त किए हैं। इस काल की पुस्तकें तीन प्रकार में रक्षित हुई हैं। (१) राज्याश्रय पाकर और राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित रहकर (२) सुमरठिन मण्डप का आश्रय पाकर और मठों विहारों आदि के पुस्तकालयों में सुरक्षित पाकर और (३) जनता का प्रेम और प्रोत्साहन पाकर। इन तीन स्रोतों से प्राप्त सामग्री के आधार पर द्विवेदी जी ने अपना विचार व्यक्त किया है। उस काल का मध्य देश बहुत अधिक विद्युन्मय था और उस समय का कोई साहित्य कपो नहीं मिलता उसने वाग्ण का भी खोज किया है। इसी व्याख्यान के अन्त में उन्होंने प्राकृत अपभ्रंश और दक्षिण नापाया स्वर, अनुस्वार और व्यञ्जन विषय का नियम बताया है।

तृतीय व्याख्यान में आदिकाल में प्राप्त सामग्री का परीक्षण प्रारम्भ होता है। पृथ्वीराज रासो के बारे में जो ऊहापोह चलता आ रहा है इस सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने अपना परीक्षण के द्वारा एक नई वस्तु समझे रखी है। सभी शक्तियों का समाधान करते हुए कुछ नवीन स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं। पृथ्वीराज

रासो की जितनी भी प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं उनके सूक्ष्म निरीक्षण के पश्चात् द्विवेदी जी ने यह निश्चय किया है जितना अज्ञान गुक गुकी सवाद के रूप में है वही चद्रकत मूल रासो है, इस प्रकार से इच्छिनी शक्तिता तथा सयोगिता का विवाह वणन ही अप्रिप्त है, क्योंकि पूरे रासो में गुक केवल इन्हीं तीनों विवाहों का वणन करता है। इस मायना के लिए द्विवेदी जी ने कई उदाहरण भी दिए हैं। भाषा एवं शलीगत विचार भी दिए हैं।

चतुर्थ व्याख्यान में प्रेम कथानक कृतियाँ की चर्चा करते हुए द्विवेदी जी ने 'पद्मीराज रासो' की कथा के सौन्दर्य का सुन्दर चित्रण किया है। इच्छिनी विवाह के ऋतु वणन में द्विवेदी जी ने अपनी रुचि का परिचय दिया है। इस व्याख्यान में सयोगिता वाले प्रसंग को निस्सदिग्ध रूप में मूलरासो का सब प्रमाण अग मानते हुए द्विवेदी जी ने उसकी कथा का सुन्दर वणन किया है। इच्छिनी शक्तिता और सयोगिता के विवाह वणन में दो व्याख्यान दिये गये हैं, और इस पर अधिक से अधिक प्रकाश डाला गया है।

पंचम व्याख्यान छन्दों को लेकर चला है। द्विवेदी जी ने श्लोक, गायत्री और दोहा को प्रमाण सृष्टि प्राप्त और अपभ्रंस का प्रतीक माना है। दोहा और गायत्री की प्रवृत्ति का विशद वणन इस व्याख्यान में किया गया है। दोहा की परीक्षा सब दृष्टियों से की गई है। हमारे छन्द जैसे शादू लक्ष्मीहित और सातक की एकता सिद्ध की गई है। आदिकाल एवं भक्तिकाल में प्रयुक्त छन्दों तथा काव्य शलिया का निरीक्षण भी सूक्ष्मता से किया गया है, साथ ही विभिन्न प्राणों के साहित्य का हिन्दी साहित्य के साथ सम्बन्ध जोड़कर काव्यरूपों का तुलनात्मक अध्ययन किया है।

## इतिहास ग्रन्थ

### १ हिन्दी साहित्य की भूमिका

इसका रचनाकाल म.स. १९४० है। पष्ठ सख्या ३०२ उपसंहार सहित दस अध्याय हैं। अब तक कम पुस्तक के छ सस्करण निकल चुके हैं, इसी से इसकी लोकप्रियता का पना लगा सक्त है। कई लम्बे परिशिष्टों द्वारा वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्य का परिचय करा देने की चेष्टा की गई है।

भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास नामक दो अध्यायों में लेखक ने प्रथम से द्वा द्वार रूप पूर्वक साहित्य का लेकर अपभ्रंस एवं पुरानी हिन्दी का साहित्य का वणन एवं उसमें जो परिवर्तन हुए हैं उस भी दर्शाया है। तत्पश्चात्

बौद्धधर्म का अस्तित्व उसके भेद प्रभेद एवं काशी, मगध में बौद्ध धर्म का अंतिम दिन उसका हिन्दू धर्म में समावेश, महायान पर ईसाइया का प्रभाव, बौद्धधर्म का अंतिम दिन उसका हिन्दू धर्म में समावेश, महायान पर ईसाइया का प्रभाव, बौद्ध धर्म का लोकप्रणय होना, टीका काल, निबन्धग्रन्थ आदि का स्पष्ट वर्णन प्रथम अध्याय में मिलता है। दूसरे अध्याय में अपभ्रंश भाषा उस भाषा में कविता तथा तत्सम्बन्धी विषयों का विस्तारपूर्वक वर्णन एवं प्राचीन हिन्दी कविता के छ अंग का परिचय प्राप्त होता है।

तीसरे अध्याय में 'सतमत' में यागी जाति उससे कवीर का सम्बन्ध, निगुणमत का विस्तारपूर्वक वर्णन, कवीरदाम की भाषा, रूपक, उनका फक्कड़-पन आदि का विचार किया गया है। चौथे और पाचवें प्रमश भक्त की परम्परा में अभिनव तत्त्व से लेकर बालदार भक्त दक्षिण में जाचाप रामानन्द की भक्त परम्परा निगुण सगुण, गुरुनानक सूफी साधना का भारत में कये आविर्भाव हुआ जादि पर प्रकाश डाला गया है। 'योगमाग और सतमत' में परमपद प्राप्ति के तीन माग महाबुण्डलिनि शक्ति एवं इडा, पिंगला, सुषुम्ना तथा उन्मुनि रहनी, सहजयोग आदि पर विचार किया गया है।

सगुण मतवाद वामन छठवें अध्याय में 'अवतार क्या है' स्पष्ट करते हुए उनके मुख्य कारणों पर विचार किया गया है तथा तुलसी एवं सूर पर विशेष दृष्टिकोण से चर्चा की गई है। 'मध्ययुग के यत्नों का सामान्य विश्वास' नामक सप्तम अध्याय में चाह कवि जिस भी जाति का हो पर उसकी भगवान की स्तुति के प्रकार एक से होते हैं, इस पर जोर दिया गया है। उनमें बहूत सी बातें ऐसी होती हैं जो सबमें एकता का भाव लाता है। भिन्न भिन्न जाति के होन पर भी स्तुति, भक्ति, उसके वर्णन करने के ढंग एक से होते हैं इस बात को इस अध्याय में स्पष्ट कर दिखाया गया है।

आठवें अध्याय में भक्तिवालों के प्रमुख कवियों जैसे कवीर, नानक, सूर, तुलसी जैसे महान कवियों के व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है। रीतिकाल नामक नौवें अध्याय में पूर्वी आय, मध्य देगीय आय, हूण और कवीर आभीर ध्वनिसम्प्रदाय, रीतिकालीन हिन्दी कविता, गोपी गोपाळा के प्रेमकाव्य, गौडीय वैष्णवों के नायिका भेद से रीतिकाल के नायिका भेद की तुलना और अन्त में वारसमायन के कामसूत्र पर प्रकाश डाला गया है।

उपसंहार में लेखक बर्दिक साहित्य से लेकर आज तक अर्थात् आधुनिक साहित्य तक ऐसी सरसरी नजर से सब चित्र संक्षेप में सामने रख दिये हैं।



कि हम आश्चर्य होने लगता है कि अध्याय कैसे समाप्त हो गया। परिशिष्ट रूप में आठ अध्याय दिए गये हैं उनमें प्रथम ससृष्ट साहित्य का सन्निपत्त परिचय, महाभारत क्या है, रामायण और पुराण, बौद्ध साहित्य, बौद्ध ससृष्ट साहित्य, जन साहित्य कवि प्रसिद्धियाँ और स्त्री रूप का वर्णन किया गया है।

## २ हिन्दी साहित्य

इसका रचनाकाल स० २००६ है। उपसंहार सहित इसमें कुल दस अध्याय हैं। प्रथम अध्याय प्रस्तावना में हिन्दी साहित्य का अर्थ बताते हुए अपभ्रंश साहित्य, अपभ्रंश जन रचनाओं का वर्गीकरण सघभाषा, उलटवासियों की परम्परा पर प्रकाश डाला गया है। बज्जयानी सिद्धांत साथ नाथपथी सिद्धांत का सम्बन्ध एवं उसके साहित्य, गारसनाथ के पद नाथ साहित्य की अप्रामाणिकता तथा १०वीं शताब्दी तक के लाकभाषा साहित्य के मुख्य लक्षण पर विचार के साथ यह अध्याय समाप्त होता है।

द्वितीय अध्याय हिन्दी साहित्य का आदिकाल है। जिसका समय ई० १००० स १४०० ई० तक माना है। इस काल में प्राप्त दो प्रकार की सामग्री का वर्णन है। तदनंतर प्रामाणिक अल्पप्रामाणिक तथा तथा पथ्वीराज रासो के प्रामाणिक अथवा इन अर्थों की विशेषता पर विस्तार एवं गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है। ऐतिहासिक काव्य पर दृष्टि डालते हुए सदाशरसक पर प्रकाश डाला गया है तथा रासो की तुलना इसके साथ की गई है। कौतूहल की विशेषता काव्य स्वरूप तथा उमकी भाषा, कवित्व पर विचार करते हुए जतन गुवन जो एक महापठित राष्ट्र साहित्यायन के द्वारा इस काल के लिए लिये गये प्रथम धीरगाथा काल एवं सिद्ध सामग्री युग का वर्णन करते हुए आदिकाल इस नाम की स्थापना के साथ इस अध्याय को समाप्त किया है।

तीसरा अध्याय भक्ति साहित्य का आविर्भाव अर्थात् वास्तविक हिन्दी साहित्य का आरम्भ माना है। भक्ति साहित्य का आरम्भ बताते हुए उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन का वर्णन उस समय के प्रमुख महाप्रभु बल्लभाचार्य की चर्चा की गई है। नाथमठ और भक्ति मठ का वर्णन गुरु रामानुज रामानन्द तथा बल्लभाचार्य का प्रभाव साहित्य पर निम्नांकित रूप अध्याय के अंतिम पृष्ठ पर वास्तविक लाक साहित्य पर प्रकाश डाला गया है। चतुर्थ अध्याय निगूण भक्ति साहित्य का है। आरम्भ रामानन्द के निम्न परम्परा से माना है। नाथपथी योगियों से उनका सघक स्पष्ट करत हुए महाराष्ट्री हिन्दी कवि नामदेव और

जयदेव का वर्णन किया गया है। निगुण साधक कवियों में प्रमुख कवीर का विस्तृत वर्णन है। बीजक, रमनी साखी, शब्द भी इस वर्णन के अंतर्गत आ गये हैं। अतः मकवीर मप्रदाय और उनकी शिष्य परम्परा का चित्रण है।

पाँचवा अध्याय कृष्ण भक्ति साहित्य है। इसका आरम्भ नीलागाँव परम्परा से होता है। तत्पश्चात् इस शाखा के दीपफूल कवि गुरदास तथा उनकी रचनाओं पर विचार विस्तार स किया गया है। तदनंतर अष्टछाप कवियों तथा उनकी विशेषताओं का वर्णन है। अतः म कृष्ण भक्ति साहित्य के गुण दोषों पर विचार किया गया है। छठवाँ अध्याय सगुणमार्गी राम भक्ति साहित्य का है। इसमें तुलसीदास का देखा हुआ समाज उनकी आत्म परिचय, व्यक्तित्व, जम स्थान, उनके रचित ग्रन्थ, उनकी सफलता के कारण, समन्वय भाषा आदि पर गहन एवं गम्भीर विचार किया गया है। तत्पश्चात् अन्य कवियों का संक्षिप्त तथा इस साहित्य की विशेषता बताते हुए यह अध्याय समाप्त हो जाता है।

सातवा अध्याय प्रेम कथानकों का साहित्य है जिसने प्रेम कथाओं की परम्परा पर दृष्टिपात करते हुए सूफीमत का भारतवर्ष में प्रवेश जायसी तथा उनके द्वारा लिखा गया काव्य 'पद्मावत' पर सरसरा नजर डालने का प्रयास है। आठवाँ अध्याय रीति काव्य है। इसमें रीति जायों का सामान्य विवेचन करते हुए प्रमुख रीति ग्रन्थकारों पर प्रकाश डाला गया है। रीतिमुक्तधारा के कवियों एवं नीति काव्य के रचयिता आदि का वर्णन भी संक्षेप में मिलता है।

नौवा अध्याय आधुनिक काल है जिसे सन १८०० से १९५२ तक द्विवेदीजी ने माना है। गद्य युग का आरम्भ बताते हुए प्राचीन गद्य पर विचार किया गया है। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में हिंदी गद्य का सूत्रपात दिखलाते हुए प्रमुख गद्य निर्माता जस मुशी सदासुखलाल, लल्लूलाल तथा मुशी इत्यादि अल्लखानों पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय खण्ड में परिमार्जित भाषा और साहित्य का आरम्भ बताते हुए नवीन शिक्षा का प्रचार और उसके प्रति विद्रोह का वर्णन है। आय समाज की स्थापना, उसकी प्रतिप्रिया का वर्णन है। तृतीय खण्ड में भारत दुका उदय और उनके प्रभाव का वर्णन है। चतुर्थ खण्ड में १९०० से १९५२ तक के साहित्य विकास को दिखाया है। इसी खण्ड में अंतिम पट्टों में प्रमुख लेखकों की प्रमुख रचनाओं की सूची दे दी गई है। पाँचवें खण्ड में छायावाद और रहस्यवाद की अलग अलग प्रवृत्ति मानते हुए रहस्यवाद को छायावाद की शैली मात्र नहीं माना है रहस्यवाद में एक परास्पर असीम के प्रति आस्था को आवश्यक माना है। इन्होंने रहस्यवाद की दो धारों को दे दी हैं। एक चिंतन मान प्रदान जिसका प्रतिनिधित्व 'प्रसाद'

करते हैं और दूसरी भावना और अनुभूतिप्रधान जिसका प्रतिनिधित्व 'महादेवी' करती है। इन्हीं दो कवियों को मुरुमता दी गई है। छठवाँ खण्ड प्रगतिवादका है।

दसवा अध्याय उपसंहार है। द्विवेदी जो हिन्दी की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि हिन्दी में आश्चर्यजनक अदभुत शक्ति है और उसमें युग सत्य को पहचानने की क्षमता है अतः हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल है।

## निबन्ध पुस्तकें

### १ अशोक के फूल

अशोक के फूल साहित्यिक निबन्धों का संग्रह है। इसकी पृष्ठ संख्या २०८ एवं २१ निबन्ध हैं। इन निबन्धों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है वस्तुतः लेखक की सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास सम्बन्धी जिज्ञासा ही इनके रूपों और विषयों का आधार लेकर प्रकट हुई है। इस पुस्तक में उनके कई प्रकार के निबन्धों का दर्शन होता है। जैसे सस्मरणात्मक चिन्तनात्मक, अनुसंधान एवं गाम्भीर्यपूर्ण शोधप्रेरक सांस्कृतिक ज्योतिष सम्बन्धी व्यक्तिक निबन्ध आदि।

प्रत्येक निबन्ध में काव्यप्रियता तथा कल्पनाशीलता देखी जा सकती है। मरी जन्मभूमि नामक निबन्ध जो शायद इस पुस्तक का सर्वश्रेष्ठ निबन्ध है इसका ज्वलंत उदाहरण है। वस्तुतः आ गया है 'अशोक के फूल' में आपने सांस्कृतिक वंश का निकट से देखा है। आप विश्वास पूर्वक कहते हैं वह संस्कृति का स्वरूप, किसी धर्म, विश्वास, आस्था परम्परा जाति समूह या दल विशेष से सम्बद्ध नहीं समस्त भारत भूभाग में फला फूला है। इसी तरह 'प्रायश्चित्त की पट्टी' में लेखक विगत युद्धकाल के क्षात्र की समस्याओं पर विचार करने बैठता है। भारतवर्ष क्या है, प्रश्न का उत्तर ढूँढता है और वर्णाश्रम धर्म से समग्र इतिहास का आलोचन कर आनता है।

निबन्धों के बीच में कभी कभी पाठकों को गूढ़गूदान के लिये और कभी कभी स्वतंत्र रूप से साहित्य की किसी प्रवृत्ति विशेष पर आप बड़ा ही मुदर व्यंग्य करते हैं। क्या आपन मरी रचना पनी है? शीघ्र निबन्ध में आप कुछ आलोचकों पर व्यंग्य करन हुए निरसन हैं 'निश्चित जानता हूँ कि रहस्य वाली आलोचना निरसन कुछ हसी खेल नहीं है। पुस्तक को छत्रा तक नहीं और आलोचना एसी चिन्मा कि प्रलायण विवर्धन घट क्या कम साधना है? 'अशोक के फूल' के निबन्धों में भावुकता तथा विचारा का प्रकाशन अधिक है।

## २ विचार और वितर्क

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के २२ निबंधों का यह सकलन दूसरी बार प्रकाशित हुआ है। इसमें कुछ नये निबंध जोड़ दिए गए हैं और कुछ पुराने निबंध छोड़ दिए गये हैं। उनकी पृष्ठभूमि विशद है और वे एक व्यापक क्षेत्र का स्पष्ट करते हैं इसलिए उनमें साहित्य दर्शन भक्ति, सस्कृति इत्यादि की अनेक जटिल गुटिययाँ समाहित हैं। इन गुटिययो पर लेखक ने गहराई से विचार किया है और हर जगह कोई न कोई नवीन व्याख्या देने की चेष्टा की है। सभी निबंध एक ही जाति के नहीं हैं परंतु प्रायः सबका के द्रीय विषय साहित्य ही है। जिसमें कुछ निबंध तो बहुत ही सुंदर बन पड़े हैं जैसे प्रमथद्र का महत्व सत्य का महसूल, गतिशील चिंतन और जबकि दिपाग खाली है—इत्यादि। हिंदी के भक्ति एवं सतकाम्य पर जितने भी निबंध हैं उनमें हमें नवीन प्रकाश मिलता है। सधेय में सस्कृति और साहित्य पर प्रकाश डालने वाले ये सभी निबंध विवेचनात्मक और अभ्ययनपूर्ण हैं।

## ३ विचार प्रवाह

विचार प्रवाह समय समय पर लिखे गये लखो जीर्ण भाषणा का संग्रह है। कुछ निबंध पहले के हैं और कुछ हाल के। इस संग्रह में कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर की एक कविता का अनुवाद भी है। जो द्विवेदी जी को बहुत प्रिय है। इसका प्रकाशन सन् १९५६ जुलाई में हुआ था। कुल इक्कीस निबंधों में एक भाषणा का संग्रह है। इसमें विशेषकर साहित्यिक निबंध और शोध सम्बंधी निबंधों को रखा गया है। एक निबंध तो वही है जो 'साहित्य का मर्म' नामक किताब का दूसरा व्याख्यान है। हिंदी के भक्ति एवं सतकाम्य पर जितने भी निबंध हैं उनमें हमें नवीन प्रकाश मिलता है। द्विवेदी जी विषय की गहराई में दूर तक प्रवेश करते हैं और वहाँ से लाकर एक चमत्कारिक निष्कर्ष हमारे सामने प्रस्तुत कर देते हैं। पुरानी बातों को नवीन ढंग से कहने की कला में वे पटु हैं। उनकी शैली में ओज है और उनमें हमें गहराई तक पहुँचा देने की विचित्र शक्ति है।

आपके निबंधों के अनेक विषय हैं। विषय के अनुसार आपकी भाषा बदलती रहती है। भाषा आपके व्यक्तित्व के प्रतीक हैं। उनमें सस्वन का पूर्ण सम्भव लोच जीवन की समूची सरमता और भावाभिभ्यक्ति की समस्त क्षमता है। भाषणों में उत्साह प्रवाह रोकना नहीं जा सकता। आवेश आने पर आपकी शैली

प्रशंसात्मक हो जाती है।

## ४ हमारी साहित्यिक समस्याएँ

प्रस्तुत पुस्तक बारह साहित्यिक एवं समीक्षात्मक निबंधों का संग्रह है। पृष्ठ संख्या २२७ है और रचनाकाल सन १९४६ है।

पहला निबंध संस्कृत और हिंदी है। इसमें आपन बताया है कि पुराने जमाने में आसनु हिमालय एक संस्कृत भाषा थी पर अब वह भाषा नहीं है पर हिंदी उस भाषा का काम कर सकती है। कविता का भविष्य गीतक में प्राचीन जमाने की कविता के क्षय का वर्णन करते हुए बताया है कि आजकल कविता का क्षय समुचित हो गया है उसका कारण भी बतलाया है कि जपाने के साथ हमारी-आवश्यकताएँ रक्त-सहन, हमारा दक्षिण सब कुछ बल गया है अब इन प्रभावित करने वाले साधन भी बलना चाहिए यदि इस सत्य को मोहवग स्वीकार न करेंगे तो कविता का भविष्य निश्चित रूप से अच्छा नहीं है।

'हिंदी की शक्ति' नामक निबंध 'मुगर हिंदी परिपत्र' में सभापति पद में दिया हुआ पाठ्यपत्र ही है। इसमें आपन हिंदी की वर्तमान शक्ति को बताने हुए कहा कि हिंदी के साहित्य का समझ करने के लिए हम गहड़ की महान भूख के समान साहित्यिक क्षुब्धता का महान पुरुष की आवश्यकता है। और उद्दान यह भी कहा है कि साहित्य सम्मेलन नागरी प्रचारिणी सभा के साथ-साथ हम सबका भी मजबूत शक्ति का लेकर साहित्य क्षेत्र में उतरना चाहिए।

भारतीय साहित्य की प्राणशक्ति नया साहित्यिक दक्षिण, साहित्य निर्माण का लक्ष्य हिंदी प्रचार की समस्याओं में आपने क्रमशः प्राचीन साहित्य पर विचार किया है। 'हिंदी का प्रचार कसा हो' एवं राष्ट्रभाषा के प्रचार और प्रसार तथा उसे कायम रखने का उपाय बताया है।

रम का व्यावहारिक अर्थ एवं 'रम क्या है इन दोनों निबंधों में क्रमशः प्राचीन आचार्यों की रम का प्रति विचार-विधि को समझाने हुए बताया है कि भारत के पूर्ववर्ती कायम ही रम का अर्थ श्रद्धा ही समझा जाता था। काव्यांगों में रम या श्रद्धा का स्थान अनुत्तरीय था, बताया है। 'रम क्या है' नामक शोध में धर्म के प्रतिष्ठता और दक्षिण की चर्चा एवं रम के प्रति उनका मन को बतलाया गया है। और यह भी बतलाया है कि उनका विश्वास एक अनौपचारिक दृष्टान्त में था।

‘साहित्य का नया रास्ता’ नामक निबन्ध में तत्काल साहित्यकारों को दो बातें याद रखन के लिये बतलाइ है, वे हैं—जान, सी दय, कल्याण के अस्थायी परिवर्तनशील रूप के साथ स्थायी शाश्वत रूप की अम्बीकार नहीं कर सकेंगी और न यही अम्बीकार कर सकेंगी कि उनका नाम सहस्र्य के हृदय में स्थायी रूप में विद्यमान भावा का उद्बोध है। इन दो बातों को मान कर ही देश में अपना प्रभाव विस्तार कर सकेंगी।

अंतिम दो काव्यनित्य वार्तावाप रीतिकार्य और दृष्टिहास का सत्य दोनों कल्पलता के ‘साहित्य का नया कदम’ से मिलत जुतते हैं। इन दोनों का समाहित रूप ही साहित्य का नया रास्ता कहा जा सकता है।

## ६ कल्पलता

प्रस्तुत पुस्तक में द्विवेदी जी के समय-समय पर लिखे गए २० निबन्धों का संग्रह है। पृष्ठ संख्या १६४ और रचनाकाल संवत् २००८ है। निबन्ध सलक के रूप में द्विवेदी जी की निबन्ध लेखन शैली, बटुपना, दृष्टि व्यापकता तथा जीवन में आनवाणी छाटी छाटी घटनाओं के प्रति संवेदनात्मक अनुभूति का परिचय मिलता है। कुछ निबन्ध हमारे वर्तमान हिन्दी साहित्य की गतिविधि का निर्देश करते हैं। कुछ निबन्ध व्यक्तिगत नियम हैं और कुछ निबन्धों में हिन्दी साहित्य की उप्रति में सलकन सस्याओं तथा व्यक्तियों के उपाय निर्देश किए गए हैं। एक दो निबन्ध उपोनिषत्त गम्भीर हैं। प्रथम निबन्ध ‘नाखून क्या बढ़ने है’ इत सरल जिज्ञासा पर उच्चार करते करते सलक पणुता और मनुष्यता के मूल्य पर विचार करन लगता है। ‘जाम फिर बोरा गये की चर्चा करते हुए बहू कालिदास के युग जीवन की चर्चा करन लगता है। ‘ठाकुर जी का बटोर’ में ठाकुर जी के प्रति लोगों की उदासीनता की बात सोचते सोचते आप कल्पना जगन में सारा प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक रगमच और उस पर होन वाले अनेक परिवर्तन सनीव हा उठन हैं। डा० देवराज उपाध्याय का कहना है कि द्विवेदी जी एक साहित्यिक साधन हैं, वे निष्पत्ता से अपने ऊपर चिपटे छिपने को पेंक लेंगे पर अपन अदर ग निरन्तर हुए चमड पर ही अ य थ्येणियों के सत्य की कल्प लगायेंगे। चाहें वे नाखून की बात करें, आप के बीरान की क्या कह, शिरीष के पून पर कुछ कहें या ‘ठाकुर जी की बटोर’ की ही चर्चा करें पर इनके तिलसित्त में आप से कुछ ऐसा बातें कह ‘जामेंग जो लाख हय की हा। कान्ता सम्मत और सहृदय सम्मत का प्रत्यक्ष उदाहरण यदि आपको दखना हो तो

आपकी 'कल्पना' से अत्यन्त ज्ञान की आवश्यकता नहीं।' कल्पना के निवर्धों को पाने पर पाठक अपने की अधिक समझ अधिक जानवान और अधिक समय पाता है और मनुष्य के अतस्तल में एक विचित्र रासायनिक परिवर्तन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है और मानवता की उच्च, सीढ़ियों पर चढ़ता सा अनुभव करता है। 'साहित्य का नया कदम' में आधुनिक साहित्य की गतिविधि पर ऐसे सुलझे और सतुलित विचार हैं जो जय नहीं मिलते। इसमें एक काल्पनिक बार्नालाप है और अनेक मतधारी साहित्यिकों के विचारों को पारस्परिक रूप में सम्बद्ध करके देखने की चेष्टा की गई है। आधुनिक प्रगतिवादियों का प्राचीनों पर क्या हुआ व्यंग्य, प्राचीनों द्वारा आधुनिकों पर किया गया मुक्ति प्रहार, उभय पक्ष को ग्रहण करने वालों के द्वारा कभी इस पक्ष पर, कभी उस पक्ष पर ली गई मोठी चूटकी पाठका के हृत्प में एक विचित्र गुदगुदी पैदा कर देती हैं। 'समा सोचक की डाक' महिनापों की लिखी कहानियाँ, मनुष्य की सर्वोत्तम कृति साहित्य इत्यादि निबन्ध अपने में महत्वपूर्ण हैं जिनमें लेखक ने अनेक रूप से हमारे ज्ञान की अभिवृद्धि की है।

### ७ साहित्य का मर्म

इसका रचनाकाल सन १९५० है। पृष्ठ संख्या ७८ है। यह पुस्तक लखनऊ विश्वविद्यालय में दिए गए तीन व्याख्यानो का संग्रह है। साहित्य का मर्म समझने से पहले हम यह देखना चाहिए कि द्विवेदी जो 'साहित्य का अर्थ क्या समझने हैं?' उलान विज्ञा है कि वस्तुतः साहित्य का अर्थ का प्रथम प्रयोग कुतर्क न किया है और का अर्थ के ऐसे विविष्ट सादृश्य के अर्थ में किया है जिसमें वक्रता के कारण विभिन्न गुणों और अलंकारों की गोभा एक दूसरे से स्पर्शा करती हैं आग बर रही है। लेकिन का और अर्थ सामाजिक सम्बन्धों के प्रतीक हैं। का अर्थ के 'साहित्य की लहर बार बार करने वाली विद्या निश्चित रूप में मनुष्य के सामाजिक रूप की व्याख्या करती है।

साहित्य का अर्थ है कला पण एव वस्तु (मर्म) पण। आज काव्य की कारोगरी की विवचना गौण हो गई है। उनका पर्मण्य का विचार ही प्रधान हो उठा है। द्विवेदी भी मानते हैं कि काव्य कवन कोणल (कला) नहीं है, वह

मनुष्य को उच्चासन पर बैठाने का मानन भी है। या भारतीय साहित्य ही नहीं पश्चिमी साहित्य भी साहित्य के मम से युक्त है। अपने 'मम' पर विचार कर चुका है—मम को प्रकट कर चुका है। पर प्रथम अध्याय में डा० द्विवेदी ने यह दिखाया है किम प्रकार स्व मामयिक परिस्थितिवश प्राचीन भारतीय साहित्य का परवर्ती रूप उत्तरोत्तर कला प्रधान होता गया। साथ ही दूसरे अध्याय में उन्होंने यह बताना चाहा है कि उसी ससृष्ट साहित्य का पूर्ववर्ती रूप किस प्रकार मामयिक है। न केवल भारतीय ही प्रत्युत पश्चिमी साहित्य को भी अपेक्षित सास्कार सपन्न दृष्टि से देखा जाय तो वहाँ भी यही चीज मिलगी। उन्होंने कहा है दोनों ओर दा दृष्टियाँ हैं एक समाज की सामाजिक व्यवस्था को अनालोडित रखने के उद्देश्य से सामाजिक मंगल के रास्ते चलकर प्राप्त की गई है और दूसरी व्यक्ति मानव के मनोवर्गों का निरीक्षण करके उपलब्धि की गई है। हमारे देश के यनीषियों ने कभी भी उस (काव्य का) विश्वजनीन नैतिक पठभूमि से निम्नस्तर पर रखकर विचार नहीं किया।

इसी स्वर में जहाँ तक द्विवेदी जी के चिंतन का सम्बन्ध है व मानते हैं कि जीवन धारण करना ही मानव जीवन की चरितायता नहीं है। जहाँ तक केवल जीवन धारण करने का प्रश्न है, मनुष्य प्रयोजनों में यथा दृष्टा है। मनुष्य अपने को प्रयोजन के जगत से बाहर भेजना चाहता है—पाशव स्तर से ऊपर उठाना चाहता है। प्रयोजन पूर्ति का स्तर पाशव स्तर है, प्रयोजन की समाप्ति से ऊपर उठना पाशव स्तर से ऊपर उठना है तभी 'मनुष्यता' की गुरुश्रांत होती है। प्रयोजनातीत पदाथ का ही नाम मोक्ष है, प्रेम है, भक्ति है मनुष्यता है। जहाँ स्वायत्त समाप्त होता है, वहीं स मनुष्यता गुरु हाती है। इसी की उपलब्धि जीवन की चरितायता है। जीवों की चरितायता ही काव्य का अभिप्रेत है। मनुष्यता ही काव्य का प्रतिपाद्य है—वही साहित्य का मम है।

आज का तृष्णाकुल एवं अभाव ग्रस्त जगत आज तृष्णा को गात करने के लिए तेजी से उन्मुख है—पर क्या वह तृष्णा की आग को कभी बुझा सकेगा? नहीं, अतः विवेदी जी का तो यह ख्याल है कि आज तो उस वस्तु की होनी चाहिए जो उसे प्रयोजनातीत 'सत्य' की ओर ले जाय। निनात उपयोगिता की दृष्टि से भी दखा जाय तब भी यह तो मानना ही होगा कि मानव दृष्टता एवं सकीणता से ऊपर उठाने वाला धर्म भी उपभा न ही करे। यही धर्म मनुष्यता है। कलामय आज सगजा में आवग को बाधन वाल छ'दों में प्रस्तुत उक्ति 'सूक्ति' है उमम गति है। पर गति ता जड का भी धर्म हो सकती है। काव्य में तो प्रगति चाहिए। यह चेतनाधर्म है। 'गति' में अ (प्रकप) का योग मनुष्यता



की प्रतिपाद्य बनाने पर होता है। इसी का वाचन सम्पन्न भूषित को काय्य बनाता है। इस प्रकार सन साहित्य वही है जो आत्मव्यम (प्रगति) के प्रति सचनन बनाये। मनुष्यता की मात्रा का भी देखेंगे कि उसने आत्मिक वही जान वाली मनोवृत्तियों का हाथ अपने का छोड़ नहीं दिया, प्रयाजन की समीपता की बड़िया से अपने को बाधन नहीं किया—मन बुद्ध का रीत्कर वह आगे बन्ती जा रही है साहित्य वही है जो इसकी प्रगति में महायत्न हो। विकासवादी दृष्टिकोण में भी देखें तो मनुष्य का धरातल है की अपना 'चाहिए' की जोर प्रगतिशील होकर जितना ही मनुष्य होता जाता है—उतना सकीपता का बपर तादात्म्य की आर बन्ता जाता है और उसकी अंतिम सीढ़ी 'एकता अनुभव है। यह एकता की अनुभूति ही मनुष्य की धरम मनुष्यता है। एकता की प्राप्ति का प्रयास पिछले दिनों भी हुआ था पर यत्तिगत साधना से। आज उस महत्व को प्राप्त करने के लिए समूचे समाज का प्रयत्न, सामूहिक रूप में होना चाहिए। इसी मनुष्यता का आनन्दमय रूप उच्चलित होता है तब साहित्य की सृष्टि होती है।

यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि तथ्य जगत से गाढ़ भाव से सम्बद्ध होने पर भी साहित्य का सबसे अधिक सस्पर्श मानसिक जगत से है—और कदाचित्त इसीलिए आज के तरुण साहित्यकार मनाविज्ञान के नवीन आविष्कारों के पीछे पड़ गये हैं। पर सचाई यह है कि मानवोन्भावित महान मानराशि का यह एक कण ही है। कभी कभी पदाथ विज्ञान एवं जीव विज्ञान से आविष्कृत तथ्यों से मनोविश्लेषण शास्त्र निमित्त तथ्य कमल पड़ जाते हैं। अतः उस सब सचाई से मिलाकर ही ग्रहण करना चाहिए। मनाविज्ञान भी क्या निर्यात दासता को बनावा नहीं देना। समय एवं विषय की निन्दा नहीं करता 'चाहिए' की ओर के प्रयास की कृत्तित्व नहीं बताता।

## ध्यानुवाद

### १ प्राचीन भारत का फलात्मक विलास

इस पुस्तक का आरम्भ इस श्रुति से होता है—इस वृत्त में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस पुस्तक की भूमिका में कहा है—शांतिनिकेतन की भारतीय संसद ने नवम्बर १९०६ में आत्मिक अनुष्ठान के व्यावहारिक पहलू का प्राचीन काय्य प्रयोग में जो उत्तम मिला है उस पर दो व्याख्यान देने का अनुरोध किया था। इस पुस्तक का आरम्भ इसी बहाने हुआ था। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों, नाटक, उपाख्यान, मूर्ति उपनिषद् और वेद मन्त्रों का आधार लेकर सामारण जनता के नित्य के

कार्यों उदासता और विनोद अवसरा का ऐसा सुंदर वणन किया है कि आंखों के सामने दृश्य का साक्षात् स्वरूप नतन बनन लगता है। जीवन, कला और स्या पर्य से सम्बन्ध रखन वाले तिरपन विषया की इसम चर्चा है। उदाहरण के लिए जहाँ विनोद के पत्रगण हैं वहाँ पञ्चवीसा पत्रिया का और बाग-वगीचा का वणन है, वहाँ वीविद्याओं और पुष्पों का बहून ही कलात्मक वणन किया गया है। रंगदाला की, नाटका की मंगीत, मदनात्मन, उज्जानवात्रा आदि की चर्चा बड़े ही मनमोहक रूप में की गई है। जहाँ कला, कदाओ की प्राचीनता का प्रकृत्या का विवेचन है वहाँ दूमरी जोर कला का दार्शनिक अर्थ और कला के प्रकार और कला के उपयोग आदि का स्पष्ट रूप से वणन है। गणिका आज बड़े तिरस्कार की दृष्टि से देखी जाती है परन्तु इस पुस्तक से पता होता है कि प्राचीनकाल में वश्याया के भेद होते थे और गणिका नाम में उन्ही का सम्बोधन होता था जो कला, गान और सस्कृति में बहुत उच्चकाटि की मानी जाती थी और सारा समाज उनका आदर करता था। यही नहीं इस पुस्तक में काय शास्त्र विनोद काव्यकला, विद्वत्सभा आदि विषयों का रोचक वणन है।

अतः परिशिष्ट के अंतगत चार प्रकार के विषय देन से इस पुस्तक की भृत्ता और भी बढ़ गई है। गुद्विपन नामक एक पृष्ठ दकर रही सही गलतियाँ की दूर करन का प्रयास है। इस पुस्तक में केवल प्राचीन युग की याकी ही नहीं मिलनी बरन् प्राचीनता के प्रकृति प्रेम और उनका जीवन की उमंग और उत्साह का भी दर्शन होता है। प्राचीन आर्थों में केवल अध्यात्मिकता में ही विश्रपना नहीं प्राप्त की थी अपितु उनका लौकिक जीवन भी उनना ही सम्पन्न और कलाभय था जितना उनका अध्यात्मिक जीवन।

## २ प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने स्वयं प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद नामक पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि 'यह पुस्तक मरी पुरानी पुस्तक 'प्राचीन भारत के कलाविनास' का परिवर्धन और परिवर्धित रूप है। पत्रा विलास बहुत अशुद्ध छपा था इसमें उन अशुद्धियाँ का दूर कर दिया गया है। बहुत से नये विषय इगम जाड निय गये हैं। इस प्रकार यह पुस्तक प्रायः दूसरी पुस्तक बन गई है। इसलिये इसका नाम भी योना परिवर्धित कर दिया गया है। इगम कुछ प्राचीन चित्रों की प्रतिलिपि भी दी गई है जो वक्तव्य को ठीक-ठीक समझन में सहायक सिद्ध होगी। प्रस्तुत पुस्तक अपने ढंग की महत्वपूर्ण रचना है। इगम ८८ विषयों की चर्चा है। तिरपन विषय और परिशिष्ट तो वही हैं

जो कलाविलास में हैं पर उनमें भी कुछ सुधार किये गये हैं, अब छत्तीस विषय इसमें जोड़ दिये गये हैं पर फिर भी पठो की संख्या कलाविलास से कम है। विषय जान कराने की दृष्टि से अपन में पूर्ण है। कला सम्बन्धी करीब दस पाठ जो इसमें जोड़ गये हैं सुन्दर और जानबद्धक हैं। दैनिक कार्यों में आने वाली वस्तुओं का सूक्ष्म चित्रण किया गया है। जैसे मुखप्रणालन और दातून केश मस्कार, अधर और नाखून की रंगाई, ताबूल सेवन। स्नान भाजन भोजनोत्तर विनोद आदि के बारे में लिखकर मानो पाठकों की रुचि का संस्कार किया गया है। इन पाठों को बार-बार पढ़ने का मन करना है इसके अनिश्चित अनेकों विषय ऐसे हैं जो पाठकों की रुचि का जवरन ही पड़ा करते हैं जैसे गुरु सारिका शकुन, सूक्ति, वीणा कल्पवल्ली भित्तिचित्र लेखन सामग्री इत्यादि। अभिनय सम्बन्धी कुछ नये प्रकरण भी जोड़े गये हैं जो वास्तव में पुराने जमाने के अभिनय और उस जमाने में अभिनेताओं की समाज मर्यादा क्या थी, दिखाने में समर्थ हैं। कवियों की आपसी स्पर्धा नामक शीपक उस समय के विद्वानों का पाठोत्तर को दिखाने में काफी सामर्थ्य रखता है। इस प्रकार एक सौ तिरसठ पठों की यह पुस्तक प्राचीन भारत का कलात्मक विनोद को प्रत्यक्ष रखने में समर्थ है।

### ३ लालकनेर

इसका रचनाकाल सन १९५८ है। यह रवीन्द्रनाथ की पुस्तक का अनुवाद मात्र है। इसमें कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ने किसी समस्या को सुलझाने का प्रयत्न नहीं किया है अपितु वर्तमान मानव जीवन को जो मशीन आदि से अव्याहत हाँ चुका है, उससे उनका अंशको अत्याचारों की भोगना पड़ा है। उससे मुक्त करने के लिए कवि की एक विशेष दृष्टि है। यदि कथानक की समस्या का रूप देना हो तो कहा जा सकता है कि इस नाटक में रवीन्द्रनाथ ने सृष्टि या व्यक्तिगत जीवन के उस वर्तमान रूप पर प्रकाश डाला है जो मनुष्य को जड़ कर देता है उस कबल एक दो तीन चार की संख्या से अधिक कुछ नहीं मानना। मानों बड़े तीन में एक की दृष्टि वस्तुमात्र है। जिस चाह जिस नम्बर से पुकारा जा सकता है। एमीलिए उद्दान कही कहा है, मनुष्य निदम होते हैं मानव कर्णवान है।<sup>१</sup>

सृष्टि जीवन की यही निमम व्यवस्था इस रूपक में यशपुरी के

अगोचर और दुग्म राजा के रूप में प्रस्तुत की गई है। यहाँ का राजा एक अत्यन्त जटिल जाल के आवरण के अन्तर्गत में रहता है। महान में जहाँ उसका जाल का आवरण है वही स्थान इन नाटक का एकमात्र दृश्य भी है। इस स्वर्ण पुरी में सुवर्ण के क्रूस पर प्रभु यीशु की जीवित लटका दिया गया है। इस मिथ्या राजा के विपरीत विरोध करने के लिए सम्पूर्ण मानव रूप में नदिनी का आविर्भाव हुआ। नारी सुलभ सहज बुद्धि से नदिनी जान गई है कि जीवन का चरम विकास प्रेम में ही है। उसके स्पर्श में सजीवनी शक्ति है—उसके छूते ही सख्या को नामा में दिव्यों का व्यक्तियों में परिणत कर देती है। चिर अदृष्ट लाभ के जटिल सगठन के साथ नदिनी रजन विगु जैसी सरल आत्मा का मघप होता है जिसमें अन्त में इन्ही भोले मानव प्राणियों की विजय होती है। नारी की शक्ति पर रवीन्द्रनाथ को विश्वास था, हमारी इस लाभ सकुल, मशीन निर्मित सम्पत्ता को गले तक डुबाने वाला मोह और विनाश के पक्ष में नारी ही मुक्त कर सकती है, निकाल सकती है। इसीलिए इस रूपक की नायिका नदिनी है।

लालकनेर के अदर कवि का एक गूढ भाव एवं बढ़ता उदात्त सदस्य छिपा हुआ है। मनुष्य आज गति के लिए 'पाकुल' है पर यदि उम अपनी व्याकुलता को दूर करनी हो उसे किसी बुद्ध या यीशु की क्षरण लनी हाणी।

## सपादित ग्रन्थ

### सदेश रासक

द्विवेदी जी ने अच्युत रहमान इन सन्ध रामक (आलोचना हिन्दी अनुवाद और अवचूरी व्याख्या सहित) का सपादन किया है। प्राक्कथन में स्वयं द्विवेदी जी ने कहा है कि "सदेश रासक" अपभ्रंश का बहूत ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। मैंने अपने प्रिय ध्यान विभक्तनाथ त्रिपाठी के साथ इसका नये सिरे से सपादन किया है। इस ग्रन्थ के सपादन काय में अनेक जगह से और अनेक प्रायों से सहायता ली गई है। मुद्रित प्रति के अतिरिक्त एक पूरी और एक अत्यधिक अपूर्ण प्रति का भी सहारा लिया गया। जयपुर के आमेर जन ग्रन्थ भण्डार की प्रति बहुत महत्वपूर्ण है। दूसरी प्रति वस्तुतः एक पन्नामात्र है जो द्विवेदी जी को अपने मित्र-डॉ० रामसुरेश त्रिपाठी जी के सग्रह में मिली। यद्यपि यह अत्यन्त अपूर्ण प्रति कही जायगी पर एक दो पाठों के निणय में इसने बड़ी भारी सहायता दी है।

इसका संपादन सन १९६०माच म हुआ है। इसकी प्रस्तावना म द्विवेदी जी ने लिखी है। प्रस्तावना म द्विवेदी जी ने सदेगरासक का समेप म परिचय दत हुए लिखा है कि सदेशरासक मुनिजिनविषय जी द्वारा संपादित बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रंथ है। यह सबप्रथम मुसलमान लेखक अबुल रहमान की बहुत ही सुन्दर रचना है, जो नाना दृष्टियों म महत्वपूर्ण है। जिन तीन प्रतियों के आधार पर मुनि जी न इसका संपादन किया है उनम एक तो मूलरूप म उपलब्ध सदेशरासक की प्रति है, लकिन दो म संस्कृत छाया असे टिप्पणक या टीकायें हैं। इनमे साम्य अधिक है, वषम्य कम। दूसरी टीका मे जिसे अवचूरिका कहा गया है, इस प्रकार की कोई बात नहीं कही गई है। इधर जयपुर के दिगम्बर जन मण्डार की कृपा स सदेशरासक की एक और दुबभ हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है उसके बारे म लिखने हुए द्विवेदी जी कहते हैं उसम जो टीका है वह अवचूरिका स भिन्ननी जलनी है। इस पुस्तक म आरम्भ क पत्रा नहीं है। आदि म खण्डित एव अ न म कुद्र उ लेख न होन स यह पत्रा नहीं बन सका कि टीका का नाम क्या है और लेखक कौन है। इन दोनों टीकाओं के उन शब्दों का विचार किया है जा शब्दों म एक मे है तथा शब्दों टीकाकारा द्वारा उनके प्रयोग की भिन्नता बनवाने हुए किम प्रकार प्रयोग होता चाहिए और क्या होता चाहिये इस पर लेखक न प्राय सभी स्थानों पर बड़े गहरे अन्वयन एव खोज के पश्चात् अपना अभिमत दिया है। उदाहरणाय द्वितीय प्रश्न के चवानीसवें दोहा का लें तो इसकी विन्ता पारित्य गहरा अन्वयन आदि का सहज ही पत्रा बन जाता है। दोहा का अर्थ 'अद्विगणिय अइ का अर्थ टीकाकारा ने नहीं किया है। यही तत्वक अरना मत देने हुए वचात हैं जान पत्ता है कि यह शब्द कृत्तिकार या कृत्तिकर म बना है तिसका अर्थ मायावी जादूगर और खल तमागा दिखाने वाला होता है। लेखक कहन है 'अद्विगणिय अइ स्वीकार करने स एक मात्रा अधिक ले जानी है ज प्रति का अद्विगणिय पाठ छ' और माया दोनो दृष्टियों स उचित है। अर्थात् अर्थ अभिनीत किया जा रहा है' जाना चाहिए। टीकाकारो न इसका अर्थ 'अभिनीयन किया है। टिप्पणकार न इसका अर्थ 'अभिनीयते' किया है जा कर्त्तव्य स्तुत्यर्थ अभि पूर्व नु धानु म बना है। प्राकृत शब्द मन्त्रात्त म 'अन्ति' का अर्थ स्तुति करना या 'प्रशमना दिया हुआ है। संभवत यही अर्थ छान म स्मरक अवचूरिका क लेखक न उच्चपते' जय किया है। लकिन 'अ प्रति का—अद्विगणिय पाठ स्वीकार कर लिया जाय तो इसका अर्थ अन्त स्वप्न हा जानना। रामायणमभिनीयन अथवा रामायण का अभिनय किया जा रहा है। इस प्रकार इस मन्त्रात्त एव परिवर्तित रूपों को दग्धने स हम स्वयं पारित्य का सहज ही जान हा जाना है।

सदेशरासक की भूमिका विश्वनाथ त्रिपाठी जी ने लिखा है जो द्विवेदी जी के शिष्य हैं। भूमिका में 'रासक का विकास' नामक शीर्षक में रास, रासक, रासो और रासा शब्दों से अभिहित साहित्य के विकास का अध्ययन अत्यन्त रोचक और महत्वपूर्ण ढंग से बताया है। इसी रासा छंद के बारे में विचार करते हुए द्विवेदी जी ने कहा है "धीरे धीरे इन शब्दों का प्रयोग घिसे अर्थों में होने लगा जिस प्रकार विलास नाम देकर चरित काव्य लिखे गये, प्रकाश नाम देकर चरितकाव्य लिखे गए उसी प्रकार रासो या रासक नाम देकर भी चरित काव्य लिखे गए।" 'सदेशरासक' उगी प्रकार की प्रचलित प्रेमगाथा के आकार पर रचित काव्य है।

तत्पश्चात् 'सदेशरासक' कृति, 'कवि और रचनाकाल' पर विचार किया गया है। छानि नामक शीर्षक के अंतगत पूनेवाली प्रति लोहावत भी प्रति, पाटन भण्डार वाली प्रति बीकानेर की प्रति, जयपुर की प्रति तथा अलीगढ़ विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के रीडर डा० रामसुरेश त्रिपाठी सप्रेम मे सदेशरासक की किसी लुप्त प्रति का एक पत्र प्राप्त हुआ है। उसके साथ साथ इस पर भी विचार डाला गया है। 'कवि और रचनाकाल' पर भी विचार किया गया है। सदेशरासक का काव्यरूप में लक्षण, विभाजन और काव्य प्रकृति पर विचार किया गया है।

विभाजन और काव्यकृति पर प्रकाश डालते हुए डा० विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है कि सदेशरासक तीन प्रक्रमों में विभाजित है। प्रथम प्रक्रम में काव्य की प्रस्तावना है। वास्तविक कथा द्वितीय प्रक्रम से प्रारम्भ होती है। तीसरे प्रक्रम में पङ्क्तु वणन है और उसके पश्चात् नायक के पर लौट आने के साथ ही साथ प्रथम समाप्त हो जाता है। इसके बाद मेघदूत के साथ समानता एवं विषमता का वणन मिलता है। सदेशरासक इसी प्रकार मुक्ताप्रधान या शीघ्रप्रबंध घर्मा मुक्ता काव्य है। इसके अतिरिक्त सदेशरासक की भाषा के बारे में भी अन्त में विचार किया गया है। रासक में प्रकृति वणन विरह वणन और ऋतु वणन भी अच्छा मिलता है। उपसंहार के साथ समाप्त होता है।

## २ पृथ्वीराज रासो

पृथ्वीराज रासो का सशिष्ट सशोधित संस्करण ई० १९५७ में निकला है। इसका संपादन डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी और नामवरसिंह ने किया है। भूमिका डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है। कुल दो परिशिष्ट सहित ग्यारह अध्याय हैं। भूमिका आदिपद्य इतिहासी व्याहृप्रथा शशिप्रता विवाह प्रस्ताव, कैमास,

करनारी प्रसंग, कनकवज्र समय, बड़ी लड़ाई समय, बानबोध समय परिगिष्ट (क) पथ्वीराज रामो का परिचय, परिगिष्ट (ख) शक्याय ।

पथ्वीराजरासो हिन्दी साहित्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक मत प्रकट किए हैं। रासो की प्रामाणिकता का विचार प्रधान रूप से इस प्रश्न पर केंद्रित है कि सचमुच ही पथ्वीराज का समकालीन और सच्चा कोई चंद नामक कवि था या नहीं द्विवेदी जी ने 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' के 'याह्यान में रासो के मूल प्रामाणिक अंग मान जान योग्य अंशों की ओर संकेत किया है। प्रस्तुत सक्षिप्त रासो भी उन्ही विचारों पर आधारित है। उन्ही अंगों को सक्षिप्त किया गया है। जिनकी प्राचीनता उन 'याहयानों' में प्रामाणिकता की गई है। इन अंशों से रामो की पूरी साहित्यिक महिमा का परिचय मिल जाता है।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा के प्रकाशित पथ्वीराज रासो में डेढ़ हजार पंक्तियाँ हैं। जो ६६ सर्गों में विभाजित है। सबसे बड़ा कनकवज्र युद्ध है जो संभवतः रासो का मूल बयानक है। इसके अनुसार चंद पथ्वीराज का मित्र कवि और सनाहकार था। रासो में वह तीनों रूपों में चित्रित है। इस ग्रन्थ के अनुसार दोनों के जन्म और मरणतिथि भी एक है। इस प्रकार अभिन्न मित्र की रचना निश्चय ही बहुत प्रामाणिक होना चाहिए यही साधक रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल ने इस ग्रन्थ का प्रकाशन प्रारंभ किया था। इसी समय शा० बुलर को पथ्वीराज विजय की एक प्रति हाथ लगी। इस ग्रन्थ की परीक्षा के बाद डा० बुलर ने इस परिणाम पर पहुँचे कि पथ्वीराज विजय ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ है और रासो अत्यन्त अप्रामाणिक क्योंकि पथ्वीराज का जीवन अभिलेखा से पथ्वीराजविजय में वर्णित घटनाएँ मिल जाती हैं तबकि रासो में वर्णित घटनाएँ नहीं मिलती। फलतः प्रकाश बंद कर दिया गया। रासो में बहुत सी अनतिहासिक बातें मिलती हैं।

रामो का ऐतिहासिक कसौटी पर कसने पर सभी बातें खरी नहीं उतरती। डा० बुलर मारिनन, महामहाराष्ट्रिय गौरीशंकर हीराचंद ओझा, मुन्गी देवाप्रसाद श्री आर्य प्रामाणिक इतिहास लेखकों ने इस अविश्वसनीय सिद्ध कर दिया है। फिर भी रामो का महत्त्व है। बहुत दिनों हम विद्वानों में यह विरोध था यद्यपि रासो में प्रामाणिक अंग बहुत है तथापि इसमें चंद के कुछ न कुछ बचन अवश्य हैं जो काशी पुरान हैं। अभी तक यह काय असंभव समझा जाता रहा है पर हान में मुनिजिन विजय जी ने पुरातन प्रथम समग्र में अथर्व

प्रबन्ध नामक एक प्रबन्ध प्रकाशित किया जिसमें चन्द के नाम से चार छप्पय दिए हैं। सदशरासव की तरह भाषा भी कुछ आगे बढ़ी हुई है। इन पद्यों में प्रशासन के परचात अब इस विषय में किसी का संदेह नहीं रह गया है कि चन्द नामक कोई कवि पञ्चीराज के राजदरबार में अवश्य थे और उन्होंने ग्रंथ भी लिखा है। वर्तमान रासो में भी छन्द कुछ विकृत रूप में प्राप्त हो गए हैं। शली रासो एक सदशरामा की अधिकतर एक सी है। इस दृष्टि से विचार कर द्विवेदी जी ने निम्नलिखित प्रसंग को प्रामाणिक बताया है। आरम्भिक अक्ष, इच्छिनी विवाह, शशिप्रता का गणव विवाह, तोमरपहार का शहाबुद्दीन को पकड़ना, सयोगिता का जन्म, विवाह तथा इच्छिनी और सयोगिता की प्रतिद्विधा और समझौता।

इन अंशों की भाषा में इस प्रकार की बेडौल और बमेल ठूँसठास नहीं है और कविता का सहजप्रवाह है। इसमें चन्द प्रफुल्ल कवि के रूप में दृष्टिगत होते हैं। कथानक रूढ़ियों की दृष्टि से तात्पर्य का काव्य बहुत महत्वपूर्ण है और परवर्ती काव्य में जिन लोगों ने उसमें प्रक्षेप किया है वह चन्द की प्रकृति का बहुत अच्छी तरह पहचानते हैं। इसी लिए प्रक्षेप करनेवालों ने चुन चुन करके कथानक रूढ़ियाँ और काव्य रूढ़ियों का सन्निवह किया है। माघारणत भारतीय कथाओं में कथानक को अभीष्ट दिशा में मोड़ने का नियम २० कथानक रूढ़ियों का व्यवहार होता है। इन सभी का प्रयोग रासो में किया गया है।

छंदों का परिवर्तन बहुत अधिक हुआ है परन्तु भी अस्वाभाविकता नहीं आई है। १२ वीं १३ वीं शतों में अपभ्रंश साहित्य में छंदों का यह परिवर्तन बहुत अधिक प्रचलित हो गया था। ता छंद परिवर्तन के लिये केशव की रामचरिता तक आते आते यह छंद बहुला प्रथा निर्जिव और विकृत हो गई थी। अत्यधिक प्रयोग करने के बाद भी रासो में यह प्रथा मजबूत रूप में वर्तमान है।

द्विवेदी जी का कहना है वर्तमान रासो में युद्ध का प्रसंग बहुत अधिक है। ऐसा कहने में कुछ भी सकोच मालूम नहीं पड़ता कि ये युद्धों के अनावश्यक विस्तारित वर्णन, चौहान और कमधुज के मरदारों के नामों की सूची आदि, आदि परवर्ती ठूँसठास है। मूल रसो 'शुक और शुक' के संवाद रूप में ही लिखा गया था। और सम्भवतः कीर्तिलता के समान प्रत्येक समय के आरम्भ में शुक और शुक प्रसंग उसमें भी था। इधर रासो के अनेक संक्षिप्त संस्करणों का पता लगा है और पंडितों में जब जटपना कल्पना आरम्भ हुई है कि इन्हीं छोटे संस्करणों में से कोई रासो का मूलरूप है या नहीं। अभी तक संस्करणों का जो कुछ विवरण देखने में आया है उसमें तो ऐसा लगता है कि ये सब संस्करण रासो के संक्षेप रूप ही हैं।



द्विवेदी जी कहते हैं कि यही रासो का मूल रूप है। यह निणय करना अब बड़ा कठिन है कि चंद की वास्तविक रचनाएँ कौन सी हैं ? द्विवेदी जी का विश्वास है कि चंद की मूल रचना कुछ इसी के आसपास होगी।

आदिपर्व से लेकर बानबोध समय तक तो पद्य रूप में दिया गया है। उसके पश्चात् नामवरसिंह जी ने रासो काय की परम्परा पृथ्वीराज रासो की प्रतियाँ तथा रूपांतर पृथ्वीराजरासो की प्रामाणिकता, पृथ्वीराजरासो का कायसौष्ठव, पृथ्वीराजरासो की भाषा पर अपना विचार प्रकट किया है। तथा अंत में कठिन शब्दों का अर्थ दिया गया है।

### ३ नायसिद्धों की बानियाँ

इसका संपादन सन् २०१४ में द्विवेदी जी ने किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ-माला के प्रकाशन का एक संक्षिप्त इतिहास ही है। उत्तर प्रदेश के राज्यपाल महामहिम श्री क. हैयालाल भाणिकलाल मुंशी जब काशी नागरीप्रचारिणी सभा में पधार्य थे तो यहाँ के सुरक्षित हस्तलिखित ग्रन्थों को देखकर उन्होंने सलाह दी थी कि एक ऐसी ग्रन्थमाला निकाली जाय जिसमें सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रन्थ मुद्रित कर दिए जाय जिससे विद्वानों को उनको सामग्री के विषय में विचारने का अवसर मिलेगा। इस तरह इसका संपादन काय द्विवेदी ने अपने हाथों लिया।

इस ग्रन्थ की पृष्ठ संख्या १२९ है। और परिशिष्ट के रूप में दो अध्याय, पहल में पुरानी हिन्दी के गद्य खण्ड एवं दूसरे में कठिन शब्दावली के अर्थ दे दिए गए हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में नाय संप्रदाय के चौबीस सिद्धों की रचनाएँ संपादित की गई हैं। इन संप्रहम में प्रयुक्त पाँचियाँ हस्तलिखित रूप में नागरी प्रचारिणी सभा के आय भाषा पुस्तकालय से ली गई हैं। इसके अनिश्चित पिंडों के जन मान्य, कमल मठ, तथा द्वार लाइब्रेरी जोधपुर से भी कुछ पुस्तकें प्राप्त कर उनका उपयोग प्रस्तुत संप्रहम में किया गया है। लेखक का अनुपात है इन पाँचियों की भाषा १५ १६ वीं शताब्दी के बान की है। गोरखबानो की भाषा के विषय में डा० बडधवाल ने भी यही बात कही थी। इससे पूर्व नायसिद्धों की बानियों में कुछ संप्रहम प्रकाशित हो चुके हैं महापंडित राहुल साहयरायन और डा० धमवीर भारती श्री डा० कल्याणी मल्लिक ने भी इस दिशा में काम किया है। प्रस्तुत संप्रहम में अपनाकृत अधिक नाय सिद्धों की संख्या सम्पादित है इनके रचयिता नायसिद्धों की संख्या कुल चौबीस है। इन ग्रन्थों की भाषा के

सम्बन्ध में मल्लिक का कहना है कि यह अशत राजस्थानी और अशत हिन्दुस्तानी है। प्राप्त सामग्री के आधार पर विश्वास के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि ये रचनाएँ उन्हीं सिद्धों की हैं जिसके नाम से वे प्रचलित और प्रसारित हैं। इनमें स गोरक्ष, मत्स्येन्द्र, चौरगोनाथ आदि आठ ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इस समय नवी शती से १२ वीं तक माना जाता है सर्वाधिक व्यक्तित्व गोरक्षनाथ का है।

नाथसिद्धों की हिन्दी बानियों का यह सग्रह कई हस्तलिखित प्रतियों में सकलित हुआ है। इसमें गोरक्षनाथ की बानियाँ सकलित नहीं हुईं क्योंकि स्वर्गीय पीताम्बरदत्त बडधवाल ने 'गोरक्षबानी' नाम से गोरक्षनाथ की बानियों का सम्पादन कर दिया है। डा० बडधवाल के द्वारा दिये गए गोरक्षनाथ की चालीस रचनाओं का नाम दिया गया है। अन्य सिद्धों की बानियाँ जो प्राप्त थीं उन्हें प्रकाशित किया गया है।

इस ग्रन्थ की अधिकांश बानियाँ नागरी प्रचारिणी सभा के आय भाषा पुस्तकालय में सुरक्षित तीन हस्तलिखित पुस्तकों में सग्रह की गई हैं तथा उसमें पद वर्ताओ का विवरण दिया गया है। 'गोरक्षनाथ का समय' शीपक में लेखक ने बताया है कि मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ के समय के बारे में इस देश में अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार बातें कही हैं। इनके और इनके समसामयिक सिद्ध जालधरनाथ और कृष्णपाद के सम्बन्ध में इस देश में अनेक दत्त कथाएँ प्रचलित हैं। अत्यन्त गहरे अध्ययन के बाद लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं (१) मत्स्येन्द्रनाथ और जालधरनाथ समसामयिक थे। (२) मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ के गुरु थे। (३) मत्स्येन्द्रनाथ कभी योगमाग के प्रवक्तृ थे पर सयोगवश वामाचारी साधना में आ गये। जालधरनाथ की साधना पद्धति एवं मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ की साधना पद्धति से भिन्न थी।

तत्पश्चात् जालधरनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ के समय निर्धारण के हेतु अनेक प्रमाण भी दिये गए हैं। कुछ लोग इनका समय १४ वीं और कुछ लोग १२ वीं और कुछ ८ वीं से लेकर ६ वीं शती तक के बाल का निर्देश करते हैं और कुछ लोग इससे भी पूर्ववर्ती तिथि को बताते हैं। लेखक के अभिमत के अनुसार नाथमाग के आदि प्रवर्तकों का समय नवी शती का मध्यभाग ही उचित जान पड़ता है।

'सप्रदाय भेद' शीपक में गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित योग सप्रदाय नामा

पथो में विभक्त हो जाने के कारण पर प्रकाश डाला है। वर्तमान नायपथ में जितने संप्रदाय हैं वे मुख्य रूप से उन बारह पथों से सम्बद्ध हैं जिनमें आधे शिव के द्वारा प्रवर्तित कहे जाते हैं और आधे गोरक्षनाथ द्वारा इनके अतिरिक्त और भी बारह संप्रदाय थे जिन्हें—गोरक्षनाथ ने नष्ट कर दिया। मुख्य पथों का सब से शिव और गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित पुराने संप्रदायों के साथ साथ किस प्रकार स्थापित किया गया है। इस व्योरा देखने समझाया गया है। इस तैयार करने में मुख्य रूप से ब्रिक्स की पुस्तक 'गोरक्षनाथ एण्ड कनफटा योगीज' का सहारा लिया गया है। इस प्रकार शिव के द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय भी गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती होने चाहिए पर फिर भी गोरक्षनाथ ने अपने नाम से इन्हें नहीं बलाया तो कुछ न कुछ कारण होना चाहिए। उस पर लेखक अपना अभिमत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि शिव द्वारा प्रवर्तित कहे जाने वाले संप्रदायों का प्रसार अजिन्तर काश्मीर, पश्चिमी पंजाब पेशावर और अफगानिस्तान में जहाँ अत्यन्त प्राचीनकाल से शैवमत प्रबल था। आज भी वर्तमान अवस्था में इससे कुछ अधिक कहना संभव नहीं है।

तत्पश्चात् नाथसिद्धों के नाम एवं उनके बारे में गहरे रूप से विचार किया गया है तथा उनकी वानिया क्रम से दी गई हैं। परिशिष्ट एक में श्रीपवत सिद्ध का कथा भूगोल 'पुराण' नामक शीपक में पुरानी भाषा में एक गद्य खण्ड का उद्धृत किया गया है तथा परिशिष्ट दो में कठिन शब्दों के अर्थ दिये गए हैं।

## कथा साहित्य

### १ वाणभट्ट की आत्मकथा

स्वललित जीवन चरित्र के रूप में वाणभट्ट की आत्म कथा एक उपग्राम है। इसका रचनाकाल सन् २००३ है। पृष्ठ संख्या ३६० है। और २० उच्छ्वास हैं। उपन्यास की वस्तु सम्प्रेषण में यो है।

वाणभट्ट मगध में रहने वाले थे। बचपन में ही माता पिता का अभाव हुआ था। अतः दसमान करने वाला कोई नहीं था। आठवीं आठवीं वर्ष में बीतने लगी। अभी बीच कुछ दिन उज्जयिनी में बिताया। जहाँ से नाटक मगध की ओर लौटने पर। अभी नाटक मगध में निपुणिका नाम की नतकी थी जो वाणभट्ट का चाहती थी। वाणभट्ट का भी उसके ऊपर प्रेम था अवश्य पर वह सपत्न था। एक दिन अभिनय के बाद निपुणिका गायब हो गई। शायद

अपने को बाणभट्ट के योग्य न समझ कर। बाणभट्ट ने प्रेम पान की निराशा में स्थान छोड़ा। बाणभट्ट न उसे ढूँढा पर वह न मिली। अतः निराश एवं दुःखित होकर नाटक मण्डली तोड़ दी और निपुणिका के न मिलने तक नाटक सम्प्रधी वाय करने का विचार छोड़ दिया। यही से बाणभट्ट के जीवन में दूसरा अध्याय शुरू होता है।

इसपर बाणभट्ट घूमते घूमते छत्र बरस बाद यानेसर पहुंच गए। वहाँ निपुणिका से पान की दूरान पर उसकी भेंट होती है। वही पर यह भी निपुणिका के द्वारा अवगत होता है कि हृष्यवधन के चटनोई के चश के उत्तराधिकारा के राजकुल में तुव मिलिद नाम के धवन राजा की कन्या बानी है, जो रानी बनना नहीं चाहती और वहा से निकल भागना चाहती है। निपुणिका की प्रेरणा से बाणभट्ट ने उसके उद्धार करने का संकल्प किया और उस राजपुत्री चंद्र दीधीति को भगा कर एक जीण चंडी मंदिर में रखा फिर यानेसर के प्रधान बिहार के नायक सुगतभद्र की प्रेरणा में कृष्णवधन ने अपना कुट्ट सैनिकों के साथ बाणभट्ट, निपुणिका और राजक या को राजदण्ड से बचाने के निमित्त वहा से नौका द्वारा मगध भजने की व्यवस्था कर दी। बीच में ही एक और घटना घटती है। बाणभट्ट चंडी मंदिर में ही थे कि एक भरवी स भेंट हा गई। यहाँ भरवी अघोर भैरवी तथा विरतिवज्र से बाणभट्ट का परिचय हुआ। विरतिवज्र पत्नी को छोड़कर भिक्षु हुए थे पर मानसिक शांति न थी। अतः तांत्रिक साधना की ओर झुके थे। भैरव महामाया भी राजकुल से निकल भागी थी और तांत्रिक साधना में जीवन बिताने लगी। इस घटना के बाद बाण चल पड़े। चंद्रदीधीति अब भट्टनी बन गई और प्रयाग तक की नाव यात्रा निर्विघ्न कट गई। वाद में गंगा और मरुतू के संग में ही आमीर सैनिकों का एककुट्टन के राजा की नीकार्यें समझ आक्रमण कर दिया। भट्टनी और निपुणिका गंगा में कूद पड़ी। बाण, भट्टनी को पानी में बचाते बचाते किनारे पर लगे। देवाधीन भरवी महामाया का फिर वहा साक्षात्कार हुआ। बाण भट्टनी को महामाया के संरक्षण में छोड़ निपुणिका को ढूँढने निकले। पर वे दूसरी विपत्ति के शिकार हो गये। चण्डमण्डला नाम की तांत्रिक साधिका ने इन पर सम्मोहन मंत्र फेंका और बाण उसके माघ वज्रतीय नामक स्थान पर पहुंच जो एक शमशान एवं तांत्रिक साधुओं का अड्डा था। उन लोगों ने बाण का बलिदान करना चाहा पर अवानक भरवी महामाया, भट्टनी, निपुणिका आदि वहा पहुंच गये। महामाया के सम्मोहन बल से निपुणिका ने चण्डमण्डला को ढबल दिया और बाण ने अघोरपट को गंगा में फेंक दिया। इसी बीच कृष्णवधन ने बाण के पास एक दूत भेज कर कहाया कि महाराज हृष्यवधन से समुत्ता कर भागने की अपत्या

उनसे मिल लेना ज्यादा श्रेष्ठ होगा। अतः बाण हृषिकेश के दरबार में गए और दरबारी कवि के रूप में नियुक्त हुए दो महीने के भीतर अनेक नई बातें देखने को मिली। सुचरिता जी निपुणिका की सखी थी वष्णव तार्किक वैदेष्य भट्ट की वैष्णव साधना माग में दीक्षित हो चुकी थी। कुमार वृष्णवधन के भट्टिनी को यही लाकर रखना ठीक समझा, कारण दस्यु पुनः आक्रमण करने वाला है। उनका रोकना तुवरमिलिद के ही हाथ की बात है। अतः उनको सवाद भेजने के हेतु बाण ने पुनः पूरब की ओर यात्रा की और भट्टिनी तथा निपुणिका के साथ वर्षा से पहले ही घानेसर पहुँचे। इस बीच अनेक घटनाएँ घटी। मौखरियों के राजगुरु भवु शर्मा घानेसर आए तथा बाण के चचेरे भाई उडुपति का बौद्ध तार्किक वसुभूति से शास्त्राय हुआ। वसुभूति की हार हुई। इसी बीच बाण की गाढी मित्रता धावक से हो गई और हृष ने भवु शर्मा के स्वागत के उपलक्ष्य में अपनी नाटिका रत्नावली के अभिनय का काम बाण को दिया जिसमें भट्टिनी ने खूब योग दिया। बाण ने उदयन का और निपुणिका ने वासवदत्ता का अभिनय किया। अभिनय में ही बाण के हाथ में रत्नावली सौंपते हुए अपने को उत्सर्ग कर दिया मूर्च्छित होकर सदा के लिए सो गई। अब भट्टिनी और बाण ने उत्तर पश्चिम की सीमा की ओर प्रस्थान भी कर पाये थे कि भवु शर्मा ने किसी काम से बाण को पुरुषपुर भेज दिया। चलते समय भट्टिनी ने बाण से कहा—जल्दी ही लौटना बस उसी जगह पुस्तक समाप्त होती है बाण जाते हैं पर उनका मन उनसे बार बार पूछता है कि फिर क्या मिलन होगा ?

## २ मेघदूत (एक पुरानी कहानी)

यद्यपि यह कहानी बहुत पुरानी है। पर द्विवेदीजी ने नये सिरे से लिखा है क्योंकि यह अपनी नवीनता के लिये प्रसिद्ध है। कहानी का साराण्य यों है।

अलकापुरी में एक यज्ञ रहता था। उसने मकान के सीमा में ही एक बागी बगवाई थी। इस बग के निकट ही इन्द्रनील मणियों से बना हुआ श्रीहा पर्वत था। मकान की गान देखकर कोई नहीं कह सकता था कि वह गरीब था। कुछ लोग बताते हैं कि यज्ञ कुंवर का माली था। जो भी हो यज्ञ अपनी प्रिया का प्रेम में निरन्तर ऐसा पगा रहता था कि काम काज पर बिल्कुल ध्यान ही नहीं देता था। एक दिन इन्द्र का मतवाला हाथी ऐरावत आकर बागीचा उजाड़ गया और यज्ञ को पता भी न चला। कुंवर फूलों के शौकीन थे उनको यज्ञ की इस लापरवाही पर बहुत शोध आया और उस साल मर के लिये देश निकालने की सजा दे दी।

उसे जीवन में पहली बार अपनी प्रिया का दुःसह वियोग सहना पड़ा। उसने रामगिरि के पवित्र आश्रम में अपनी बस्ती बनाई। वेचारे यक्ष ने जिस किसो प्रकार आठ महीने व्यतीत किये पर अचानक आपाड मास की पहली तिथि का रामगिरि के सानुदेग में लगे हुए एक बाल मध का देखकर व्याकुल हो उठा। चंचल मन पुरानी बातों को याद करने लगा। उसे अपनी प्रिया का ध्यान आने लगा। वह अपने मन में ही विचार करने लगा। जब उसे मेष एक मतवाले हाथी के समान दिखाई देने लगा। लेकिन यक्ष ने ध्यान से देखा, यह हाथी के समान दिखाई देने वाला जीव हाथी नहीं है, पहाड़ पर अटका हुआ मेष है। अब तक उसका शरीर विरह से बहुत जजर हो गया था। आठ महीने बीत गये पर अब नन्ही रहा जाता। विरह का मारा यक्ष मेष के सामने आकर खड़ा हो गया। मेष ही तो है। यक्ष अब तक अपनी ही बातों से चिंतित एवं व्याकुल था अब उसे इस मधुरवेला में अपनी प्रिया की व्याकुलता का भी ख्याल आया, सोचने लगा मेरी यक्ष अवस्था है ता बचारी उस कामन बालिका की क्या दशा होगी? वह अपने मन में सोचना है, हा विधाता! सावन में यक्ष प्रिया कैसे बचेगी?

उन बादलों को देखकर उसको एक उपाय सूझता है, वह अपनी प्रिया के पास इन्हीं मधों के द्वारा अपना कुशल सवाद भेजना चाहता है और अंत में जब मध को प्रेम का सदेश-वाहक बनाया जाता है पर उसने मध को परम सहानुभूति संपन्न मित्र के रूप में ही देखा और उसमें हृदय का गना देने वाला सदेश भेजा। यही कहानी समाप्त हो जाती है।

उक्त ग्रंथों के अतिरिक्त स्वतंत्र ग्रंथों में 'तालितममीमासा' और 'चाह चंद्रलक्ष्मी दो ग्रंथों और हैं जो अभी पुस्तक रूप में अप्रकाशित हैं। इसके अतिरिक्त स्वतंत्र ग्रंथों में भी सता का सूक्ष्म भेद, 'अपभ्रंश का रक्षारमक साहित्य', 'कानिदास द्वारा प्रयुक्त प्रसाधन' आदि छोटी छोटी पुस्तिकाएँ भी अनुपलब्ध हैं। यहाँ उनका जिक्र नहीं दिया गया है। मृत्यु जयी रवी द्रनाय, प्रबंध चिन्तामणि, पुरातन प्रबंध सग्रह, प्रबंध कोश विश्व परिचय, मेरा बचपन, रवी द्रनाय की कविताएँ आदि छायावाद ग्रंथ हैं जिनका निर्देश ऊपर किया जा चुका है। इन पुस्तकों का विवरण न देने का कारण अनेक प्रयास के पश्चात् भी उनकी अनुपलब्धि है। कुछ पुस्तकें प्रेस में एक और कुछ अप्रकाशित हैं। अतः इन पुस्तकों के सम्बन्ध में कुछ भी कहना समीचीन न होगा।

## समीक्षक द्विवेदी

### साहित्य सम्बन्धी आदर्श और सिद्धांत

मानव व्यापारा और मानवीय कृतियों में सर्वाधिक महत्त्व साहित्य को मिला है। साहित्य का सम्बन्ध शास्त्रीय नियमों से न होकर मनुष्यता के उत्थान से है। मनुष्य सब कर और कुछ नहीं। साहित्य से द्विवेदी जी का मतलब उसकी सात्त्विक चिंतनधारा से है।<sup>१</sup> उनकी दृष्टि में मनुष्य की सर्वोत्तमकृति साहित्य है। वह मनुष्य की सभ्य सुश्रम और महनीय साधना का प्रकाश है।<sup>२</sup> सारे मानव समाज को सुदूर बनाने के साधन का ही नाम साहित्य है।<sup>३</sup> साहित्य एव काय के स्वरूप के विषय में उनके सिद्धांत घूम फिरकर इस रूप में प्रकट हुए हैं। एकत्व की अनुभूति मनुष्य की चरम मनुष्यता है।<sup>४</sup> यही मनुष्यता जब उच्छलित हो उठती है उसका आनन्द जब अंतर को पूर्णरूप से भर कर बाहर प्रकाशित हो उठता है तभी काव्य बनता है और काय ही जब तपोजगत के विभिन्न उपादानों का आश्रय लेता है तो अगाध साहित्यागो के रूप में प्रकट होता है। साहित्य वस्तुतः मनुष्य का वह उच्छलित आनन्द है जो उसके अंतर में अँटाय अँट नहीं सकता था।<sup>५</sup> वह साहित्य को स्वयं साध्य नहीं मानते हैं। उसे साधन रूप में ही ग्रहण करना उचित है। हमारी आधुनिक समस्याओं के अध्ययन के उपयुक्त यदि साहित्य में सामग्री नहीं है तो वह बेकार है।<sup>६</sup> पशु

१- कल्पना प० १३६।

३- साहित्य का मम प० ५२।

५- विचार प्रवाह प० २११।

७- अशाक के फूल प० १७०।

२-वही प० १३६

४- कल्पलता प० १३५।

६- साहित्य का मम प० ७०।

सलभ आहार निद्रा स ऊपर प्रतिष्ठित मनुष्यता की प्राप्ति कराने का साहित्य एक साधन है।<sup>१</sup> वे साहित्य को सोद्देश्य मानते हैं। पर तु उनका उद्देश्य किसी छुद्र रागद्वेष स प्रेरित और प्रभावित न होकर उदात्त और गम्भीर है। जो वाग्जाल मनुष्य को दुग्धति और हीनता और परमुखापक्षिता से बचा सके, जा उसकी आत्मा को तजादीप्त बना सके उस साहित्य कहने मे मुझे सकोच होता है।<sup>१</sup>

साहित्य की सष्टि कयो की जाती है उसका उद्देश्य एक लक्ष्य क्या होना चाहिए। इस पर विचार करते हुए द्विवेदी जी ब अपना अभिमत इस प्रकार प्रकट किया है। उनकी दृष्टि मे मनुष्य ही सय कुछ है। भाषा उसकी मेवा क लिए है। साहित्य सष्टि का यही अर्थ है। उसकी कल्पना का मनुष्य जाति, धर्म निर्विरोध मनुष्य है जो केवल मनुष्य होने के नाते ही महान है। जो साहित्य मनुष्य समाज को रोम शोक दारिद्र्य अनान तथा परमुखापेक्षिता स बचाकर उसमे आत्मजल का सचार करता है वह निश्चय ही अक्षय निधि है।<sup>१</sup> द्विवेदी जी मनुष्य की अनुलनीय शक्ति पर विश्वास करते हैं। उनकी दृष्टि मे साहित्य का महत्व भी इसीलिए है कि वह मनुष्य की सर्वोत्तम कृति है, मनुष्य को देवता बनाना ही काव्य साधना का चरमलक्ष्य है।<sup>१</sup> यह उदार प्रेम या मानव प्रेम डा० द्विवेदी जी क वि तनचक्र की धुरी है और जब व मानव की सर्वोत्तम कृति के रूप मे साहित्य का जालोवन विवेचन करते ह तो एक प्रकार मे मामाजिस जावेश से अभिभूत हो उठते हैं। वे साहित्य को सामान्य जनता के जीवन से विच्छिन्न कोई अलग वस्तु नहीं मानने। मनुष्य का जीवनकेन्द्र मे प्रतिष्ठित करके ही उठान समूचे साहित्य को देखने का प्रयत्न किया है। यह मनुष्य समग्र और मुक्त इकाई क रूप मे है। विभिन्न वर्णों, वर्गों, धर्मों, सम्प्रदायो, जातियों, राट्टो, आदि की सीमाओ मे बटा और बंधा मनुष्य नहीं।

साहित्य कसा हो इस पर द्विवेदी जी न अनेक स्थानों पर बतलाया है — उनका अभिप्राय यह है कि दीघमावना के बाद मनुष्य पशु स विकसित होकर मनुष्य बना है। उन आहार निद्रा पशु सामान्य मनोरोगा को चार बार उत्तेजित करना किमी बडे कृतित्व का काम नहीं है। कृतित्व का काम है उसके सपन, त्याग और प्रेम की भावना का जगाकर ही धर्म होना।<sup>१</sup> साहित्य सेवा

१—साहित्य का मम प०

२— अशोक के फूल प० १६६।

३— अशोक के फूल प० १५७।

४— कल्पलता प० १३७।

५— विचार और वितर्क। प० २०३।



का अक्सर पाकर उसी लहने वाली प्रवृत्ति को उत्तेजित किया गया और इन्द्रिय परायणता को प्रश्रय दिया तो एम साहित्य भी मध ही है पर पानी बरसान वाला नहीं, बज्र बरसान बाता ।<sup>१</sup> साहित्य और भाषा के सृज हान क पूव साहित्य क साधक को सृज होना चाहिए ।<sup>२</sup> सभी मनुष्य स्वभाव स ही साहित्यसंघटा नहीं होते पर साहित्य प्रमी होते हैं । मनुष्य का स्वभाव ही सुत्र दखन का । वे साहित्य को समाज स अलग मानकर नहीं चलत । उहान लोक जीवन और उसके जीवन क अभि-यक्त साहित्य को सतत परिवतनशील माना है ।

साहित्य का आधार घणा और द्वय नही हो सकता । प्रम, त्याग, पान जसी बड़ी-बड़ी वस्तुयें साहित्य का आधार हो सकती है और तभी साहित्य संसार का नया प्रकाश द सकता है ।<sup>३</sup> साहित्य का लक्ष्य मनुष्य है अर्थात् मनुष्य क लिए साहित्य है, मानव के उत्थान के लिए साहित्य का मूल्यांकन होना चाहिए यही से मानवतावादी आदर्श की नींव पड जाती है । एक प्रकार से यह आदर्श और भक्त कवियों की मुक्ति क लाभ का जो प्रयत्न है अर्थात् विगुद्ध अध्यात्मवाद स भी द्विवेदी जी का लक्ष्य भिन्न पड जाता है । वे शास्त्रीय आदर्श स भिन्नता रखन हैं दूसरी ओर साहित्य की किसी एक दिशा चाह भाक्त की हो या पान की सबको साधन मानत हैं, साध्य नहीं ।

हमारा परमलक्ष्य मनुष्यत्व है । मध्ययुग म जिस वस्तु को अध्यात्म कहा करत थ वही वस्तुत इस युग का मनुष्यत्व है । मनुष्य ही भगवान का प्रत्यक्ष विशद है । मनुष्य बनाता ही समस्त पान विज्ञान का लक्ष्य है ।<sup>४</sup>

दोषकाल स पान क आलाक स वचित मनष्या को हम पान देना है । शताब्दियों तक गौरव स इन मनुष्यों म हम आत्मगर्भिता का मचार करना है । अकारण अपमानित इन मूक नरकजाता को हम वाणी देनी है । रोग शाक, अनान भूष, प्यास परमुखापनिता म मनुष्य का उद्धार करना ही साहित्य का काम है । स्वयं मनुष्य बन बिना छाट छीटे तुच्छ विवांग स ऊपर उठे बिना, कोई भी व्यक्ति दूसर का नहीं उठा सकता । मनुष्य की सेवा करन क लिए साहित्यकार का दबता बनना होगा ।<sup>५</sup>

१—विचार और वितक प० २०८ ।

२—वही प० २०४ ।

३—अज्ञान क फून प० १७१ ।

४—विचार और वितक प० १६८ ।

५—अज्ञान क फून प० १७१ १७२ ।

साहित्य का परममध्य सबभूत का आत्यंतिक कल्याण है। जो साहित्य केवल कल्पना विलास है जो केवल समय काटने के लिए लिखा जाता है वह बड़ी चीज नहीं है बड़ी चीज वह है जो मनुष्य के आहार, निद्रा आदि पशु सामान्य धरानल से ऊपर उठाना है। मनुष्य का शरीर दुर्लभ वस्तु है इस पाना ही कम तप का पत्त नहीं है पर इस महान् उद्देश्य की ओर उद्यम करना और भी श्रेष्ठ कार्य है।<sup>१</sup> साहित्य सुन्दर का उपासक है, इसीलिए साहित्य का असामञ्जस्य के दूर करन का प्रयत्न पहले करना होगा, अशिक्षा सुशिक्षा से लड़ना हाहा भय और ग्लानि से लड़ना हाहा।<sup>२</sup> साहित्य की साधना तब तक चर्घ्या रहेगी जब तक हम पाठकों में एक ऐसी अक्षयनीय आवासा जागत न कर दें जो सार मानव समाज का भीतर से और बाहर से सुन्दर तथा सम्मान योग्य देखन के लिए सदा व्याकुल रहे।<sup>३</sup> मनुष्य अत्यंत मोटे प्रयाजना की पूर्ति पहले चाहता है ता उसकी आहार, निद्रा पशुसामान्य शुधाया के निवृत्तक हैं इसके बाद भी उसका मनुष्य बनना चाहा रह जाता है। साहित्य यही काम करता है, जो साहित्य मनुष्य का उसके पशुसुत्रम सहस्र से ऊपर नहीं उठाता, वह साहित्य की सना ही यो देता है।<sup>४</sup> मनुष्य को तरह तरह से उप्रत बनाना, उस अनान, मोह, कुसस्कार और परमुखापेक्षिता के दलदन से निरुलना और पशुसामान्य धरानल से ऊपर उठाकर उसे प्राणिमान के दुःख सुख के प्रति संवेदनशील बनाना ही साहित्य के रचना का लक्ष्य हो सकता है। मनुष्य ही वह बड़ी चीज है जिसके लिए हम यह सब किया करते हैं। हमारे सब प्रयत्नों का एक ही लक्ष्य है—मनुष्य वर्तमान दुर्गति के पक से उद्धार पाव और भविष्य में सुख और शान्ति से रह सके।<sup>५</sup> साहित्य की सबसे बड़ी समस्या मानव जीवन है। साहित्य मनुष्य की सौन्दर्य साधना है। वह मनुष्य को सुन्दर बनाता है। वस्तु को इस ढंग में सजाना कि उसकी कुरूपता जोर भद्दापन मिट जाय, प्रत्येक उपादान उचित मात्रा में उचित स्थान पर बठा दिए जाय, यही सबसे बड़ी कला है और यह सामञ्जस्य विधान के बिना संभव नहीं है।<sup>६</sup> सामञ्जस्य का अर्थ है क्रिमी धाज का बहुत या बहुत कम न होना। इसमें समय की आवश्यकता है। सुन्दरता इसी सामञ्जस्य में होती है। अतएव सौन्दर्य प्रेम में समय हाता है उच्छृङ्खलता

१—अनाक व फूत्र पृ० १७६।

२—वही पृ० १८४।

३—वही पृ० १८४।

४—विचार और वितक पृ० ६६।

५—वही पृ० ६६।

६—वही पृ० ६६।

७—कल्पलता पृ० १४२।

नहीं।<sup>१</sup> जा जाति जिननी अधिक सौन्दर्य प्रेमी होगी, उसमें उनकी ही अधिक मनुष्यता भी होगी। मनुष्य का सौन्दर्य प्रेम उसके साहित्य कला और दान पुष्प और परापकारादि होते हैं।<sup>२</sup> साहित्य शब्द का व्यापक अर्थ भी बतलाया है। उनका मत है साहित्य में नीतिपरक रचनायें भी सम्मिलित की जा सकती हैं। केवल रमपरक साहित्य ही साहित्य नहीं है। यदि हम साहित्य के उस युग के मनुष्य को उसकी सबलताओं और दुबलताओं के साथ पहचान लें तो वह भी महान साहित्य है।<sup>३</sup> वनानिक एवं दार्शनिक साहित्य की आवश्यकता को महसूस करते हुए कहते हैं कि हमारे साहित्य में अभी तक रसात्मक साहित्य की ही घूम है परन्तु रसात्मक साहित्य के पोषण के लिए जिस शक्तिशाली वैज्ञानिक और दार्शनिक साहित्य की आवश्यकता है, वह हमारे पास नहीं है।<sup>४</sup>

## साहित्य का प्रयोजन उसके हेतु

मनुष्य अपने प्रयोजनों से बंधा हुआ है। उसकी दुनियाँ प्रयोजना की दुनियाँ है।<sup>१</sup> वह केवल जीवन धारण करने को एक किसी प्रकार बचे रहने की ही पर्याप्त नहीं समझता। वह अनेक प्रकार से प्रयत्न करता है, अपने प्रयोजनों की दुनियाँ से बाहर जाने के लिए वहीं उसका ऐश्वर्य है। पशु का जीवन केवल जीने के लिए है उसमें प्रेम नहीं है, सौन्दर्य प्रीति नहीं है कुछ नई बात गढ़न की इच्छा नहीं है। ये बातें मनुष्य जीवन का ऐश्वर्य हैं। उसका प्रकाश है।<sup>२</sup> जिसके जीवन में प्रेम नहीं, भक्ति नहीं, सौन्दर्य नहीं वह जीवन पशु का जीवन है।<sup>३</sup>

गद्य हमारे प्रयोजनों की भाषा है। काव्य हमारे प्रयोजनातीत आनन्द का प्ररक है।<sup>४</sup> यह प्रयोजनातीत सत्य जीव शास्त्रीय लालसा से परे प्रेम, सधम और तप से उत्पन्न होता है।<sup>५</sup> साहित्य संगीत, कला और सौन्दर्य मनुष्य को छोटे प्रयोजनों से बाधन के बन्धे उस प्रयोजनातीत सौन्दर्य की आर उन्मुख करते हैं और इसी से मनुष्य दवत्त्व प्राप्त करता है।<sup>६</sup> आज साहित्यकार के सामने

१-वही प० १४४।

२-वही प० १४०।

३-वही प० १६४।

४-अगाध के फूल प० १७१।

५-साहित्य का मम प० ३८।

६-वही प० ३८।

७-वही प० ३८।

८-वही प० ३८

९-वही प० ३८।

१०-वही प० ३६।

११-वही प० ४०।

अनेक जटिल समस्यायें हैं। इन समस्याओं का समाधान भी करना है।<sup>१</sup> कवि की साधकता इन प्रयोजनों की दुनिया में ऊपर उठने में ही है।<sup>२</sup> प्रयोजना के जगत से बाहर ही मनुष्य का ऐश्वर्य है उसका प्रकाश।<sup>३</sup> इसे समझने एवं पृष्ठ करने के लिए द्विवेदी जी ने अनेक उदाहरण दिये हैं। वे लिखते हैं कि 'धी का लड्डू टूटा भी होना है उससे प्रयोजन तो सिद्ध हो ही जाता है पर मनुष्य उठने से ही मनुष्य नहीं होता। उस उस लड्डू को सुन्दर बनाने में रस मिलता है।<sup>४</sup> प्रयोजन के अतीत पदार्थ का नाम सौन्दर्य है, प्रेम है, भक्ति है, मनुष्यता है।<sup>५</sup> एक और उदाहरण इसी मर्म में द्विवेदी जी ने दिया है जब मनुष्य प्रयोजनों की दुनियाँ से ऊपर उठता है तब उसे दीपक का प्रकाश मिलता है तब उसे उस वस्तु का अनुभव होना है जो मनुष्यता है जो उसके हृदय की सर्वोन्नत और उदार बनती है। यही मनुष्य जीवन का ऐश्वर्य है।<sup>६</sup> प्रयोजनातीत भूमिका रस ही वाग्द, शिल्प, नृत्य, गीत, भक्ति आदि में मिलता है।<sup>७</sup> प्राचीन काव्य का उद्देश्य था भावार्थक परन्तु आज यह बात नहीं रही। आज का साहित्यकार वर्तमान समस्याओं को उपेक्षा नहीं कर सकता। प्राचीन काल में समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए काव्य रचना होती थी परन्तु अधिक जोर कीर्ति पाने पर दिया गया है। राजा और राजसभा कीर्ति प्राप्ति के प्रमुख साधन थे। काव्य का यह प्रयोजन सामंत युगीन था। आजका कवि धन, यश या व्यवहार पाने सिखाव के लिए काव्य रचना नहीं करता।<sup>८</sup> आज पाठक उसमें जीवन की पारुषा चाहता है, शायद वह आत्मनिष्ठ व्यक्ति चाहता है, शायद वह स्पार्टेयस आउटब्रस्ट आक पसनल फीलिंग्स<sup>९</sup> चाहना है या शायद वह मानवता के अस्तित्व में विहित एकता की उपलब्धि।<sup>१०</sup> पुराना कवि इतनी भागा का शिकार नहीं बना था।<sup>११</sup> जब जब और जहाँ जहाँ वह मनुष्यता का ऐश्वर्य काव्य में नाटक में शिल्प में चित्र में, मूर्ति में, अपनी प्रयोजन की सीमा को छाड़ कर प्रकाश रूप में प्रकट हुआ है वही वही वह पूजनीय हुआ है। उनी महिमा के बल पर महाकवियों की रचनाओं ने देवता को मनुष्य बनाया है।<sup>१२</sup>

- 
- १—मूर साहित्य पृ० १४९।      २—वही पृ० १६२।  
 ३—साहित्य का मर्म पृ० ३८।      ४—वही पृ० ३८।  
 ५—वही पृ० ३८।      ६—वही पृ० ३९।  
 ७—मूर साहित्य पृ० १४०-१४८।      ८—साहित्य का मर्म पृ० ६-१०।  
 ९—वही पृ० ११।      १०—वही पृ० ११।  
 ११—वही पृ० ३९।

नहीं।<sup>१</sup> जा जानि जितनी अधिक सौन्दर्य प्रेमी होगी, उसमें उनकी ही अधिक मनुष्यता भी होगी। मनुष्य का सौन्दर्य प्रेम उसके साहित्य कला और दान पुष्प और परापकारादि होते हैं।<sup>२</sup> साहित्य शब्द का यापक अर्थ भी बतलाया है। उनका मत है 'साहित्य में नीतिपरक' रचनाएँ भी सम्मिलित की जा सकती हैं। केवल रसपरक साहित्य ही साहित्य नहीं है। यदि हम साहित्य के उस युग के मनुष्य को उसकी सबलताओं और दुबलताओं के साथ पहचान लें तो वह भी महान साहित्य है।<sup>३</sup> वनानिक एवं दार्शनिक साहित्य की आवश्यकता को महसूस करते हुए कहते हैं कि हमारे साहित्य में अभी तक रसात्मक साहित्य की ही धूम है परन्तु रसात्मक साहित्य के पोषण के लिए जिस शक्तिशाली वैज्ञानिक और दार्शनिक साहित्य की आवश्यकता है, वह हमारे पास नहीं है।<sup>४</sup>

## साहित्य का प्रयोजन उसके हेतु

मनुष्य अपने प्रयोजनों से बधा हुआ है। उसकी दुनियाँ प्रयोजनों की दुनियाँ है।<sup>५</sup> वह केवल जीवन धारण करने को एक किसी प्रकार बचे रहने को ही पर्याप्त नहीं समझता।<sup>६</sup> वह अनेक प्रकार से प्रयत्न करता है, अपने प्रयोजनों की दुनिया से बाहर जाने के लिए बड़ी उसका ऐश्वर्य है। पशु का जीवन केवल जीने के लिए है, उसमें प्रेम नहीं है, सौन्दर्य प्रीति नहीं है, कुछ नई बात गढ़न की इच्छा नहीं है। य बातेँ मनुष्य जीवन का ऐश्वर्य है। उसका प्रकाश है।<sup>७</sup> जिसके जीवन में प्रेम नहीं, भक्ति नहीं, सौन्दर्य नहीं वह जीवन पशु का जीवन है।<sup>८</sup>

गद्य हमारे प्रयोजनों की भाषा है। का य हमारे प्रयोजनातीत आनन्द का प्ररक है।<sup>९</sup> यह प्रयोजनातीत सत्य जीव शास्त्रीय लालसा से परे प्रेम, सयम और तप से उत्पन्न हाता है।<sup>१०</sup> साहित्य, संगीत, कला और सौन्दर्य मनुष्य को छोट प्रयोजनों से बाधन क बदल उस प्रयोजनातीत सौन्दर्य की ओर उन्मुख करते हैं और उसी से मनुष्य दबत्व प्राप्त करता है।<sup>११</sup> आगे साहित्यकार के सामने

१-वही प० १४४।

३-वही प० १८४।

५-साहित्य का मम प० ३८।

७-वही प० ३८।

८-वही प० ३८।

११-वही प० ४०।

२-वही प० १४०।

४-अज्ञान के फूल प० १७१।

६-वही प० ३८।

८-वही प० ३८

१०-वही प० ३९।

अनेक जटिल समस्यायें हैं। इन समस्याओं का समाधान भी करता है।<sup>१</sup> कवि की साधकता इन प्रयोजनों की दुनिया से ऊपर उठने में ही है।<sup>२</sup> प्रयोजना के जगत से बाहर ही मनुष्य का ऐश्वर्य है उसका प्रकाश।<sup>३</sup> इसे समझाने एवं पुष्ट करने के लिए द्विवेदी जी ने अनेक उदाहरण दिये हैं। वे लिखते हैं कि 'धी का लड्डू टेढ़ा भी होना है उससे प्रयोजन तो सिद्ध हो ही जाता है पर मनुष्य उतने से ही सतुष्ट नहीं होता। उसे उस लड्डू को सुदूर बनाने में रस मिलता है।<sup>४</sup> प्रयोजन के अतीत पदार्थ का नाम सौन्दर्य है, प्रेम है, भक्ति है, मनुष्यता है।<sup>५</sup> एक और उदाहरण इसी सदम में द्विवेदी जी ने दिया है जब मनुष्य प्रयोजनों की दुनिया से ऊपर उठता है तब उसे दीपक का प्रकाश मिलता है तब उसे उस वस्तु का अनुभव होता है जो मनुष्यता है जो उसके हृदय को सवेदनशील और उदार बनाती है। यही मनुष्य जीवन का ऐश्वर्य है।<sup>६</sup> प्रयोजनातीत भूमिका रस ही का है, शिल्प, नृत्य, गीत, भक्ति आदि में मिलता है।<sup>७</sup> प्राचीन काव्य का उद्देश्य या भावातिक परंतु आज यह बात नहीं रही। आज का साहित्यकार वर्तमान समस्याओं को उपेक्षा नहीं कर सकता। प्राचीन काल में सभ्यता आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए काव्य रचना होती थी परंतु अधिक जोर कीर्ति पाने पर दिया गया है। राजा और राजसभा कीर्ति प्राप्ति के प्रमुख साधन थे। काव्य का यह प्रयोजन सामंत युगीन था। आजका कवि धन, यश या व्यवहार पाने मिखाने के लिए काव्य रचना नहीं करता।<sup>८</sup> आज पाठक उससे जीवन की व्याख्या चाहता है, शायद वह आत्माभि व्यक्ति चाहता है, शायद वह स्पार्टेनियस ज़ाउटवस्त आफ पसनल फीलिंग्स<sup>९</sup> चाहता है या शायद वह मानवता के अस्तित्व में निहित एकता की उपलब्धि।<sup>१०</sup> पुराना कवि इतनी मांग का शिकार नहीं बना था।<sup>११</sup> जब जड़ और जहाँ जहाँ यह मनुष्यत्व का ऐश्वर्य काव्य में नाटक में शिल्प में चित्र में, मूर्ति में, अपनी प्रयोजना की सीमा को छोड़ कर प्रकाश रूप में प्रकट हुआ है वहाँ वही वह पूजनीय हुआ है। उसी महिमा के बल पर महाकवियों की रचनाओं ने देवता को मनुष्य बनाया है।<sup>१२</sup>

१—सूर साहित्य पृ० १४९। २—वही पृ० १६२।

३—साहित्य का मर्म पृ० ३८। ४—वही पृ० ३८।

५—वही पृ० ३८। ६—वही पृ० ३९।

७—सूर साहित्य पृ० १४७ १४८। ८—साहित्य का मर्म पृ० ६—१०।

९—वही पृ० ११। १०—वही पृ० ११।

११—वही पृ० ३९।

नहीं ।<sup>१</sup> जा जानि जितनी अधिक सौन्दर्य प्रेमी होगी, उसमें उनकी ही अधिक मनुष्यता भी होगी । मनुष्य का सौन्दर्य प्रेम उसके साहित्य बला और दान पुष्प और परापकारादि हाते हैं ।<sup>२</sup> साहित्य शब्द का यापक अर्थ भी बतलाया है । उनका मत है 'साहित्य म नीतिपरक' रचनायें भी सम्मिलित की जा सकती हैं । केवल रमपरक साहित्य ही साहित्य नहीं है । यदि हम साहित्य के उस युग के मनुष्य को उसकी सबलताओं और दुबलताओं के साथ पहचान लें तो वह भी महान साहित्य है ।<sup>३</sup> वैज्ञानिक एवं दार्शनिक साहित्य की आवश्यकता को महसूस करते हुए कहते हैं कि हमारे साहित्य में अभी तक रसात्मक साहित्य की ही धूम है परन्तु रसात्मक साहित्य के पोषण के लिए जिस शक्तिशाली वैज्ञानिक और दार्शनिक साहित्य की आवश्यकता है, वह हमारे पास नहीं है ।

### साहित्य का प्रयोजन उसके हेतु

मनुष्य अपने प्रयोजनों से बंधा हुआ है । उसकी दुनियाँ प्रयोजनों की दुनियाँ है ।<sup>४</sup> वह केवल जीवन पारण करने को एक किसी प्रकार बचे रहने को ही पर्याप्त नहीं समझता ।<sup>५</sup> वह अनेक प्रकार से प्रयत्न करता है, अपने प्रयोजनों की दुनियाँ से बाहर जाने के लिए वही उसका ऐश्वर्य है । पशु का जीवन केवल जीव के लिए है उसमें प्रेम नहीं है, सौन्दर्य प्रीति नहीं है, कुछ नई बात गठने की इच्छा नहीं है । ये बातें मनुष्य जीवन का ऐश्वर्य हैं । उसका प्रकाश है ।<sup>६</sup> जिसके जीवन में प्रेम नहीं भक्ति नहीं, सौन्दर्य नहीं वह जीवन पशु का जीवन है ।<sup>७</sup>

यद्यपि हमारे प्रयोजनों की भाषा है । का यह हमारे प्रयोजनातीत आनन्द का प्ररक है । यह प्रयोजनातीत सत्य जीव शास्त्रीय लालसा से परे प्रेम, समय और तप से उत्पन्न होता है ।<sup>८</sup> साहित्य संगीत बला और सौन्दर्य मनुष्य को छोटे प्रयोजनों से बाधन के बगल उस प्रयोजनातीत सौन्दर्य की ओर उन्मुख करते हैं और इसी से मनुष्य दैवत्व प्राप्त करता है ।<sup>९</sup> आज साहित्यकार के सामने

१-वही पृ० १४४ ।

३-वही पृ० १६४ ।

५-साहित्य का मम पृ० ३८ ।

७-वही पृ० ३८ ।

९-वही पृ० ३८ ।

११-वही पृ० ४० ।

२-वही पृ० १४० ।

४-अगाध के फूल पृ० १७१ ।

६-वही पृ० ३८ ।

८-वही पृ० ३८ ।

१०-वही पृ० ३६ ।

निक जटिल समस्यायें हैं। इन समस्याओं का समाधान भी करना है।<sup>१</sup> कवि की साधकता इन प्रयोजनों की दुनिया से ऊपर उठने में ही है।<sup>२</sup> प्रयोजनों के अंत से बाहर ही मनुष्य का ऐश्वर्य है उसका प्रकाश।<sup>३</sup> इस समझाने एवं छुट्ट करने के लिए द्विवेदी जी ने अनेक उदाहरण दिये हैं। वे लिखते हैं कि 'धी धी लड्डू टेढ़ा भी होता है उससे प्रयोजन तो सिद्ध हो ही जाता है पर मनुष्य उठने से ही सतुष्ट नहीं होता। उसे उस लड्डू को सुट्ट बनाने में रस मिलता है।<sup>४</sup> प्रयोजन के अतीत पदार्थ का नाम मोक्ष है, प्रेम है, भक्ति है, मनुष्यता है।<sup>५</sup> एक और उदाहरण इसी सदर्भ में द्विवेदी जी ने दिया है जब मनुष्य प्रयोजनों को दुनिया से ऊपर उठता है तब उसे दीपक का प्रकाश मिलता है तब उसे उस वस्तु का अनुभव होता है जो मनुष्यता है जो उसके हृदय को सवेदनशील और उत्तर बनाती है। यही मनुष्य जीवन का ऐश्वर्य है।<sup>६</sup> प्रयोजनातीत भूमि का रस ही काव्य, शिल्प, नृत्य, गीत, भक्ति आदि में मिलता है।<sup>७</sup> प्राचीन काव्य का उद्देश्य या भावाद्देक परंतु आज यह बात नहीं रही। आज का साहित्यकार वर्तमान समस्याओं को उपेक्षा नहीं कर सकता। प्राचीन काल में समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए काव्य रचना होती थी परंतु अधिक जोर कीर्ति पाने पर दिया गया है। राजा और राजसभा कीर्ति प्राप्ति के प्रमुख साधन थे। काव्य का यह प्रयोजन सामंत युगीन था। आजका कवि धन, यश या व्यवहार चान सिखान के लिए काव्य रचना नहीं करता।<sup>८</sup> आज पाठक उससे जीवन की व्याख्या चाहता है, शायद वह आत्माभि व्यक्ति चाहता है, शायद वह स्पार्टेनियस आउटवैस्ट आफ पसतन फीलिंग्स<sup>९</sup> चाहता है या शायद वह मानवता के अस्तित्व में निहित एकता की उपलब्धि।<sup>१०</sup> पुराना कवि इतनी भागों का शिकार नहीं बना था।<sup>११</sup> जब जब और जहाँ जहाँ वह मनुष्यत्व का ऐश्वर्य काव्य में नाटक में शिल्प में चित्र में, मूर्ति में, अपनी प्रयोजन की सीमा को छोड़ कर प्रकाश रूप में प्रकट हुआ है वही वही वह पूजनीय हुआ है। उसी महिमा के बल पर महाकवियों की रचनाओं में देवता को मनुष्य बनाया है।<sup>१२</sup>

१—मूर साहित्य पृ० १४९। २—वही पृ० १६२।

३—साहित्य का मर्म पृ० ३८। ४—वही पृ० ३८।

५—वही पृ० ३८। ६—वही पृ० ३६।

७—मूर साहित्य पृ० १४७-१४८। ८—साहित्य का मर्म पृ० ६-१०।

९—वही पृ० ११। १०—वही पृ० ११।

११—वही पृ० ३६।



मनुष्य के सभी विराट प्रयत्नों के मूल में कुछ व्यक्तिगत या समूहगत विश्वास होते हैं परन्तु जब वे प्रयोजन की सीमा का अतिप्रसरण जात हैं तो उनके मनुष्य की विराट एतता और आधार जिजीविषा का ऐश्वर्य प्रकट होता है। ताजमहल और कोणाक का मन्दिर एस ही प्रयत्न हैं।<sup>१</sup> दीपक में जितना हिस्सा जलता है, वह प्रकाश नहीं कहलाता है। प्रकाश उसमें अतिरिक्त वस्तु है। ताप बस प्रयोजन है। प्रमाण उसका ऐश्वर्य है उसका अतिरिक्त दान है।<sup>२</sup>

## काव्यरूप सबन्धी द्विवेदी जी के विचार

द्विवेदी जी ने समीक्षा एवं मोक्षक्षत्र में तो काम किया ही है, काव्यरूपों पर भी समय समय पर अनेक विचार अभिप्रेत किए हैं। इन स्पष्ट विचारों में भी मानवतावादी सिद्धांत स्पष्ट व्यक्तता हुआ दिखाई देता है।

## कहानी

उनका मत है कोई भी कहानी तभी महत्वपूर्ण कही जा सकती है जबकि उसकी नींव मजबूती के साथ उन वस्तुओं पर रखी गयी हो जो निरन्तर गभीर भाव से और निरिच्छा भाव से हमारी सामान्य मनुष्यता की कठिनाइयों और दुःखों को प्रभावित कर रहे हों। महत्वपूर्ण कहानी कवन अवसर विनोद का साधन नहीं होती।<sup>३</sup> प्रेमचन्द जी की कहानियों की उल्लेख इसलिए प्रशंसा की है कि उनमें मानवतात्मिक विशेषण और यथायथा के भीतर में मनुष्य हृदय को विगानता उत्प्रेरित नहीं। इस प्रकार द्विवेदी जी ने कहानियों में भी सावधानिक और सावधानिक मनुष्य के अनुसंधान किया है।



## नाटक

द्विवेदी जी भारतीय नाट्यमिद्धान का अनुसंधान करने वाले हैं। भारतीय नाटक में हमारा नैतिक आदर्शों पर बल दिया गया है अतः भारतवर्ष में टकराव (ड्रामा नाटक) नहीं निरूपा है।<sup>४</sup> इसीलिए हमारे साहित्य में रिवोल्यूट नहीं है।<sup>५</sup> और यह समझना आसान है कि कम फन की अवश्य प्राप्ति में विश्राम करत वाता नाटककार जगत की समझसंयथता का चुनौती नहीं दे सकता। भारतीय नाटकों में यह प्रथा ही है कि धर्मात्मा का पापात्मा

१-साहित्य का मर्म पृ० ३६।

२-तत्त्वज्ञान पृ० ८२।

३-साहित्य का मर्म पृ० ३१।

४-वही पृ० ३६।

५-द्विवेदी साहित्य पृ० ४२६।

६-वही पृ० ३१।

से कभी पराजित होते न दिखाया जाय और सद्बिचारशील व्यक्ति कठिनाइयों से जूझता हुआ हार न जाने पावे ।<sup>१</sup> अतः भारतवर्ष में नाट्यसाहित्य में वह वस्तु एकदम नहीं मिलगी जिसे पश्चिम के साहित्य में समाज के प्रति विद्रोह भावना कहकर बहुत बड़ा नाम दिया गया है ।<sup>१</sup>

## उपन्यास

उपन्यास पूर्णरूपण इस नये यन्त्रयुग की उपज है । और इस युग के सम्पूर्ण द्योप गुणा को लेकर ही इसका जन्म हुआ है । नये युग की यंत्रों ने उपन्यास की माँग बढ़ायी है । और उही न इसकी पूर्ति का साधन भी जुटाया है ।<sup>२</sup> उपन्यास आधुनिक वैयक्तिकता वाली दृष्टिकोण का परिणाम है । उपन्यास तथ्य जगत से बहुत अधिक संपर्क है ।<sup>३</sup> यह विशुद्ध गद्य की उपज है ।<sup>४</sup> उपन्यासकार बाह्य जगत के तथ्यावयव के कारण उत्पन्न समस्याओं के द्वार में अपना विशिष्ट मत व्यक्त करता है ।<sup>५</sup> उत्तम उपन्यास के सहारे ही वैयक्तिक स्वाधीनता के नाम से परिचित आधुनिक डेमोक्रेटिक भावना का सर्वोत्तम रूप प्रकट हुआ है । इसकी नींव उन वस्तुओं पर रखी हुई है जो गम्भीर से निरन्तर ही हमारी सामाजिक मनुष्यता की कठिनाइयों और द्वंद्वों को प्रभावित करती रहती है ।<sup>६</sup> उपन्यासकार के रचना कौशल, घटनाविन्यास का चातुर्य और तथ्यात्मक जगत की समस्याओं में सीधे घुसने वाली भेदक निजी दृष्टि उन तीनों गुणों के कारण उपन्यास आज इतना लोकप्रिय साहित्यांग बन गया है ।<sup>७</sup> इस प्रकार उपन्यास को भी साधन के रूप में ही स्वीकार किया गया है ।

## वाद पर द्विवेदीजी के विचार

यह हम पहले ही बना चुके हैं कि द्विवेदी जी का दृष्टिकोण मानवतावादी है । और उन्होंने इस दृष्टि को केन्द्र में रखकर ही काव्यरूपा, वादा पर विचार और समीक्षाएँ की हैं । जब हम इनके द्वारा विवेचित अनेक वादों पर दृष्टिपान करते हैं तो इस मन की पुष्टि स्वयमेव स्पष्ट हो जायेगी ।

१—साहित्य का मम पृ० ३१ ।

२—वही पृ० ३१ ।

३—वही पृ० ६३ ।

४—वही पृ० ६३ ।

५—वही पृ० ६३ ।

६—वही पृ० ६३ ।

७—वही पृ० ६३ ६४ ।

८—वही पृ० ६४ ।

## आदर्शवाद

द्विवेदी जी ने आदर्शवाद पर विचार करते हुए इस प्रकार कहा है कि स्वायत्त के लिए लड़ पड़ना मनुष्य और पशु में समान है पर दूसरों के लिए अपने को उत्सर्ग कर देना स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरों की सुविधा का ख्याल रखना मनुष्य की अपनी विशेषता है। यही मनुष्य की मनुष्यता है।<sup>१</sup> विवेक, कल्पना, बोधाय और समय मनुष्यता है इसके विरुद्ध जाने वाले मनोभाव मनुष्यता नहीं है।<sup>२</sup> जो जसा है उसे वसा ही मानलेना मनुष्य पूर्व जीवों का लक्षण था पर जो जसा है वसा नहीं बल्कि जैसा होना चाहिए वैसा करने का प्रयत्न मनुष्य की अपनी विशेषता है। उस प्रयत्न की आवश्यकता होती है, प्रयत्न करना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है।<sup>३</sup> पुरानी रूढ़ियाँ बरेष्य नहीं है परन्तु समय और निष्ठा पुरानी रूढ़ियाँ हैं। वे दीर्घ आयुस माध्य मानवीय गुण हैं। मनुष्य ने अपनी तपस्या के वन पर आदिम मनोवृत्तियों पर विजय पाई है।<sup>४</sup> नाथों के पदों में ब्रह्मचर्य, वाक्य समय शारीरिक और मानसिक पवित्रता, पान की प्रतिष्ठा, बाह्य आवरणों के प्रति अनादर आंतरिक शुद्धि और मद्य मांस के बहिष्कार पर पूरा जोर दिया गया है।<sup>५</sup> भक्ति साहित्य में भी चरित्रगत दृढ़ता, आचरण शुद्धि और मानसिक पवित्रता का दृढ़ स्वर सुनाई पड़ता है। जिस वान के बहने से मनुष्य पशु सामान्य घरानल से ऊपर नहीं उठता वह त्याग्य है।<sup>६</sup>

## छायावाद

मानवीय दृष्टि से कवि की कल्पना अनुभूति और चिंतन के भीतर से निकली हुई व्यक्ति अनुभूतियाँ के आवग की स्वतः समुच्चयित अभिव्यक्ति बिना किसी आयुस के और बिना किसी प्रयत्न के, स्वयं निबल पड़ा हुआ भावमोत ही छायावादी कविता का प्राण है। इस छायावाद में मानवतावादी दृष्टिकोण की प्रधानता थी। मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाते वाले व्यक्ति के चित्त में उन कायदण्डियों का प्रभाव नहीं रह जाता जो दीर्घकालीन परम्परा और रीतिबद्ध चिन्तन पद्धति के माग से सरकारी हृदय सहृदय के चित्त पर आ गिरी जाती है और कल्पना के अविचल प्रवाह और आवेगों की निर्वाप अभिव्यक्ति

१—साहित्य का मम पृ० ६८।

२—वही पृ० ६८।

३—हिन्दी साहित्य पृ० २७।

७—हिन्दी साहित्य पृ० ६६३।

२—वही पृ० ६८।

४—अगाध के फूल पृ० १७७।

६—अगाध के फूल पृ० १७७।

मे अन्तराय उपस्थित करती है।<sup>१</sup> इस दृष्टिकोण को अपनाने से सौन्दर्य की नई दृष्टि मिलती है।<sup>१</sup>

## यथार्थवाद

यथार्थवाद का मूल सिद्धांत है वस्तु की यथाथ रूप में चित्रित करना। यह यथार्थवाद सब समय मानवतावाद का विरोध नहीं करता है।<sup>१</sup> रोमान के पक्षपातियों ने यथार्थवादी चित्रण पर बड़ा कठोर आघात किया है, कभी-कभी इसे प्रकृतिवाद के साथ घुला मिला दिया गया है। प्रकृतिवाद के अनुसार मनुष्य प्रकृति का उसी प्रकार से अंश विकसित जंतु है, जिस प्रकार सप्ताह के अन्य प्राणी। प्रकृतिवादी लेखक मनुष्य को काम क्रोध आदि मथोरागा का गठोर मात्र समझता है और उसके अथहीन आचरणों, कामासक्त चोट्टाओं, और अहंकार से उत्पन्न धार्मिक वृत्तियों का विशेष भाव से उल्लेख करता है।<sup>१</sup> यथार्थवादी लेखक ठीक इन्हीं सिद्धांतों को नहीं मानता परंतु मनुष्य की व्योरेवार चोट्टाओं के चित्रण करते समय कभी कभी प्रकृतिवादी रसज्ञ के समा नास्तर चलने लगता है।<sup>१</sup> वस्तुतः यथार्थवाद का उल्टा शब्द आत्मवाद है और प्रकृतिवाद का उल्टा शब्द मानवतावाद, यथार्थ मानवतावादी लेखक मनुष्य को पशुसामान्य बरातल से ऊपर का प्राणी मानता है। वह त्याग और तप को मनुष्य का वास्तविक धर्म मानता है। वह विश्वास करता है कि यद्यपि मनुष्य में बहुत पशुसामान्य वृत्तियाँ रह गई हैं तथापि वह पशु नहीं है।<sup>१</sup> इस प्रकार मानवतावाद लेखक प्रकृतिवादी लेखक के ठीक उल्टे रास्ते पर चलता है।<sup>१</sup> यथार्थवाद सब समय मानवतावाद का विरोधी नहीं, परंतु ऐसे अवसर आते हैं, जब यथार्थवादी लेखक मानवतावाद के विरुद्ध चला जाता है।<sup>१</sup>

## प्रगतिवाद

प्रगतिशील की एक निश्चित संज्ञा पर आधारित सारा प्रगतिवादी साहित्य है। प्रगतिशील भाषक यह है किन्तु प्रगतिवाद एक निश्चित संज्ञान

१- हिन्दी साहित्य पृ० ४६२।

३- वही पृ० ४२८।

५- वही पृ० ४२६।

७- वही पृ० ४२६।

९- वही पृ० ४२६।

२- वही पृ० ४६२।

४- वही पृ० ४२६।

६- वही पृ० ४२८।

८- वही पृ० ४२६।

को सूचित करता है।<sup>१</sup> द्विवेदी जी का विश्वास है कि अगली मानवीय सस्कृति मनुष्यता की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी। आज व्यक्ति मानव के स्थान पर समष्टि मानव का प्राधान्य है। परन्तु साथ ही उसके मनुष्य की अतिरिक्त पापन आदश और अधिक प्रभावोत्पादक उत्साह दिया है। जब जब ऐसे बड़ आदश के साथ मनुष्य का योग होता है तब तब साहित्य नये काव्यरूपों की उदभावना करता है। इस बार भी ऐसा ही हुआ। इसी नवीन आदश से चालित साहित्य का नाम प्रगतिशील साहित्य है। श्री तत्त्ववाद पर जाग्रित शास्त्रा प्रगतिवादी साहित्य है।<sup>२</sup> प्रगतिवादी साहित्य मार्क्स के प्रचारित तत्त्वदर्शन पर आधारित है।<sup>३</sup> प्रगतिवादी साहित्यिक समाज की किसी व्यवस्था को सनातन नहीं मानता, किसी भी वस्तु को रहस्य और अज्ञेय नहीं समझता, तथा किसी अज्ञेय अलक्ष्य चिर तन प्रियतम की लीला को साहित्य का लक्ष्य नहीं मानता। वह समाज को बदल देने में विश्वास करता है।<sup>४</sup> उसका विश्वास है कि मनुष्य प्रयत्न करके इस समाज को ऐसा बना सकता है जिसमें शोषका और शोषिता के वणन हो और मनुष्य शांतिपूर्वक जीवन बिता सके। इसीलिए उनके अनुसार साहित्य वर्गहीन समाज की स्थापना का एक साधन है।<sup>५</sup>

## कलापक्ष

भाषा भाषा 'विचारा का अन्तिम यत्ति करने का साधन है। द्विवेदी जी के विचारा को इस सम्बन्ध में उचित समय यह कभी न भूलना चाहिए कि वे मानवतावादी सिद्धांत का सर्वाधिक महत्त्व दत्त हैं। कुछ वर्ष पूर्व 'विश्व भारती पत्रिका में 'नई समस्याओं का सम्बन्ध में द्विवेदीजी का एक वक्तव्य छपा था उस दस्तावेज कुछ लोगों ने नई शब्दाएँ उठाई थीं। उनमें से एक शब्दा थी कि क्या द्विवेदी जी सहज भाषा का पक्षपाती नहीं हैं। द्विवेदी 'ने इसका उत्तर विचार और विनय नामक निबंध संग्रह के अन्तिम लेख 'सहज भाषा का प्रश्न में दिया है। उनका कहना है 'निस्सन्देह में सहज भाषा का पक्षपाती हूँ। परन्तु सहज भाषा में उम समन्वयता हूँ तो सहज ही मनुष्य को आहार निद्रा आदि पशु साम्राज्य घरायल से उठा सके। सहज भाषा का अर्थ है सहज

१- 'श्री साहित्य' पृ० ८८५।

२- वही पृ० ४८५।

३- वही पृ० ४६५।

४- वही पृ० ४६५।

५- वही पृ० ४८५।

ही महान् बना देने वाली भाषा। वह भाषा जो मनुष्य को उसकी सामा-  
जिक दुर्गति, दरिद्रता, अघसस्कार और परमुखाप्यता से न बचा सक किसी  
काम की नहीं है, बल ही उसमें प्रयुक्त शब्द वाशर में विचरने वाले अत्यंत  
निम्नस्तर के लोग क मुग म सग्रह किय गये हा ।<sup>१</sup> अनायास लघ्व भाषा का  
द्विवेदी जी सहज भाषा मानने क लिए तयार नहीं हैं ।<sup>२</sup> उनके विचार म सहज  
भाषा तपस्या, त्याग और आत्मवलिदान के द्वारा सीखी हुई भाषा है ।<sup>३</sup> बबीर  
जम निगु ण पथ रवियों को महत्व दन का एक मात्र कारण प्रही था कि उन्होंने  
अपन कांय के लिए उम भाषा को चुना जा सब साधारण की भाषा थी ।  
सहज भाषा के माध्यम से बड़े से बड़े मिद्धात का सरलता स ही व्यक्त कर गये ।  
उन्होंने इस रहस्य का समझा था और उन्होंने यह भी समझा था कि सहज,  
व्यक्ति ही हुआ करता है, वस्तु नहीं ।<sup>४</sup> जो लोग सहज भाषा लिखना चाहत है  
उनकी स्वय सहज बनना पडेगा । इस सदन म हमे यह न भूलना होगा कि  
द्विवेदी जी न 'भाषा' शब्द का प्रयोग साहित्य के अर्थ म किया है । 'अशोक के  
फून' म 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' नामक निबंध क प्रारभ मे व ही विचार  
साहित्य क प्रति व्यक्त किए है जो भाषा क प्रति व्यक्त किए हैं । यह भाषा रास्ते  
म बटोरकर सग्रह की हुई भाषा नहीं ।<sup>५</sup> सीधी लकीर खीचना टेडा काम है ।  
सहज भाषा पाने के लिय कठीर तप आवश्यक है । जत्र तक आदमी सहज नहीं  
होता तब तक भाषा का सहज होना असभव है । स्वदेश विदेश के वतमान और  
अतीत के समस्त वागमय का रस निचाडन स यह सहज भाव प्राप्त होता है ।  
हर अदना आदमी क्या बोलता है या क्या नहीं बोलता, इस बात से सहज भाषा  
का आन्भ नहीं स्थिर किया जा सकता ।<sup>६</sup> य ही भाव विचार और चिन्त के  
सहज भाषा का प्रथ नामक निबंध मे भी मिलता है । जिन लोगों ने गहन  
साधना करने क लिय अपने का सहज गही बना लिया है व यह सहज भाषा नहीं  
पा सकता । व्याकरण और भाषाशास्त्र क बल पर यह भाषा नहीं बनाई जा  
सकती, कोष म प्रयुक्त शब्दों के अनुपात पर इस नहीं पढ़ा जा सकता ।<sup>७</sup>  
बबीरदास और तुलसीदास को यह भाषा मिली थी । महात्मागान्धी का भी यह  
भाषा मिली क्योंकि वे सहज हो सक उनम दान करन की क्षमता थी, अगर दा  
सायब वस्तु है तो भाषा स्वम सहज हा जायगी ।<sup>८</sup>

१—विचार और वितक पृ० १६४-६५ । २—वही पृ० १-२ ।

३—वही पृ० १६५ ।

४—वही पृ० १६५ ।

५—प्रयोग क फून पृ० १७६ ।

६—वही पृ० १७६ ।

७—वही पृ० १७६ ।

८—वही पृ० १७६ ।

को सूचित करता है।<sup>१</sup> द्विवेदी जी का विश्वास है कि अगली मानवीय सस्कृति मनुष्यता की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी। आज 'यक्ति मानव के स्थान पर समष्टि मानव का प्राधान्य है। परन्तु साथ ही उसका मनुष्य को अधिक यापक आदेश और अधिक प्रभावोत्पादक उत्साह दिया है। जब जब ऐसे बड़ आन्ध के साथ मनुष्य का याग होता है तब तब साहित्य नये काव्यरूपों की उदभावना करता है। इस बार भी ऐसा ही हुआ। इसी नवीन आदेश से चालित साहित्य का नाम प्रगतिशील साहित्य है। इसी तत्त्ववाद पर आधारित शाखा प्रगतिवादी साहित्य है।<sup>२</sup> प्रगतिवादी साहित्य मानस के प्रचारित तत्त्वदर्शन पर आधारित है।<sup>३</sup> प्रगतिवादी साहित्यिक समाज की किसी व्यवस्था को सनातन नहीं मानता, किसी भी वस्तु को रहस्य और अज्ञेय नहीं समझता, तथा किसी अज्ञेय अलक्ष्य विचरतन प्रियतम की लीला को साहित्य का लक्ष्य नहीं मानता। वह समाज को बदल देने में विश्वास करता है। उसका विश्वास है कि मनुष्य प्रयत्न करके इस समाज को ऐसा बना सकता है जिसमें शोषका और दासितो के वधन हों और मनुष्य शांतिपूर्वक जीवन बिता सके। इसीलिए उनके अनुसार साहित्य वर्गीय समाज की स्थापना का एक साधन है।<sup>४</sup>

### कलापक्ष

भाषा भाषा 'विचारों का अन्तिम यक्ति करन का साधन है। द्विवेदी जी के विचारों को इस सम्बन्ध में लिखते समय यह कभी न भूलना चाहिए कि वे मानवतावादी सिद्धांत का सर्वांगीण महत्त्व दते हैं। कुछ वर्ष पूर्व 'विश्व भारती पत्रिका में नई समस्याओं के सम्बन्ध में द्विवेदीजी का एक वक्तव्य छपा था उस दसवर्ष कुछ लोगों ने नई शिकाएँ उठाई थीं। उनमें से एक शिका थी कि क्या द्विवेदी जी सहज भाषा को पढ़ापाती नहीं हैं। द्विवेदी 'ने इसका उत्तर विचार और विनय नामक निबंध संप्रेषित कर अन्तिम नमस्कार सहज भाषा का प्रयत्न में दिया है। उनका कहना है निस्सन्देह में सहज भाषा को पढ़ापाती हूँ। परन्तु सहज भाषा में उम समझाता हूँ जो सहज ही मनुष्य को आहार निद्रा आदि पशु सामान्य घरायण से उठा सके। सहज भाषा या अर्थ है सहज

१- द्विवेदी साहित्य पृ० ४८५।

२- वही पृ० ४६५।

३- वही पृ० ४८५।

२- वही पृ० ४६५।

४- वही पृ० ४८५।

ही महान बना देने वाली भाषा। वह भाषा जो मनुष्य को उसकी सामा-  
जिक दृग्गति, दरिद्रता, अधसस्कार और परमुखापत्तिता से न बचा सके किसी  
काम की नहीं है, भल ही उसमें प्रयुक्त शब्द बाजार में विचरने वाले अत्यन्त  
निम्नस्तर के लोगों के मुख से सग्रह किये गये हो।<sup>१</sup> बनायास लब्ध भाषा को  
द्विवेदी जी सहज भाषा मानने के लिए तयार नहीं हैं।<sup>२</sup> उनके विचार में सहज  
भाषा तपस्या, त्याग और आत्मरहितदान के द्वारा सीखी हुई भाषा है।<sup>३</sup> कबीर  
जैसे निगुण पथ कवियों की महत्त्व देने का एक मात्र कारण यही था कि उन्होंने  
अपने काव्य के लिए उस भाषा को चुना जो सब साधारण को भाषा थी।  
सहज भाषा के माध्यम से बड़े से बड़े सिद्धांत का सरलता से ही व्यक्त कर गये।  
उन्होंने इस रहस्य का समझा था और उन्होंने यह भी समझा था कि सहज,  
यक्ति ही हुआ करता है, वस्तु नहीं।<sup>४</sup> जो लोग सहज भाषा लिखना चाहते हैं  
उनको स्वयं सहज बनना पड़गा। इस सद्भक्त मनुष्य यह न भूलना होगा कि  
द्विवेदी जी ने 'भाषा' शब्द का प्रयोग साहित्य के अर्थ में किया है। 'अशोक के  
फूल' में 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' नामक निबन्ध के प्रारम्भ में ही विचार  
साहित्य के प्रति व्यक्त किए हैं जो भाषा के प्रति व्यक्त किए हैं। यह भाषा रास्ते  
में बटोरकर सग्रह की हुई भाषा नहीं।<sup>५</sup> सीधी लकीर खींचना टड़ा काम है।  
सहज भाषा पान के लिये कठोर तप आवश्यक है। जब तक आदमी सहज नहीं  
होता तब तक भाषा का सहज होना असंभव है। स्वदेश विदेश के वर्तमान और  
अतीत के समस्त वागमय का रस निचोड़ने से वह सहज भाव प्राप्त होता है।  
हर अदना आदमी क्या बोलता है या क्या नहीं बोलता, इस बात से सहज भाषा  
का आदमि नहीं स्थिर किया जा सकता।<sup>६</sup> यही भाव विचार और वितक के  
सहज भाषा का प्रश्न नामक निबन्ध में भी मिलता है। जिन लोगों ने सहज  
साधना करने के लिये अपने को सहज गृही बना लिया है वे यह सहज भाषा नहीं  
पा सकते। व्याकरण और भाषाशास्त्र के बल पर यह भाषा नहीं बनाई जा  
सकती, काव्य में प्रयुक्त शब्दों के अनुपात पर इसे नहीं पढ़ा जा सकता।<sup>७</sup>  
कबीरदास और तुलसीदास को यह भाषा मिली थी। महात्मागांधी को भी यह  
भाषा मिली क्योंकि वे सहज होकर उनमें दान करने की क्षमता थी, अगर देने  
लायक वस्तु है तो भाषा स्वयं सहज हो जायगी।<sup>८</sup>

- 
- १-विचार और वितक पृ० १६४-६५।      २-वही पृ० १२५।  
 ३-वही पृ० १६५।                              ४-वही पृ० १६५।  
 ५-अशोक के फूल पृ० १७६।              ६-वही पृ० १७६।  
 ७-वही पृ० १७६।                              ८-वही पृ० १७६।



लोकभाषा को ही द्विवेदी जी वास्तविक भाषा मानते हैं। इसकी शली सहज और प्रसन्न होती है।<sup>१</sup> लोकप्रचलित वाक्य रूपों से साथ जीवन के बड़ लक्ष्य और आदर्श का याग हा जान से इस साहित्य में अपूर्व तजस्वित्ता आ जाती है। लोकभाषा में जो छद्म हैं उसमें किसी प्रकार की वृत्तित्ता का बोझ नहीं। इसमें शक्ति और प्रभाव होता है।<sup>२</sup> घुमाव किराब और जटिलता नहीं होता।<sup>३</sup> भाषा को वे का यका नित्य तत्त्व नहीं मानते। बचन जो की वे इसलिये प्रशंसा करते हैं कि हिन्दी को बड़ भगिमा से बचाया और लाक प्रिय हुए।<sup>४</sup> उनका मत है भाषा बहिता का वाहन है।<sup>५</sup> हम क्या बहना चाहते हैं यही मुख्य बात है, कमें बहना चाहते हैं यह बाद की बात है।<sup>६</sup> काव्य में प्रमुख भाषा नहीं है। वह नाव की अनुगामिनी है। भाषा में हृदयगत भाव को छूने की पूरी शक्ति हानी चाहिए इसी में उसकी मायकता है। भाषा हमारे भावी महालक्ष्य की पूर्ति का साधन है। हमारी भाषा ऐसी हो जिससे अधिक से अधिक व्यक्तियों को शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक क्षुधानिवृत्ति का सदश मिल सके।<sup>७</sup> भाषा औपिधि के समान है जो मनुष्यता को दुग्नि के राग से बचान का साधन है जिसका प्रयोग एक खास सीमा तक ही किया जा सकता है आग नहीं।<sup>८</sup> जिस भाषा की जीवनी शक्ति का अक्षय स्त्रात जन चित्त हो जो जन साधारण की भाषा हो, वह अपराजय होती है हिन्दी ऐसी ही भाषा हिन्दी श्रमलिये बड़ी है कि वह कोटि कोटि जनता के हृदय और मस्तिष्क की भूख मिटान वाली भाषा है।<sup>९</sup> हमारी भाषा ऐसी ही हानी चाहिए कि वह ममूली से मामूली जनचित्त को ऊपर उठा सके। हम ता श्रम भाषा को श्रम याम्य बना देना है कि वह साधारण से साधारण मजदूर से लहर अत्यन्त विकसित मस्तिष्क के बुद्धिजावी में समान भाव से विहार कर सके।<sup>१०</sup> अनिश्चित और उल्ल्वासपूर्ण भाषा साहित्य से क्षत्र में अधिक उचित नहीं होता।<sup>११</sup> भाषा उमक साधन और साध्य दोनों में सहज हो। रस पर विचार रस का ब्रह्मानन्दसादर बहना गया है इससे एक अलौकिक आनन्द की

१—हि । साहित्य पृ० १११ ।

२—वही पृ० १४५ ।

३—वही पृ० १५१ ।

४—वही पृ० ४७८ ।

५—मूरसाहित्य पृ० १७६ ।

६—विचार और वितक पृ० २०० ।

७—मूर साहित्य पृ० १५५ ।

८—विचार और वितक पृ० २०० ।

९—वही पृ० १६६ ।

१०—अशाक के फूत पृ० १६६ ।

११—वही पृ० १७८ ।

१२—विचार और वितक पृ० ८५ ।

प्राप्ति होती है। वस्तुतः रसवस्तु अनुभव की चीज है, विवेचना की नहीं। 'कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा कि "वाक्य जब सीधा खड़ा रहता है तब केवल अर्थ को प्रकट करता है परन्तु जब वह निरली भंगिमा में खड़ा होकर गतिशील हो उठता है तो साधारण अर्थ के अतिरिक्त और भी अनेक बातें प्रकाश करता है। वह अनिरीक्त वस्तु क्या है यह कहना कठिन है क्योंकि वह वचन के अतीत है और इमीलिये अनिवचनीय है। हम जो कुछ देखते हैं, सुनते हैं, जानते हैं उसमें जब अनिवचनीय का योग हाता है तो हम उसे रस कहते हैं अर्थात् यह वस्तु जिस हम अनुभव करते हैं पर व्याख्या द्वारा समझ नहीं सकते।' रस अनुभवगम्य वस्तु है।' काव्य में रसलोक की सृष्टि होती है इसमें एक ऐसा विचित्र शक्ति होती है जो इस दुनियाँ को ग्रहण की हुई सामग्रियों के उपादान से ही पाठक के चित्त में एक मनोरम कल्पना लोक का निर्माण करती है इस दुनियाँ में अनुभूत सुखदुखों के समानधमा सुखदुखा से ही निमित्त होता है इसीलिये इस दुनियाँ के समानांतर ही कहा जा सकता है, परन्तु वह इससे ऊपर होना है और स्थूल जगत के चमेलों से मुक्त होता है। काव्य के पक्ष पर केवल मनाभाव ही ऊपर उठ सकते हैं। फलतः मनाभाव वहाँ आनन्द ही उत्पन्न करते हैं इन मनोभावों के लौकिक रूप में दुनिया के स्थूल और मलिन पदार्थ मिल जाते हैं परन्तु कवि निर्मित अलौकिक रूप में यह स्थूल और मलिन पदार्थ असंपृक्त रह जाते हैं इसलिये आनन्द भी अनाविल और सूक्ष्म होता है। वह कवि का निर्मित जगत है, उसी निखरी हुई रुचि की छतनी से सब मलिनता छन जाती है और अपूर्व रसलोक की सृष्टि होती है। काव्य में एक बड़ा भारी गुण साधारणीकरण का होता है। काव्य के शब्दों में पाठक को रजोगुण और तमोगुण के पचड़े से हटाकर सत्वस्थ करने की शक्ति होती है। काव्य का आस्वादन सभी पाठक नहीं कर सकते जो महदय होता है वही उसका आस्वादन कर सकता है। क्योंकि कवि का रसलोक आप में पूरा नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति समान भाव से रसवस्तु को समझ नहीं पाता, उस समझने के लिये शिक्षा चाहिए, संस्कार चाहिए, साधना चाहिए। इस प्रकार द्विवेदी जी को रसमत्त माना है। द्विवेदी जी ने काव्य को वैयक्तिक भूमि की भी भायना दी है। यहाँ काव्य की वैयक्तिरता

१—साहित्य का मम पृ० ११।

२—वही पृ० ७५।

३—वही पृ० ५५।

४—वही पृ० ५६।

५—साहित्य का मम पृ० ५६।

६—वही पृ० ५६।

७—वही पृ० ५६।

का तात्पर्य यह है कि कवि ने जिन भावों को सवसाधारण का भाव बना दिया है वे गुरु गुरु में उमके अपने राग विरागा और मनननिध्यासन द्वारा अनुरजित चित्र में उपस्थित हुए थे। काव्य में प्रकट होने के बाद वे कवि के नहीं सहृदयमात्र के अपने भाव बन जाते हैं। साहित्य में केवल यह देखना आवश्यक है कि वह हृदय के किसी भाव को छपाया है या नहीं यदि साहित्यकार भाव का स्पष्ट कर सका है, तो उसका काम पूरा हो गया। इस प्रकार द्विवेदी जी काव्य का प्रमुख तत्त्व भाव या अनुभूति को ही मानते हैं।

## छन्द

द्विवेदीजी छन्द को मात्राओं और यतियों का बंधन नहीं मानते। वस्तुतः छन्द एक गति है। छन्द सामाजिक बंधनों का वाहन है। छन्द ने मनुष्य के सामाजिक सम्बंधों को दृढ़ और स्थायी बनाने में बड़ा काम किया है। छन्द एक समूहगत शक्ति है। एक चित्र के अनुभव को अनक चित्तों में अनायास संचरित करने वाला महान साधन है। वह वागाश्रित मानवीय प्रतिनिधि है। ऊँ भारतसाम्य की रक्षा करता है। सतुलन नहीं बिगड़न देना और नितान गद्यात्मक प्रयोजनों के भारोपन में भाव को मुक्त करता है। जिस समाज में छन्द नहीं है उममें सतुलन भी नहीं है और उसमें अध्यात्म भावना का अभाव हो जाता है समूची सृष्टि ही एक प्रकार छन्दोमयी गति है। छन्द रसानुभव का सहायक है। छन्द के प्रकट करने में साधारण ध्यान में भी एक ऐसी गति आती है जो मनुष्य के चित्र की अनुवर्तिनी ही उठती है। काव्य का छन्द उम बहतर सत्य के अनुस्यूत गान में ही मगन है। वह कलावाजों द्वारा आरापित काल्पनिक मकुट को पहन कर बड़ा नहीं हुआ है। छन्द मनुष्य का स्वता बना। कसकल्प का वाहक है। काव्य साहित्य का बहूत बड़ा भाग छन्द के कारण ही लोकप्रिय हुआ है। छन्द सूक्तियों में गति भर देते हैं। छन्द मनुष्य एवं उमके समाज के लिए बड़ा उपयोगी है। छन्द कवि के भावावग का वाहन है। \*स

१—द्विवेदी साहित्य पृ० ४३६।

३—साहित्य का मम पृ० १६।

५—वही पृ० ४६।

७—वही पृ० ४६।

८—वही पृ० ४६।

११—वही पृ० ४६।

१३—वही पृ० ४८।

२—मूरसाहित्य पृ० १५४।

४—वही पृ० १७।

६—वही पृ० ४६।

८—वही पृ० ४६।

१०—वही पृ० १६।

१२—वही पृ० ४६।

१४—वही पृ० ४१।

प्रकार छद्म मनुष्य के सामाजिक सम्पत्तियों को दूढ़ और स्थायी बनाने में भी बड़ा काम करता है।<sup>१</sup>

### अलंकार

भारतीय अलंकारशास्त्र की व्यापक विवेचना के पश्चात् इस सम्बन्ध में द्विवेदीजी के विचार इस प्रकार प्रकट होते हैं हमारे अलंकारशास्त्र रमणोध में सहायक हैं वाचक नहीं।<sup>१</sup> आज उन्हें प्रेरणा स्रोत के रूप में स्वीकार कर आगे बढ़ना चाहिए। वे काव्याय में प्रवेश करने का मार्ग दिखाते हैं। परन्तु जिस काव्य में केवल शब्दालंकार ही प्रकार उत्पन्न करता है, अथवा काव्य कम होता है, वह एक प्रकार की असाद्र अनुभूतिजनक आवेग का कथन उत्पन्न करता है।<sup>२</sup> अथवा हीन शब्दालंकार न तो काव्य की गठ अनुभूति ही पदा करते हैं और न सगीन का प्रवाह ही। परन्तु जहाँ शब्दालंकार में अथवा बना रहता है वहाँ के काव्यगत प्रभाव को समीत की सहजगति दूर बहुत अधिक आगे बढ़ा देते हैं ऐसे स्थलों पर शब्दालंकार काव्यप्रभाव की सहायता करते हैं।<sup>३</sup> अर्थालंकार यदि ठीक से प्रयुक्त हुए तो शब्द के प्राणपद और विशेषाधानहेतुक दोनों ही धर्मों में ही गठ अनुभूति का रस लब्ध करते हैं कि हम उनकी सहायता से कव्य के व्यक्तित्व को गुणा की और त्रियाया को गठ भाव से अनुभव करते हैं।<sup>४</sup> द्विवेदीजी शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों को अधिक महत्त्व देते हैं। अर्थालंकारों में भी आवेग युक्त अलंकार को। अलंकार प्रयोग से कवि मनुष्य को अधिक सरलतापूर्वक गिरने से बचा सकता है ऊपर उठा सकता है। यदि अलंकारों के इन प्रयोजनों की पूर्ति न होती हो तो वे व्यर्थ हैं।

साहित्य का लक्ष्य मनुष्य है अर्थात् मनुष्य के लिए साहित्य है मानव के उत्थान के लिए साहित्य का मूल्यांकन होना चाहिए यही से मानवतावादी आदर्श की नींव पड़ जाती है। और एक प्रकार से यह आदर्श एक और भक्त कवियों की मुक्ति के लाभ का प्रयत्न है अर्थात् विगुह अध्यात्मवाद से भी द्विवेदीजी का लक्ष्य भिन्न पड़ जाता है दूसरी ओर साहित्य का लक्ष्य आनन्द एव रस की सृष्टि है तो वह भी एक प्रकार से इस मनुष्य के उत्थान के लक्ष्य के नीचे पड़ जाता है। द्विवेदीजी शास्त्रीय आदर्श में भिन्नता रखते हैं दूसरी ओर साहित्य की

१—साहित्य का मम पृ० १७।

२—वही पृ० २६।

३—द्विवेदी साहित्य पृ० ३३१।

४—वही पृ० ३३१।

५—वही पृ० ३३१।

साध्य ही नहीं साधन भी है बल्कि हमारी आज की परिस्थिति में वह साध्य की अपेक्षा साधन अधिक है।<sup>१</sup>

हम किसी एक भाषा या जाति के प्रति मोह या अभ्यस चिढ़ने से हमारा दारिद्र्य ही सूचित होता है। इसका अर्थ कारण समझते हुए द्विवेदी जी कहते हैं कि नाना प्रकार की ऐतिहासिक परम्पराओं के भीतर से गुजरने के कारण भिन्न भिन्न जनसमूह के लिए भिन्न भिन्न प्रकार की भाषा आवश्यक है। परम तथ्य का ध्यान में रखने की बात हमेशा स्मरण दिलाते हुए नहीं भूलते।

मनुष्य अनाना ही ज्ञान विज्ञान का लक्ष्य है। मनुष्य अर्थात् पशुसाम्राज्य क्षुद्र स्वार्थों से मुक्त परमप्रेम स्वरूप। मनुष्य को प्रेम नहीं करने लगते तब तक हम रक बन रहेंगे। रक अर्थात् प्रवृत्तियों के गुलाम उत्तेजनाभा के शिकार और क्षुद्र स्वार्थों के मुहताज।<sup>२</sup>

द्विवेदी जी प्रत्यक्ष मनुष्य को ही अध्ययन की सामग्री मानते हैं।<sup>३</sup> यह मनुष्य ही वास्तविक लक्ष्य है। मनुष्य का स्वरूप क्या है? वास्तव्य से धर्म, आचार परम्परा वगैरे वगैरे, मनोविज्ञान आदि भण्डों के होते हुए भी ऊपरी सतह के नीचे मनुष्य सब एक है।<sup>४</sup> दूसरों के साथ तादात्म्य या एकत्व की अनुभूति ही मनुष्य की चरम मनुष्यता है।<sup>५</sup> वह अपने को चिन्तित द्राक्षा के समान निचाड़कर समस्त सुख दुःखों को तेलवाती में जला कर मनुष्य अपने आपका महा 'एक' को समर्पण करता है तो वह मनुष्य बनता है। उसका सम्पूर्ण जीवन चरितार्थ होता है।<sup>६</sup> मनुष्य का श्रेष्ठ रूप का प्रकट होना ही उसका स्वाभाविक धर्म है। मनुष्य की मनुष्यता पशुसाम्राज्य मनोवृत्तियों को उत्तम करने में नहीं बरने उसकी साधना, तपस्या में है।<sup>७</sup>

मनुष्य एक है, भण्ड विभक्त ऊपरी बात है। मनुष्य की इस महान एकता को पाने के लिए समस्त सजीव स्वार्थों का बलिदान, क्षणिक आवेगों का दमन, उन्मत्त सवगा का निराध अशुचि वासनाओं का सयमन, गलत तर्क पद्धति

१-हमारी-वही पृ० ४४।

३-अज्ञात के पून पृ० १८०।

५-साहित्य का धर्म पृ० ६६।

७-वही पृ० ७०।

२-विचार और वित्तक पृ० १६८।

४-विचार और तर्क पृ० १०३।

६-वही पृ० ७०।

८-वही पृ० ७०।

का निराश और आत्मधम का विवक आवश्यक साधन है ।<sup>१</sup> इ ही से वह परम आनन्द चित्त में उच्छल हो उठता है जिसका प्रकाश साहित्य है ।

साहित्यिक रचनायें केवल व्यक्ति की निजी अनुभूति की सीमाओं में आवद्ध नहीं होती । वे समूची सामाजिक चेतना का अनुरणन हैं ।<sup>२</sup> मनुष्य के सुख दुखों का परिचय और उसकी आकांक्षाओं की गाढ उपलब्धि तक तक महीनय नहीं हो सकती जब तक उसे मनुष्य उस महान धम की ओर उन्मुख और क्रियाशील नहीं हो जाता जिसे मनुष्यता कहते हैं ।<sup>३</sup> सब आसान और अनायास साध्य बातें मनुष्य को प्रिय नहीं हैं क्योंकि वह सृष्टा है, वह धम वृत्तिक है, वह समूचे प्राकृतिक जगत का अनुकूल और मनोरम रूप में गढ़ लेने का शक्ती है । इसीलिए साहित्य का मम वही समझ सकता है जो साधन और तपस्या का मूल्य समझे । 'मनुष्य' रूपी पुरुष ही अर्थात् पशु सुलभ धरातल से ऊपर उठा हुआ मनुष्यत्व धर्मों की सृष्टि को सबसे बड़ी साधना है । उससे बड़ा कुछ भी नहीं ।<sup>४</sup>

मानवता के दो प्रधान लक्षण बताये हैं । (१) मनुष्य की महिमा और मानवीय मूल्यों में विश्वास (२) मनुष्य के मर्त्य जीवन की किसी प्रकार के पाप फल भोगने का परिणाम न समझ कर इसे इसी दुनियाँ में दुख शोक से बचाना और इसी दुनियाँ में इस सुगम समृद्धि से युक्त करना ।<sup>५</sup>

भिन्न भिन्न युगों में साहित्यिक साधनाओं के मूल में कोई न कोई व्यापक मानवीय विश्वास होता है । आधुनिक युग का व्यापक विश्वास मानवतावाद है । इस मध्य युग के मानवतावाद से घुला नहीं देना चाहिए जिसमें किसी न किसी रूप में यह स्वीकार किया था कि मनुष्य जन्म दुर्लभ है और भगवान अपनी सर्वोत्तम लीलाओं का विस्तार नर रूप धारण करके ही करते हैं । नवीन मानवतावादी विश्वास की सबसे बड़ी बात है इसकी ऐहिक दृष्टि और मनुष्य के मूल्य और महत्व की मर्यादा का बोध ।<sup>६</sup>

सृष्टि परम्परा में मनुष्य का विकास अदभुत बात है । वह इस सृष्टि प्रक्रिया का सबसे उत्तम सबसे सुबुमार अतएव सबसे अधिक आदरास्पद और महत्वपूर्ण वस्तु है ।<sup>७</sup> मनुष्य को सुखी बनाना उस सब प्रकार की आर्थिक और

१—साहित्य का मम पृ० ७५ ।

२—वही पृ० ७७ ।

३—वही पृ० ७७ ७८ ।

४—वही पृ० ७८ ।

५—विचार और विवक पृ० १८६ ।

६—वही पृ० १८८ ।

७—हिन्दू साहित्य पृ० ४३० ।

राजनीतिक गुलामी से मुक्त करना और उन राग शान के चमूल से छुड़ाना ही सत्र प्रकार के शास्त्रो एव विद्याओ का प्रधान लक्ष्य है ।<sup>१</sup> मनुष्य का इसी मत्स्य काया म इसी दुनियाँ में सुखी बनाने का लक्ष्य क्या है ? मनुष्य अदभुत शक्तियों का भंडार है उसका अनन्त स्थान आत्म बलिदान के बाद अपने भीतर अनेक सद-गुणों का विकास, पशुमानान्य घरातल से ऊपर उठ गया । इस मनुष्य की सभावनायें अनन्त हैं । इस मत्स्यलोक को अदभुत अपूर्व शक्तिस्थल बनाने की क्षमता इस मनुष्य में है । यही मानवतावादी दृष्टि है ।<sup>२</sup> यही मानवतावादी दृष्टि आधुनिक संस्कृति का मरुदण्ड सिद्ध हुआ है यह पूणन आशावादी है । प्राचीन धर्मभावना में मनुष्य को परलोक में सुखी बनाने का संकल्प था, नई मानवता पर आधारित धर्मभावना में मनुष्य को इसी मत्स्यकाया में सुखी बनाने का संकल्प है । यह मानवतावाद पुरानी धर्म भावना का विरुद्धगामी दृष्टिकोण सिद्ध हुआ । फलस्वरूप आचारों, विश्वासा और श्रियाओ के मूल्या में बड़ा अंतर आ गया, ईश्वर और मोक्ष को मानना न मानना, गौण बात हो गई, मनुष्य को इसी लोक में सुखी बनाना मुख्य ।<sup>३</sup> आज का मानवतावाद व्यक्ति मानव की नहीं, समष्टि मानव की आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्ति चाहता है । आज के युग में सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम समाधान है ।

वदाचिन इस मानवतावादी दृष्टि न ही द्विवेदीजी को काव्य की परंपरागत मायताओं और सब स्वीकृत विवेचनों से अलग कर दिया और उन्होंने इस मानवतावादी दृष्टि के कारण ही साहित्य के नये प्रतिमानों का निर्माण किया । द्विवेदीजी की दृष्टि परिनिष्ठित साहित्य से हटकर लोक साहित्य पर पहुँची और उन्होंने व्यापक भारतीय जीवन में जो निम्न वर्ग के उनके उत्पादन के लिए दिए गए कबीर आदि के प्रयत्न का महत्त्व को प्रतिपादित किया बल्कि यह कहना चाहिए कि मध्यकालीन धार्मिक साधना और नायक संप्रदाय कबीर आदि के विवेचना से द्विवेदीजी न स्वीकृत साहित्यिक पद्धति का अतिश्रमण कर लिया है विभापकर कबीर को भारतीय साहित्यकारों में शीघ्र स्थान धारित किया है ।

प्राचीन हिन्दी साहित्य के विवेचन में द्विवेदीजी की स्वतंत्र और मौलिक दृष्टि का परिचय उनकी कबीर नामक पुस्तक में सबसे अधिक मिलता है । यही यह सूचित होना समझता है कि द्विवेदीजी हिन्दी साहित्य के प्राचीन

१—हिन्दी साहित्य पृ० ४३० ।

२—वही पृ० ४५१ ।

३—वही पृ० ४३१ ।

४—वही पृ० ४६५ ।

कवियों पर वही दृष्टि रखते हैं जो आचार्य शुक्ल तथा उनके पूर्ववर्ती और परवर्ती विचारको ने प्रदर्शित की है। यद्यपि हिन्दी साहित्य के आरम्भिक अग्रज इतिहास लेखकों ने कवीर को पर्याप्त प्रशंसा की है परन्तु साहित्यिक भूमिका पर अधिक न कहकर उ होने धार्मिक दृष्टि से कवीर को हाकना चाहा है। यहाँ भी कवीर के जो धार्मिक आदर्श त्रिचिन्तन मत के अधिक समीप हैं उनकी विशेष रूप से प्रशंसा की गई है इस प्रकार इन विद्वानों का कवीर सम्बन्धी आकलन अचूक और एकांगी ही कहा जायगा। उनके पश्चात् मिश्रवन्धुओं ने अपने 'हिन्दी नवरत्न' ग्रन्थ में कवीर की चर्चा की है। परन्तु वह भी उसके परवर्ती संस्करण प्रथम संस्करण में कवीर को नवरत्नों में स्थान नहीं दिया गया। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि मिश्रवन्धु की साहित्यिक और आचार्य दृष्टि में कवीर महत्वपूर्ण नहीं दिखाई देने। मिश्रवन्धुओं के समक्ष हिन्दी साहित्य के इतिहास और भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की भी कोई स्पष्ट धारा नहीं बन सकी थी। वे स्फुट रूप में कवियों का विवेचन करते जा रह हैं, फिर भी उन्होंने 'नवरत्न' के दूसरे संस्करण में कवीर की परिगणना की है। यह भी उनके साहित्यिक इतिहास के सम्बन्ध में नवीन चिन्तन का परिणाम है।

### शुक्ल जी और द्विवेदी जी की भिन्न दृष्टियाँ

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने अपने इतिहास ग्रन्थ में तो विभिन्न कवियों की समकालीन परिस्थितियों का उल्लेख तो किया ही है, उन्होंने दार्शनिक भूमिका पर भारतीय धर्म के ज्ञान, भक्ति और कर्म के पक्षों का यथेष्ट दिग्दर्शन भी कराया है। इसके साथ ही उन्होंने अपने गुरुस्वामी तुलसीदास और जायसी प्रयागवासी की भूमिका में भी धर्म की उक्त तीन शाखाओं का उल्लेख किया है। उनके मत में मध्यकालीन हिन्दू धर्म श्रुतिसम्मत परम्परा को छोड़कर बहुत कुछ एकांगीरूप में दिखाया है। मध्य युग के सिद्ध और नाथ परम्परा के धार्मिक उन्मादों और कवियों में जो गृह्य प्रवृत्तियाँ मिलती हैं उन्हें शुक्ल जी भारतीय धर्म के ह्रास का लक्षण मानते हैं रामायण और महाभारत में वर्णित भारतीय समाज जो सर्वांगीण विकास होने में दिखाई देती है उनका परवर्ती काव्य भी बहुत कुछ अभाव हो गया है। एक ओर कवि जयदेव की गीतपरम्परा राधा कृष्ण के प्रेमपथ का लेकर ही अभिव्यक्ति बना सके, दूसरी ओर ज्ञान के गुणपथों से लेकर रहस्यवादी सिद्धों और नाथान काव्य को जीवन से बहिष्कृत कर दिया। सूरियों के प्रेम मार्ग के अनन्त जो प्रवचन काव्य निरूपण के उनमें यद्यपि सूक्ष्म प्रेम की प्रधानता थी परन्तु लोक जीवन के अनेकानेक दृश्य और पक्ष भी सम्मिलित हुए थे।



कबीर के सम्बन्ध में अपना अभिमत देते हुए गुल जी ने उनकी आशिक प्रशंसा की है। उनका कथन है कि कबीर ने नायपयियों के शुद्ध योगाचार में सूफी प्रेमसाधना का योग देकर एक विगिष्ट भक्ति मार्ग की प्रतिष्ठा की जिसे निगुण भक्ति के नाम से प्रवर्तित किया गया। इस निगुण भक्ति में जहाँ एक ओर हिन्दू दशन का ब्रह्मवाद सम्मिलित है वहाँ दूसरी ओर सूफियों का प्रेमवत्त्व भी समाहित हो गया है। इस प्रकार ज्ञान और प्रेम के दो जीवन पक्षों का संयोजन तो कबीरदास ने किया परन्तु उस काम में जो योजना नहीं की जो भारतीय धर्म का और विशेषकर लोकधर्म का एक अविच्छेद्य तत्व है। आचार्य गुल जी के मन में पान भक्ति और काम का सम बंध गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित मानस के द्वारा ही सम्पन्न हो गया है अतएव उनके मत में भारतीय धर्म के सच्चे उत्तापक और नवप्रतिष्ठाता गोस्वामी तुलसीदास ही थे।

तुलसीदास से कबीर का अन्तर बताते हुए आचार्य रामचन्द्र गुल जी अपनी उपयुक्त रचना का अनेक बार प्रयोग किया है। उन्होंने यह बताया है कि कबीरदास श्रुतिसम्मत हरिभक्ति पथ के अनुयायी नहीं थे लोकजीवन में विगिष्ट समाज के बीच उनकी वाणियों का कोई विगिष्ट प्रभाव नहीं था। उनके विचार और उनका कार्य अधिकतर अनपढ़ लोगों के बीच में प्रसार पा गया और वहाँ भी वह धर्मोपदेशकों में झूठे अहंभाव की वृद्धि में सहायक हुआ। ब्रह्मदशन का दम करने वाले लोगों की संख्या बढ़ने लगी। तभी तो गोस्वामी तुलसीदास को कहना पड़ा 'साखी शायी दोहरा कहि किहिनी उपखान भगति निरूपहि भगत निरूपहि वेदपुरान' स्पष्ट है कि यह उक्ति कबीर जैसे एकांगी भक्ति के निरूपकों के लिये ही कही गई है। गुल जी ने कबीर के इस पक्ष को उभसित करके ही सतोष नहीं किया बल्कि वे दो कदम आगे बढ़कर तुलसी की इस उक्ति का उद्धरण भी देने हैं—

‘हम लखि लखहि हमारि लखि हम हमार के बीच  
तुलसी अलखहि का लखे, राम नाम जप नीच ।’

नाय पयियों से कबीर को विगिष्टना एक ओर वात में भी आचार्य गुल जी ने लिखा वह यह है कि कबीर के वक्तव्यों में नैतिकता का इतना गहरा पट्ट है कि सूफियों और कृष्णभक्त कवियों की श्रद्धारिकता उसमें प्रवेश नहीं कर पाई अतएव इस दृष्टि में कबीर का निगुणमन सूफियों की प्रेममार्गी अतिपना और कृष्णभक्तों के भाष्यभाष से श्रद्धारिकता के बन्धन बन्धन बंधा रहा।

यह मत्र निवृत्ते हुए भी आचार्य गुप्त जी के कबीर के काव्य को आगद भाषा और सघुक्कण्टी प्रयोगों का उदाहरण बनाया है। और साहित्यिक दृष्टि से भी उनके काव्य की विशिष्टता स्वीकार नहीं की है। एक तो गुप्त जी प्रयात्मक काव्य के इतने पक्षपाती रहे हैं कि उन्हें घणनात्मक काव्य की तुलना में गीतात्मक काव्य या मुक्तकाव्य में कोई विशेषता लक्षित नहीं हुई। इसीलिए उन्होंने जायसी की लोहरवा क आघार पर नाच रचना करने वाले प्रिया का ही कबीर की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण माना है और इसी कारण उन्होंने कण्ठलीला के गायक मणिकवि सूरदास को भी एकान्ती ही ठहराया है। हम कह सकते हैं कि आचार्य गुप्त का यह समग्र विवेचन चाहे वह धार्मिक और दार्शनिक आधारों का लेकर बना हो अथवा साहित्यिक भूमिकाओं का स्पर्श करता हो उनके निजी विचारों का बाहक है।

इसके विपरीत आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी की स्थापनाएँ न केवल कबीर का असाधारण महत्त्व देती हैं वरन् समस्त मध्यकालीन धर्मशास्त्रों का, जिसमें सिद्धों और ताया की परंपरा भी सम्मिलित है जगन्निवन में सम्बद्ध हान के कारण असाधारण वैशिष्ट्य प्रदान करती हैं। अब कि गुप्त जी तथा अन्य समीक्षक जैन साहित्य को सांप्रदायिक कट्टर वास्तविक काव्य इतिहास के अंतर्गत सम्मिलित करने का भी तैयार नहीं हैं तब द्विवेदी जैन साहित्य में सांप्रदायिकता का अर्थ मानते हुए भी उसे काव्य और सामाजिक सस्कृति की भूमिका पर रखकर परखना चाहते हैं। इन सब में उनका यह तर्क उचित ही है कि यदि समस्त जैन साहित्य को सांप्रदायिक कहकर छोड़ दिया जाएगा तब तो गोस्वामी तुलसीदास के काव्य को भी साहित्य की सीमा में नहीं लिया जा सकेगा क्योंकि उसमें भी भक्ति भाव का निरूपण है। यद्यपि द्विवेदी जी का यह तर्क जनों के सांप्रदायिक काव्य के साथ तुलसीदास के महान् काव्य को एक श्रेणी में रखने का उद्योग सवधा गम्यनीय नहीं है फिर भी इससे उनकी उस दृष्टि का परिचय मिलता है जो साहित्य को कला की वस्तु न मानकर मनुष्यों और मानवीय मस्कृति को वस्तु मानते हैं। आचार्य द्विवेदी कबीर की भाषा के संबंध में निम्नलिखित वक्तव्य देते हैं 'भाषा पर कबीर का जबर्जस्त अधिकार था। वे बागी के टिकटटर थे, जिस बान को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से बहजवा लिया है। बत गया है तो गीधे सीधे नहीं तो दररा देवर, भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार सी नजर आती है, कबीर के

कबीर के सम्बन्ध में अपना अभिमत देते हुए गुजन जी ने उनकी आशिक प्रशंसा की है। उनका कथन है कि कबीर ने नाथपंथियों के शुद्ध योगाचार में सूफी प्रेमसाधना का योग देकर एक विशिष्ट भक्ति मार्ग की प्रतिष्ठा की जिसे निगुण भक्ति के नाम से प्रवर्तित किया गया। इस निगुण भक्ति में जहाँ एक ओर हिन्दू दर्शन का ब्रह्मवात् सम्मिलित है वहाँ दूसरी ओर सूफियों का प्रेममत्त्व भी समाहित हो गया है। इस प्रकार ज्ञान और प्रेम के दो जीवन पथों का संयोजन तो कबीरदास ने किया परन्तु उस काम पथ की योजना नहीं की जो भारतीय धर्म का और विशेषकर लोकधर्म का एक अविच्छेद्य तत्व है। आचार्य गुजन के मत से ज्ञान भक्ति और काम का सम्बन्ध गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित मानस के द्वारा ही सम्पन्न हो गया है अतएव उनके मत में भारतीय धर्म के सच्चे उत्तराधिकारी और नवप्रतिष्ठाता गोस्वामी तुलसीदास ही थे।

तुलसीदास से कबीर का अंतर बताते हुए आचार्य रामचन्द्र गुजन ने अपनी उपयुक्त स्थापना का अनेक बार प्रयोग किया है। उन्होंने यह बताया है कि कबीरदास श्रुतिसम्मत हरिभक्ति पथ के अनुयायी नहीं थे लोकजीवन में शिष्ट समाज के बीच उनकी वाणियों का कोई विशिष्ट प्रभाव न था। उनके विचार और उनका कार्य अधिकतर जनपथ लोगों के बीच में प्रसार पा गया और वहाँ भी वह धर्मोपदेशकी में नूठे अहंभाव की वृद्धि में सहायक हुआ। ब्रह्मदर्शन का दम करने वाले लोगों की संख्या बढ़ने लगी। तभी तो गोस्वामी तुलसीदास को कहना पड़ा 'साखी शान्ती दोहरा कहि किठिनी उपखान, भगति निरूपहि भगत निर्निहि वेदपुरान' स्पष्ट है कि यह उक्ति कबीर जने एकान्ती भक्ति के निरूपकों के लिये ही कही गई है। गुजन जी ने कबीर के इस पक्ष को उपस्थित करके ही सतपथ नहीं किया बल्कि वे दो काम आगे बढ़कर तुलसी की इस उक्ति का उद्धरण भी देने हैं—

'हम लखि लखहि हमारि, लखि हम हमार के बीच  
तुनमी अनसहि का लखे, राम नाम जप नीच ।'

नाथ पंथियों से कबीर की विविष्टता एक ओर बात में भी आचार्य गुजन जी ने सिद्धात् यह यह है कि कबीर के वक्तव्यों में नतिकता का इतना गहरा पुट है कि मूर्खिया और कल्पभक्त कवियों की शृङ्गारिकता उसमें प्रवेश नहीं कर पाई अतएव इस दृष्टि में कबीर का निगुणमय सूफियों की प्रेममार्गी अनापत्ता और कल्पभक्तों के माधुयभाव से शृङ्गारिकता के बहुत कुछ बचा रहा।

केन्द्र से संपक्त होकर उस व्यक्तित्व का गुणगान करती है जो सारी घममाघना को अपने में समेट लेने की शक्ति रखती है। जहाँ तक साहित्यिक सौष्ठव की चर्चा है द्विवेदी जी का आग्रह मानवता को विकसित करने वाली साहित्य से है। सुसज्जित, गमलकृत रस विधायक और कलापूण अभि यंजना से ही नहीं। कबीर के सम्बन्ध में न केवल शुक्ल जी का ही मत विचारणीय है बल्कि साहित्यिक भूमिका पर कबीर के प्रदेश के सम्बन्ध में सदैव प्रश्न उठने रहेंगे। मतभेद के लिए पूरा स्थान रहते हुए भी यहाँ केवल द्विवेदी जी की दृष्टि का विकास देख रहे हैं, जो साहित्य में अपरिचित है उनको भी जैसे बाहुल्य संप्रदाय के लाकवियों के विषय में जिस प्रकार क्षितिमोहनसेन जैसे विद्वानों ने उन अपरिचित कवियों को महत्व दिया सरन भाषा कवियों को महत्व दिया उसी प्रकार द्विवेदीजी ने अज्ञात कवियों को मानवतावादी दृष्टि से महत्व दिया। इस दृष्टि का विस्तार द्विवेदी जी के अनकानक साहित्यिक विचारों में मिलता है। भक्त कवियों की समीक्षा करते हुए द्विवेदी जी उनके लौकिक पक्ष, उनके जनजीवन में व्याप्त प्रभाव, लोक सस्कारक उनकी काव्य रचना को महत्व देते हैं, उनका साहित्यिक सौष्ठव को उनकी भाषा की समृद्धि को द्वितीय स्थान देना चाहते हैं, कदाचित् आधुनिक साहित्य में प्रेमचन्द को सर्वोपरि महत्व दिया। प्रेमचन्द के प्रति विचार देना प्रेमचन्द सताब्दियों से पददलित अवमानित और निष्पोषित कृपका की आवाज थे। पदों में कैद, पद पद पर नाछिन और असहाय नारी जाति की महिमा के जवरत्नस्त वकील थे। गरीबों और बकसा के महत्व के प्रचारक थे। 'प्रेमचन्द मनुष्य की सद्बलिया में विश्वास करते थे। मनुष्य की दुबलियों को वे अजय तो समझते ही नहीं उनको भाव रूप में स्वीकार करते हैं या नहीं इसी में सदह है। वे मानते हैं कि जड़ों-मुखी सम्प्रदाय ने हम जड़ता को ही प्रधानता दी है।' वगैरे रूप में व्यक्ति को देखना प्रेमचन्द की विशेष दृष्टि थी और सधय में सहयोग के द्वारा ही शान्ति प्राप्ति उनका चरम साधना थी।' साधारण जनता के अस्तित्व में पहुँचकर उस दुनिया के सामन विकृत करने में प्रेमचन्द कमाल करते हैं। वे गरीबों से इस प्रकार घुल मिल गये कि पैसवालों के प्रति एक गहरी उपेक्षा उनके व्यक्तिगत जीवन में आ गई थी। दरिद्रता की बहालत करना लोकचक्रु गोचर करना प्रेमचन्द का मनोरजन या बुद्धिविलास नहीं था। वह उनके जीवन का अरमलदय या उसमें वे आध्यात्मिक सतीप पाते

१-विचार और वितक पृ० ५०।

२-वही पृ० ५१।

३-वही पृ० ६०।

४-वही पृ० ६२।

साहित्यिक गुणों पर विचार करते हुए द्विवेदी जी ने उनके व्यंग्या पर विशेष प्रकाश डाला है। वे कहते हैं पंडित और काजी, अबधू और जोगिया, मुल्ला और मौलवी सभी उनके "यग्य स तिलमिला जात हैं। अत्यंत सीधी भाषा में वे ऐसी गहरी चोट करते हैं कि चोट खानेवाला केवल धूल झाड़कर चल देने के सिवा और कोई दूसरा रास्ता ही नहीं पाता।" कबीर की साहित्यिक विशेषताओं से भी बढ़कर द्विवेदी जी उनके "यत्तित्व की विशेषता का कायल हैं। द्विवेदी जी यह स्वीकार करते हैं कि कबीर ने कविता लिखने की प्रतिज्ञा करके अपनी बातें नहीं कही थीं। कायगन रुद्धि के व न तो जानकार थे और न कायल परंतु अपने "यत्तित्व की अनय असाधारणता के कारण उनका लोहा सबको मानना पड़ता है। इसी "यत्तित्व के कारण कबीर की उत्तिया श्रोता को बलपूर्वक आह्वान करती है।

द्विवेदी जी ने कबीर पर लगाये गये इस आरोप का भी उत्तर दिया है कि कबीर का काय गिण्टजनो का आकर्षित नहीं करता जो लोग कबीर की वाणियो में पांडित्य की कमी की शिकायत करते हैं उनका उत्तर देते हुए द्विवेदी जी कहते हैं "यह मानी हुई बात है कि जो बात लोभ में अहंकार कहलाती है वह भगवत्प्रम के क्षेत्र में स्वाधीन भक्त का नायिका के गव की भांति अपनी और अपने प्रिय के प्रति अखंड विश्वास के परिचायक, जो वाक्य लोक में दक्ष एव कामरूपन कहलाती है वही भगवत्प्रम के क्षेत्र में भगवान के प्रति भक्त का अनन्य परायण आमापण होती है। और जो बातें लोक में परस्पर विरुद्ध जचनी हैं भगवान के विषय में उनका विरोध दूर हो जाता है इस प्रकार द्विवेदी जी ने भगवत्प्रम के क्षेत्र को सामान्य लोकधर्म के भूमिका से भिन्न एव पथक बनाया है। जहां गुन जी सामान्य और यत्तित्व साधना के बीच एक नसर्गिक विरोध देखकर दोनों में सामंजस्य की अभिशप्ता करते हैं वहां द्विवेदी जी कबीर के यत्तित्व साधना के स्वरूप विकसित हुए उनके "यत्तित्व की शतग अभ्यधता करते हैं। यहां भी दो विचारका के बीच विचारधारा का स्पष्ट और आत्यंतिक अंतर देगन हैं। परंतु इतना फिर भी कहा जा सकता है कि ये दोनों दृष्टियाँ समान रूप में विचारणीय हैं। आचार्य गुन की दृष्टि जहां कम ज्ञान और भक्ति का समन्वय चाहती है और जहां वह श्रुतिसम्मत परंपरा का आग्रह करती है, सिद्धता और शालीनता का महत्त्व देती है वहां द्विवेदी जी की दृष्टि एक महान

केन्द्र से संपक्त होकर उस व्यक्तित्व का गुणगान करती है जो सारी धर्मसाधना को अपने म समेट लेने की शक्ति रखती है। जहाँ तक साहित्यिक सौष्ठव की चर्चा है द्विवेदी जी का आग्रह मानवता को विकसित करने वाली साहित्य से है। सुसज्जित, समलङ्कृत रस विधायक और कलापूर्ण अभिव्यञ्जना से ही नहीं। कबीर के सम्बन्ध में न केवल शुक्ल जी का ही मत विचारणीय है बल्कि साहित्यिक भूमिका पर कबीर के प्रदेश के सम्बन्ध में सदैव प्रश्न उठने रहेंगे। मतभेद के लिए पूरा स्थान रहते हुए भी यहाँ केवल द्विवेदी जी की दृष्टि का विकास देख रहे हैं, जो साहित्य में अपरिचित है उनकी भी जैसे बाहुल्य संप्रदाय के लोककविया के विषय में जिस प्रकार क्षितिमोहनसेन जैसे विद्वानों ने उन अपठित कवियों को महत्व दिया सरल भाषा कवियों को महत्व दिया उसी प्रकार द्विवेदीजी ने अद्ध शिथिल कविया को मानवतावादी दृष्टि से महत्व दिया। इस दृष्टि का विस्तार द्विवेदी जी के अनेकानेक साहित्यिक विचारों में मिलता है। भक्त कवियों की समीक्षा करते हुये द्विवेदी जी उनके लौकिक पक्ष, उनके जनजीवन में व्याप्त प्रभाव, लोक सस्कारक उनकी काव्य रचना को महत्व देते हैं, उनका साहित्यिक सौष्ठव को उनकी भाषा की समृद्धियों को द्वितीय स्थान देना चाहते हैं, कदाचित् आधुनिक साहित्य में प्रेमचन्द की सर्वोपरि महत्व दिया। प्रेमचन्द के प्रति विचार देखिए प्रेमचन्द शताब्दियों से पददलित अवमानित और निष्पोषित कृपको की आवाज थे। पदों में कद, पद पद पर लाठिन और असहाय नारी जाति की महिमा के जबरदस्त वकील थे। गरीबों और धकसों के महत्व के प्रचारक थे। 'प्रेमचन्द मनुष्य की सद्व्यक्तियों में विश्वास करते थे। मनुष्य की दुर्वक्तियों को वे अज्ञेय तो समझते ही नहीं उनको भाव रूप में स्वीकार करते हैं या नहीं इसी में सदेह है। वे मानते हैं कि जड़ो-मुखी सम्पत्ता ने हम जड़ता को ही प्रधानता दी है।' बग रूप में व्यक्ति को देखना प्रेमचन्द की विशेष दृष्टि थी और सधम में सहयोग के द्वारा ही शांति प्राप्ति उनका चरम साधना थी। साधारण जनता के अतस्तल में पहुँचकर उसे दुनिया के सामने विवृण करने में प्रेमचन्द कमाल करते हैं। वे गरीबों से इस प्रकार घुल मिल गये थे कि पैसेवालों के प्रति एक गहरी उपेक्षा उनके व्यक्तिक जीवन में आ गई थी। दरिद्रता की वधात करना लोकचक्षु मोचर करना प्रेमचन्द का मनोरंजन या बुद्धिविलास नहीं था। वह उनका जीवन का चरमलक्ष्य था उसमें वे आध्यात्मिक सतोप पाते

१—विचार और वितक पृ० ५०।

२—वही पृ० ५१।

३—वही पृ० ६०।

४—वही पृ० ६२।

थे। वे उनको अलग रखकर दूर में आदिक तत्व चित्तक की भांति नहीं देखते थे, अपन को उनमें घुसेमिठाकर माना अपना हा बलजा चीरकर रख देते थे। प्रसन्न सामाज्य जनता के रख रहे हैं। सामाज्य जनता के सुख-सुख म सुखी रह है कल्पि जनतिय निराशा का समृत्तनिष्ठ कविनाओं में जनजीवन में प्रवृत्त करन की शक्ति नही देते। कदाचित् स्वीकारे द्विवेदी जी फक्कड़ कविता के प्रमी है। ज्ञान न कविता न देता। द्विवेदी साहित्य के विनाम म यह एक प्रगतिशाल दृष्टि माना गई है और गुबन जी के शास्त्राय लोकधमवादी दृष्टिकोण के विरोध में उनकी स्वीकृति हुई है। द्विवेदी के प्रगतिवादी लक्ष्य न जन के विचार और आशा का स्वागत किया क्योंकि उनकी विचारधारा के अनुरूप पत्र है। यद्यपि द्विवेदी जी न इस मानवतावादी दृष्टि को बगसघप पर नहीं रखा फिर भी प्रगतिवादिया न आधी दूर तक साथ देना विचार के रूप में द्विवेदी जी का अति उत्तम किया। वर्तमान समय में द्विवेदी साहित्य के क्षेत्र में विविधवादी का विविध साहित्यिक दृष्टिया का एक अनिर्दिष्ट स्वरूप निर्धारित पड़ता है जब इस वर्तमान अनिश्चयात्मकता के समाप्त होने का समय आया और नये विविध विचारों और आदर्शों का साहित्यिक भूमिका पर मूल्यांकन होगा तब कदाचित् द्विवेदी जी के इस सिद्धांत का एक भिन्न प्रकार का मूल्य स्थापित किया जायगा। फिर भी एक नई स्थापना के लिए उनका स्मरण लाभ करन रह्ये।

द्विवेदी जी न रामाटिसिज्म के बारे में अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया है। रामाटिसिज्म एक ऐसी भावधारा है जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव हमारे साहित्य पर पड़ा है। द्विवेदी जी का कहना है कि पश्चिमी प्रभाव को स्वीकार करना और अनुकरण करना कार्य गलती के लज्जा की बात नहीं पर वह अनुकरण अध्यानुकरण नहीं माना चाहिए। अध्यानुकरण से तो मानसिक दम और सांस्कृतिक दारिद्र्य प्रकट होता है। साथ समन्वय ग्रहण करन में कोई अनौचित्य नहीं।

स्वच्छ दत्तावाद के बारे में उनका कथना है कि केवल परम्परा प्राप्त साहित्य का विरोध करन के लिए या परिपाटी विरुद्ध रसज्ञता का प्रत्याख्यान करन के लिए यह साहित्य गता रचा गया था। इसीलिए उस स्वच्छ दत्तावाद कहना उसके कवन एक पदों का ही अधिक व्यापार कहना है।<sup>१</sup>

१-विचार और चित्तक प० ६२।

२-साहित्य का मर्म प० ५०।

३-रामाटिक साहित्यशास्त्र प० २।

रोमांटिक साहित्य का स्वल्प घतलात हुए कहते हैं कि रोमांटिक साहित्य की वास्तविक उत्सभूमि वह मानसिक गठन है जिसमें कल्पना के अविरल प्रवाह के घन मशिल्लट निविड आवेग की ही प्रधानता होती है। इस प्रकार कल्पना का अविरल प्रवाह और निविड आवेग के दो निरंतर घनीमत मानसिक बस्तियाँ ही इस व्यक्तित्व प्रधान साहित्यिक रूप की प्रधान जननी हैं।<sup>१</sup> वस्तुतः यह साहित्य अपने युग की सम्पन्न चेतना और विचार सघन की सुन्दर कलात्मक अभिव्यक्ति है।

रोमांटिक साहित्य कवि चित्त के अन्तरिक सौन्दर्य के आदर्श और बाहरी जगत के एकदम भिन्न परिस्थिति के सघन का परिणाम है। इस सघन में विद्रोह का स्वर भी है परन्तु असली और प्रगल्भ स्वर रचनात्मक है। वह कुछ नया करने का प्रयत्न है जो कुछ नया देखने की तीव्र आकांक्षा से उत्प्रेरित है और बाह्य असुन्दरता का बदलन का उद्देश्य से परिचालित है।<sup>२</sup> इस साहित्य ने हमारे देश के साहित्य का भी प्रभावित किया है।

## द्विवेदीजी की समीक्षा का सांस्कृतिक आधार

ये साहित्य को सांस्कृतिक भूमिका में रखकर दलन के पक्षपाती हैं। सांस्कृतिक क्षेत्र में श्री द्विवेदीजी की दृष्टि भारतीय अर्थात् भारतीय, आध्यात्मिक भौतिक के अन्वयेद को मानकर नहीं चलता है। उनकी दृष्टि मानवोद्धार पर ही सश्रु है। कहते हैं 'हम यथं शक्यते न पदं जाय कि कोई चीज कहा तव भारतीय या अर्थात् भारतीय, आध्यात्मिक या अनाध्यात्मिक है। चीन अगर अच्छी है तो वह भारतीय हा या न हो स्वीकार्य है, आध्यात्मिक हा या न हा ग्राह्य है।<sup>३</sup> विश्व भारतीय साहित्यिकता का वातावरण ने उन्हें अति नवीन की ओर प्रस्थान नहीं करने दिया। इसलिए व्यापक भारतीय सृष्टि का अध्ययन अनुशीलन द्वारा उमने पुनरुद्धार के वातावरण में वास्तविक भारतीय सृष्टि के विवेचन तथा उनके माध्यम द्वारा प्राचीन भारतीय साहित्य की ही यथायुक्त रूप में देखने की ओर प्रवृत्त हुए। प्राक्कन का अध्ययन मनन का आधार पर भविष्य का निर्माण की प्रेरणा के कारण भी वे नवीन की ओर न जाकर प्राचीन सांस्कृतिक की भीमांसा में ही पहले लगे। अपने मूलकाल की सृष्टि का अध्ययन का

१—रोमांटिक साहित्यशास्त्र पृ० २। २—वही पृ० २।

३—विचार और वितर्क पृ० १६२—१६३



आधार पर उसके दोष को त्याग और गुण को ग्रहण कर इस त्याग ग्रहण द्वारा भविष्य निर्मित किया जाय यह श्री द्विवेदी जी की मायता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा भी है 'यदि हमारे समूचे प्राक्कन तत्वों का ज्ञान हमारे भविष्य के निर्माण में सहायक नहीं होना तो वह बेकार है' अपनी सस्कृति को पूरी-पूरी स जाँच पड़ताल की उ होन वतमान अनि नवीन के सम्बन्ध में अपनी राय देने का वाय बाद में आरम्भ किया। सस्कृति को व शाश्वत या एक देशीय वस्तु नहीं मानते, उनके अनुसार वह प्रगतिशील परिवर्तनशील और परम्परा नर नय से युक्त है। इस तरह अनिवायत माहित्य भी सस्कृति का अग होने के कारण परिवर्तनशील कि तु प्रगतिशील है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है 'मनुष्य की जीवन शक्ति बड़ी निमम है वह सम्पत्ता और सस्कृति के तथा मोक्षों को रोंती चली आ रही है। देश और जाति की विगुद्ध सस्कृति केवल बात की बात है। शुद्ध है केवल मनुष्य की दुदम जिजीविषा। वह गंगा की अबाधित अनाहत धारा के समान सब कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है।' द्विवेदी जी अपनी सस्कृति के प्रति जागरूक हैं। जब हम सस्कृति के प्रति इतके प्रेम की बात करते हैं तो हम स्मरण रखना चाहिए कि रूढ़िवादिता उनसे उतनी ही दूर है, जितना असत्य सत्य से। इनकी दृष्टि में जातीय पणपात, अपने धर्म और साहित्य का अधविश्वास, उसकी दृष्टिवादिता और जडवादिता मानवता के माग में सबसे बड़ी बाधक है। भारतीय सस्कृति की देन शीपक निबन्ध में वे लिखते हैं 'भारतीय सस्कृति' पर कुछ विचार करने से पहले मैं यह निबन्धन करना कर्त्तव्य समझता हूँ कि मैं सस्कृति को किसी देश विशेष या जाति विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचार से सारे ससार के मनुष्यों की एक ही सामान्य मानव सस्कृति हो सकती है।'

## द्विवेदीजी की अन्तर्प्रतीय साहित्य-दृष्टि

द्विवेदी जी की साहित्यिक दृष्टि बहुत व्यापक है। इसी व्यापक दृष्टि से उन्होंने साहित्य की परिभाषा की है। 'जा साहित्य अपने युग के मनुष्य को, उसकी सभी सफलताओं और दुःखताओं के साथ, उसकी सम्पन्न आशाओं और क्षाओं के साथ हमारे सामने प्रत्यक्ष लाकर खड़ा कर देता है वह निस्सन्देह महान

साहित्य है।<sup>१</sup> इस दुनिया का प्रत्यक्ष करन की शक्ति एक मात्र इसी साहित्य में है।<sup>१</sup> भारतीय साहित्य में एक विचित्र विराधाभास है। रचना की नवीनता वक्तव्य की नवीनता का प्रमाण नहीं है। अनेक पुराणा की रचना परवर्तीकाल में हुई है पर उनमें जो परम्परा आभाषित है वह बहुत पुरानी हो सकती है। यही बात देशी भाषाओं के लिखित और अलिखित साहित्य के बारे में भी सच है। जिन आर्यतर भाषा भाषी जातियों का बहुत परिवर्तनकाल में अपने विश्वामा और अनुभूतियों को आद्य भाषा के माध्यम से कहने का मौका मिला है 'व स्वयं नया नहीं है। उनकी अनुभूतियों को आद्य भाषा वाला रूप नया हो सकता है पर अनुभूतियाँ बहुत पुरानी हो सकती हैं। निस्संदेह उन पर परवर्तीकाल के चिह्न भी इधर उधर चिपके रह गये होंगे पर फिर भी उनके प्राचीनतर रूप का साधन और किसी भी प्रकार से पाया दुष्कर है। इस दृष्टि से देशी भाषाओं का महत्त्व बहुत अधिक है।<sup>१</sup> ईन्हीं देशी भाषाओं में प्राचीन सस्कृति के अध्ययन के सूत्र खोजे जा सकते हैं।

द्विवेदीजी का कहना है कि अगर हिन्दी साहित्य का अध्ययन करना है तो उसमें पड़ोसी साहित्यों—बंगला, उडिया, मराठी, गुजराती, नेपाली आदि के पुराने साहित्य लिखित और अलिखित को जाने बिना घाटे में रहेंगे। यही बात बंगला, उडिया मराठी आदि के पुराने साहित्यों के बारे में भी ठीक है। हमारे देश का सांस्कृतिक इतिहास इस मजबूती के साथ अदृश्य काल विधाता के हाथों से दिया गया है कि उसे सीमाओं में बाधकर सोचा ही नहीं जा सकता।<sup>१</sup>

द्विवेदीजी का कहना है कि ऐतिहासिक विकास को सस्कृत ऋषियों के सहारे नहीं जाना जा सकता। इसके समन्वय का एकमात्र उत्तम भाग है वर्तमान देशी भाषाओं के प्राचीनतर साहित्य का अध्ययन।<sup>१</sup> वर्तमान काल एक प्रान्त के साहित्यिक अध्ययन से इस इतिहास के सिर्फ एक ही अध्याय का पता चलेगा। सम्पूर्ण चित्र के लिए अन्वय देशी भाषाओं के साहित्य को जानकारी आवश्यक है।<sup>१</sup> आगे और भी देशी भाषा के अध्ययन के सम्बन्ध में लिखते हैं "यदि देशी भाषाओं के साहित्य का अध्ययन उपेक्षित रह्या तो यह संभव नहीं है कि इस महान धार्मिक उपलब्धि का सामान्य आभास भी अन्वय किसी साधन से प्राप्त

१—वत्पत्ता पृ० १८६।

२—वही पृ० १८८।

३—वही पृ० १९०।

२—वही पृ० १८७।

४—वही पृ० १८८।

६—वही पृ० १९१।

हो सके।<sup>१</sup> यह साहित्य उस बीज की कल्पनी को बतायेगा जो हजार वर्ष बाद इस महादश की दो परस्पर विरोधी टुकड़ा में बाँटने वाले विपक्ष के रूप में पनपा है। हमारी देश भाषाओं का आदिकाल का साहित्य एक दूसरे से बुरी तरह उलझा हुआ है और एक दूसरे का पूरक <sup>२</sup> १

भारतवर्ष सुषुप्त मध्ययुग, जिसके पेट में यह हमारा आधुनिक युग उत्पन्न हुआ है, बहुत महत्वपूर्ण है। इस दश की जन्ता को, उसके विपत्ता को घमपरिवर्तन के कारणों को समझने की सामग्री इस काल के साहित्य में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होगी। इसे समझे बिना हम भारतवर्ष को ही ठीक ठीक नहीं समझ सकेंगे।<sup>३</sup>

आरम्भिक आधुनिक हिन्दी गद्य पर बंगला भाषा का बहन महत्वपूर्ण प्रभाव रहा है। प्राचीनकाल से लेकर मध्यकाल के अन्त तक इन दोनों भाषाओं के मूल में कतनी दंड और व्यापक जीवन दृष्टि प्रतिष्ठित है कि दोनों को एकत्र मिलाकर देखकर सोचा नहीं जा सकता। जो लोग भिन्न करके मोचन हैं वे इन भाषाओं को साहित्य में अभिभक्त रस का पाषे से अधिक सो देने हैं। केवल बंगला और हिन्दी भाषाओं की ही यह कहानी नहीं है। उड़िया अममिया गुजराती पञ्जाबी, मराठी आदि भारत की अन्त्या भाषाओं में भी इसी प्रकार का अनरावलंबन पाया जाता है।<sup>४</sup> मध्यकाल में बंगला और हिन्दी के साहित्य में ही नहीं, बंगला और हिन्दी भाषी प्रदेशों में बने हुए संस्कृत और अपभ्रंश साहित्य में भी अदभुत समानता और परस्परवलंबन है।<sup>५</sup> द्विवेदीजी ने जोर देकर कहा है कि आजाद प्रांतीय सीमाओं में बंधकर मध्यकालीन साहित्य के अध्ययन का प्रयत्न करते हैं वे विभक्ति ही बात नहीं हैं।<sup>६</sup>

यद्यपि इन तत्तन प्रांतीय भाषाओं में निहित अज्ञानता जानना साहित्य जितनी प्रकार दूसरे प्रदेशों में रहित साहित्य में एकदम स्वतंत्र नहीं है। हिन्दी काव्य और भाव याचनाओं की तरह तक पहुँचने के नियम उग कभी बंगला, कभी गुजराती कभी मराठी कभी पञ्जाबी का सहारा लेना पड़ता है। हम पुराने साहित्य का एक और अविच्छेद्य समता की मजिमा को स्वीकार करना ही

१-कल्पिता पृ० १६६।

२-वही पृ० १६७।

३-वही पृ० १८७।

४-विचार प्रवाह पृ० ६२।

५-वही पृ० ६०।

६-वही पृ० ६१।

पड़गा ।' विभक्तियों और वशिष्टियों की जानकारी आवश्यक है पर प्रधान रूप से दृष्टि साम्य की ओर ही केन्द्रित होना चाहिए । तभी हम यह अनुभव कर सकेंगे कि पंजाब या गुजरात या बंगाल में लिखे जाने मात्र से कोई साहित्यिक कवि सर्वभारतीय रूप में च्युत नहीं हो गई है । जब तक हम इस यथाथ तत्व को पूणत हृदयगम नहीं कर लेते कि भारतवर्ष की विभिन्न भाषायें सभी भारतवासियों की अपनी भाषायें हैं और समूचा साहित्य भारतवर्ष का अपना साहित्य है, तब तक हम राष्ट्रीय व्यवहार के लिए एक भाषा स्वीकार करने के प्रश्न पर दुविधा और हिचक अनुभव करते रहेंगे और यदि किसी प्रकार स्वीकार भी कर लिया तो समाज गौरव बोध के अभाव के कारण यथोचित उत्साह और प्रेरणा नहीं प्राप्त कर सकेंगे ।

जहाँ तक इन साहित्यों की परस्पर सापेक्षता का प्रश्न उठता है, द्विवेदी जी का कहना है कि कोई भी प्रांतीय साहित्य स्वतंत्र रचना के रूप में नहीं उनमें परस्पर सापेक्षता है । हमारे देश का सांस्कृतिक इतिहास इस मजबूती के साथ अदृश्य कालविधाता के हाथों सी दिया गया है कि उसे प्रांतीय सीमाओं में बाँधकर सोचा ही नहीं जा सकता । उसका एक टाका काशी में मिल गया तो दूसरा बंगाल में, तीसरा उड़ीसा में, और चौथा महा राष्ट्र में मिलेगा और पाँचवाँ मलाबार या सिलोन में मिल जाय तो आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है ।'

### प्राचीन साहित्य की समीक्षा

संस्कृत साहित्य उद्भूत पुराणा साहित्य है । द्विवेदी जी का सम्बन्ध में कहना है कि 'संस्कृत का साहित्य वह उच्च गिरिशृङ्ग है, जिस पर चढ़कर मनुष्य काल के सुदोष स्रोत को उड़ी दूर तक देख सकता है । इस महानद के तट पर मनुष्य के उत्थान और पतन के अनन्त चिह्न दिखाई देते हैं । जस नदी की प्रत्येक बूद एक दूसरे को ठेलकर अविराम प्रवाह पदा करती है वैसे ही मनुष्य जाति के अनेक व्यक्ति और व्यक्तिपुञ्ज इस मानव प्रवाह का निरन्तर आगे ठेकते हुए गए हैं । संस्कृत का साहित्य हमें बजाता है कि विपत्ति और कष्ट आते हैं और चले जाते हैं समृद्धि और धनाढ्यता फेन बुदबुद के समान कालस्रोत में उत्पन्न होती है और विलीन हो जाती है, साम्राज्य और धनराज्य उमने हैं और गिर जाते हैं, परन्तु मनुष्य फिर भी बचा रहता है । शतान्तियों

हो सके।<sup>१</sup> यह साहित्य उस बीज की कृपा की बतायेगा जो हजार वर्ष बाद इस महादश की दो परस्पर विरोधी टुकड़ा म वाटने वाल विषयभूत क रूप म पनपा है। हमारी देश भाषाओं का आदिकाल का साहित्य एक दूसरे से बुरी तरह उलझा हुआ है और एक दूसरे का पूरक <sup>२</sup> ।

भारतवर्ष गुप्त मध्ययुग, जिनके पेट से यह हमारा आधुनिक युग उत्पन्न हुआ है, बहुत महत्वपूर्ण है। इस दश की जन्ता को, उनके विश्वासा को, धर्मपरिवर्तन क कारणों को समझने की सामग्री इस काल के साहित्य म प्रचुर मात्रा म उपलब्ध होगी। इसे समझ बिना हम भारतवर्ष को ही ठीक ठीक नहीं समझ सकेंगे।<sup>३</sup>

आरम्भिक आधुनिक हिन्दी गद्य पर बंगला भाषा का बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव रहा है। प्राचीनकाल से लेकर मध्यकाल के अन्त तक इन दोनों भाषाओं के मूल म कृती दृढ और व्यापक जीवन दृष्टि प्रतिष्ठित है जि दोनों को एकदम अलग करके सोचा नहीं जा सकता। जो लोग भिन्न करके सोचते हैं वे इन भाषाओं को साहित्य म अभिप्रेक्त रस को आधे से अधिक लो लेते हैं। केवल बंगला और हिन्दी भाषाओं की ही यह कहानी नहीं है। उड़िया, असमिया गुजराती पंजाबी, मराठी आदि भारत की अ या य भाषाओं म भी इसी प्रकार का अंतरावलंबन पाया जाता है।<sup>४</sup> मध्यकाल म बंगला और हिन्दी के साहित्य म भी अत्यन्त समानता और परस्परावलंबन है।<sup>५</sup> द्विवेदीजी न जोर देकर क्ते हैं कि प्राचीन प्राचीय सीमाओं में बंधकर मध्यकालीन साहित्य क अध्ययन का प्रयत्न करते हैं वे बिसमिलता ही बान देते हैं।<sup>६</sup>

वस्तुतः भी तत्तन प्राचीय भाषाओं में विहित ज्ञाना जानवाला साहित्य निगी प्रकार दूसरे प्रयोगों म रचित साहित्य में गहन स्वतंत्र नहीं है। हिन्दी काव्यशास्त्र और भाव योजनाओं की नट तक पहुँचने के नियम उन कभी बंगला, कभी गुजराती कभी मराठी कभी पंजाबी का सहारा लेना पड़ता है। हम पुरान साहित्य का एक और गविच्छेद समानता को मन्त्रिमा को स्वीकार करना ही

१-कृतित्व पृ० १६६।

२-वही पृ० १६७।

३-वही पृ० १६७।

४-विचार प्रवाह पृ० ६२।

५-वही पृ० ६०।

६-वही पृ० ६१।

पढ़गा ।<sup>१</sup> विभेदों और वशिष्टियों की जानकारी आवश्यक है पर प्रधान रूप से दृष्टि साम्य की ओर ही केन्द्रित होना चाहिए । तभी हम यह अनुभव कर सकेंगे कि पञ्जाब या गुजरात या बंगाल में लिखे जाने वाले स कोई साहित्यिक कृति सबभारतीय रूप में च्युत नहीं हो गई है । जब तक हम इस यथाय तत्व को पूणत हृदयगम नहीं कर लेते कि भारतवर्ष की विभिन्न भाषायें सभी भारतवासियों का अपनी भाषायें हैं और समूचा साहित्य भारतवर्ष का अपना साहित्य है, तब तक हम राष्ट्रीय व्यवहार के लिए एक भाषा स्वीकार करने के प्रश्न पर दुविधा और हिचक अनुभव करते रहेंगे और यदि किसी प्रकार स्वीकार भी कर लिया तो समान गौरव बोध के अभाव के कारण यथोचित उत्साह और प्रेरणा नहीं प्राप्त कर सकेंगे ।

जहाँ तक इन साहित्यों की परस्पर सापेक्षिता का प्रश्न उठता है, द्विवेदी जी का कहना है कि कोई भी प्रांतीय साहित्य स्वतंत्र रचना के रूप में नहीं उनसे परस्पर सापेक्षिता है । हमारे देश का सांस्कृतिक इतिहास इस मजबूती के साथ अदृश्य कालविधाता के हाथों से दिया गया है कि उसे प्रांतीय सीमाओं में बाँधकर सोचा ही नहीं जा सकता । उसका एक टाका काशी में मिल गया तो दूसरा बंगाल में, तीसरा उड़ीसा में, और चौथा महा राष्ट्र में मिलेगा और पाचवाँ मलाबार या सिंघोन में मिल जाय तो आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है ।<sup>१</sup>

### प्राचीन साहित्य की समीक्षा

संस्कृत साहित्य बहुत पुराना साहित्य है । द्विवेदी जी का सम्बन्ध में कहना है कि "संस्कृत का साहित्य वह उच्च गिरिश्रृङ्ग है, जिस पर चढ़कर मनुष्य काल के सुदीर्घ स्रोत को बड़ी दूर तक देख सकता है । इस महानद के तट पर मनुष्य के उत्थान और पतन के अनेक चिह्न दिखाई देते हैं । जस नदी की प्रत्येक बूद एक दूसरे को डेलकर अविराम प्रवाह पैदा करती है वैसे ही मनुष्य जाति के अनेक व्यक्ति और व्यक्तिपुञ्ज इस मानव प्रवाह को निरंतर आगे ठेकते हुए गए हैं । संस्कृत का साहित्य हम बताता है कि विपत्ति और कष्ट आते हैं और चले जाते हैं समृद्धि और धनाढ्यता फेर बुदबुद के समान कालस्रोत में उदपन्न होती है और विलीन हो जाती है, साम्राज्य और धमराज्य उठते हैं और गिर जाते हैं, परन्तु मनुष्य फिर भी बचा रहता है । शतान्तरियों

की यात्रा से यह कलागत नहीं होता। चलना और आगे बढ़ना उसका स्वाभाविक घम है। इतिहास-विधाता की अज्ञात योजना का ठीक-ठीक स्वरूप हम नहीं जानते, पर सस्कृत का साहित्य उच्च स्वर से पुकार कर कहता है कि वह योजना मगल की ओर अग्रसर हो रही है। युद्ध और विग्रह केवल उस जय यात्रा में क्षणिक विधोभ भले ही पदा कर दें, परन्तु उस मगल यात्रा को रोक नहीं सकते।<sup>१</sup> उनका कहना है कि ससार में इतने दीर्घकाल तक बनने वाला और इतने विशाल जनसमूह को आन्दोलित करने वाला शायद दूसरा साहित्य नहीं है।<sup>२</sup> सस्कृत साहित्य इतना विशाल है कि उसके समूचे रूप की ध्यान में रखकर कोई उत्तर देना आसान नहीं।<sup>३</sup> लगभग छ हजार वर्षों से पन्द्रह लाख बगमोल में बसे हुए करोड़ों मनुष्यों ने कई पीढ़ियों से इस साहित्य का सज्जन किया है और आज भी यह क्रिया बंद नहीं हुई है।<sup>४</sup> सस्कृत साहित्य को एक सरसरी निगाह से देखने पर हजारों वर्षों से निरंतर प्रवहमान मानवचित्तन का बिराट स्रोत प्रत्यक्ष दिखाई दे जाता है। हम हजारों वर्ष के मनुष्य के साथ एक सूत्र में आवद्ध हो जाते हैं।<sup>५</sup>

इसी सस्कृत के अनेक उपाख्यानो से विदेशी विद्वान मुग्ध होकर अनुवाद भी कर चुके हैं जो यद्यपि मूल कथा से सम्बद्ध नहीं है। उदाहरणार्थ श्री एफ० वॉप जैसे ममन विद्वान ने आज से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले नल दमयन्ती के उपाख्यान की इस महिमा को अनुभव किया था ऐसी कहानियाँ महाभारत में दत्त हैं। सावित्री सत्यवान के आख्यान के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध जर्मन पण्डित श्री विन्टरनिस्स ने लिखा था कि 'चाहे जिस किसी ने सावित्री के काव्य की रचना की हो चाहे वह कोई क्षुद्र हा या ब्राह्मण, वह अवश्यमेव सब कालों का सर्वोच्च कवि था, कोई महाकवि ही इस उत्कृष्ट महिला चरित्र को इतने मनमोहक एवं आश्चर्य ढग से चित्रित कर सकता था और शृण्व उपदेश की मनोवृत्ति में पड़े बिना भाग्य और मृत्यु पर प्रेम तथा पातिव्रत्य की विजय सिद्धता सज्जता था और प्रतिभाशाली कलाकार की जादू की तरह ऐसे आश्चर्यजनक चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित कर सकता था।'<sup>६</sup> इस प्रकार इस कहानी का सम्बन्ध भी मूल कहानी से नहीं है पर मूल कहानी भी भारतवर्ष

१- अशोक व फून प० १०१।

२- वही प० ६५।

३- वही प० ६८।

४- वही प० ६५।

५- वही प० ६५।

६- विचार प्रवाह प० १।

के और बाहर के सहृदय और कविया का शनाभियो से प्रभावित करती रही है।

यद्यपि महाभारत एक हाथ की रचना नहीं फिर भी उमम सम्पूर्ण युग का व्यक्तित्व बहुत स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त हुआ है। महाभारत चौरपात्रा एक उज्ज्वल चरित्रों का विशाल धन है। इस सम्बन्ध में द्विवेदी जी का कहना है कि संसार साहित्य में शायद ही कोई ऐसा दूसरा ग्रन्थ हो जो महाभारत की तुलना में रखा जा सके। वह अपने युग की शक्तिशाली व्यक्तित्व को प्रकाशित करता है और आगे आने वाले काल को प्रेरणा देता है।<sup>१</sup>

रामायण के सम्बन्ध में द्विवेदी का यह कहना है कि ऋषि कवि के हृदय का पुञ्जीभूत शोक ही रामायण काव्य है। कुरुणा का ऐसा विशाल और महान् माहृक और ऐसा प्रभावशाली काल दूसरा नहीं लिखा गया।<sup>२</sup> भारतीय साहित्य के आधे से अधिक हिस्से को इसी पवित्र महाकाव्य ने प्रेरित किया है।<sup>३</sup> भारत के ही नहीं विदेशी विद्वान न भी रामायण के पात्रों के अदभुत चित्रण की मुत्तयुक्त से प्रशंसा की है। शिवगन ने शायद ठीक ही कहा था कि रामायण के जीवन पात्रों की तुलना में यूरोप के क्लासिकल साहित्य के पात्रों की पढ जाने हैं और जब कभी बाल्मीकि प्रकृति की ओर लक्ष्य डालते हैं, बल्कि उनके हृदय के सहज उल्लाम में प्रकृति भावसे में स्या करके नवीन हो उठती है।<sup>४</sup>

इन दोनों में अपने परवर्ती साहित्य का बहुत प्रभावित किया है इस सम्बन्ध में द्विवेदीजी के ये विचार दृष्टव्य हैं। 'परवर्ती भारतीय साहित्य को इन दो ग्रन्थों ने कितना प्रभावित किया है, इसका अंदाजा हमी से लगाया जा सकता है कि यदि समूचे भारतीय साहित्य का विश्लेषण किया जाय तो अधिकांश शायद ६० प्रतिशत रचनायें इन्हीं दोनों ग्रन्थों के आधार पर हुई हैं और आज भी हो रही हैं।'<sup>५</sup>

महाभारत और रामायण के बाद भी सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थ लिखे गए जैसे स्मृतिपुराण, वात्स्यायन का कामन्द्य, वालिदास श्रौत्यों की रचनाओं में

१- विचार प्रवाह पृ० ५।

२- वही पृ० ६।

३- वही पृ० ६।

४- वही (उद्धृत) पृ० ८।

५- वही पृ० १०।



की यात्रा से यह कलाग्न नहीं होना। चलना और आगे बढ़ना उसका स्वाभाविक धर्म है। इतिहास-विधाता की अनात योजना का ठीक-ठीक स्वरूप हम नहीं जानते, पर संस्कृत का साहित्य उच्च स्वर स पृकार कर कहता है कि वह योजना मंगल की ओर अग्रसर हो रही है। युद्ध और विग्रह केवल उस जय यात्रा में घाणिक विक्षोभ भले ही पदा कर दें, पर तु उस मंगल यात्रा को रोक नहीं सकते।<sup>१</sup> उनका कहना है कि ससार में इतने दीर्घकाल तक बनने वाला और एतन विनाल जनसमूह को आ दोलित करने वाला शायद दूसरा साहित्य नहीं है।<sup>२</sup> संस्कृत साहित्य इतना विनाल है कि उसके समूचे रूप को ध्यान में रखकर कोई उत्तर देना आसान नहीं।<sup>३</sup> लगभग छ हजार वर्षों से पन्द्रह लाख वगमोल में बस हुए करोड़ों मनुष्यों ने कई पीढ़ियों से इस साहित्य का सजन किया है और आज भी यह त्रिया ब द नहीं हुई है।<sup>४</sup> संस्कृत साहित्य को एक सरसरी निगाह से देखने पर हजारों वर्षों से निरंतर प्रवहमान मानवचित्तन का विराट स्त्रोत प्रत्यक्ष दिखाई दे जाता है। हम हजारों वर्ष के मनुष्य के साथ एक सूत्र में आवद्ध हो जाते हैं।<sup>५</sup>

इसी संस्कृत के अनेक उपाख्यानो से विदेशी विद्वान मुग्ध होकर अनुवाद भी कर चुके हैं जो यद्यपि मूल कथा से सम्बद्ध नहीं है। उदाहरणार्थ श्री एफ० वण्ण जैसे ममत्त विद्वान ने आज से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले नल दमयंती के उपाख्यान की इस महिमा को अनुभव किया था ऐसी कहानियाँ महाभारत में बन्त हैं। सावित्री सत्यवान के आख्यान के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध जमन पण्डित श्री विन्टरनिट्स ने लिखा था कि 'चाहे जिस किसी ने सावित्री के काव्य की रचना की हो, चाहे वह कोई क्षुद्र हा या ब्राह्मण, वह अवश्यमेव सब कानों का सर्वोच्च कवि था, कोई महाकवि ही इस उत्कृष्ट महिला चरित्र को एतने मनमोहक एवं आकर्षक ढंग से चित्रित कर सकता था और शुक उपदेश की मनोवृत्ति में पड़े जिना भाग्य और मृत्यु पर प्रेम तथा पातिव्रत्य की विजय निश्चिन्ता सक्ता था और प्रतिभाशाली कलाकार की जादू की तरह ऐसे आश्चर्यजनक चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित कर सकता था।<sup>६</sup> इस प्रकार इस कहानी का सम्बन्ध भी मूल कहानी से नहीं है, पर मूल कहानी भी भारतवर्ष

१- अगोत्र क पून प० १०१।

२- वही प० ६५।

३- वही प० ६८।

४- वही प० ६५।

५- वही प० ६५।

६- विचार प्रवाह प० १।

के ओर बाहर के सहृदयों और कवियों की शताब्दियों से प्रभावित करती रही है।

यद्यपि महाभारत एक हास की रचना नहीं फिर भी उसमें सम्पूर्ण युग का व्यक्तित्व बहुत स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त हुआ है। महाभारत की रचना एक उज्ज्वल चरित्र का विशाल बन है। इस सम्बन्ध में द्विवेदी जी का कहना है कि संसार साहित्य में शायद ही कोई ऐसा दूसरा ग्रन्थ हो जो महाभारत की तुलना में रखा जा सके। वह अपने युग की शक्तिशाली व्यक्तित्व का प्रकाशित करता है और आगे आने वाले काल को प्रेरणा देता है।<sup>१</sup>

रामायण के सम्बन्ध में द्विवेदी का यह कहना है कि ऋषि कवि के हृदय का पुञ्जोद्भूत शोक ही रामायण काव्य है। कृष्णा का ऐसा विशाल और महान् मोहक और ऐसा प्रभावशाली काल दूसरा नहीं लिखा गया।<sup>२</sup> भारतीय साहित्य के आद्ये स अधिक हिस्से की इसी पवित्र महाकाव्य ने प्रेरित किया है।<sup>३</sup> भारत के ही नहीं विदेशी विद्वानों ने भी रामायण के पात्रों के अद्भुत चित्रण की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। शिगमल ने शायद ठीक ही कहा था कि रामायण के जीवन पात्रों की तुलना में यूरोप के क्लासिकल साहित्य के पात्रों के पड जाते हैं और जब कभी वाल्मीकि प्रकृति की ओर दृष्टि डालते हैं, बल्कि उनके हृदय की सहज उल्लास से प्रकृति भावों में स्थान करके नवीन हो उठती है।<sup>४</sup>

इन दोनों में अपने परवर्ती साहित्य को बहुत प्रभावित किया है इस सम्बन्ध में द्विवेदीजी के ये विचार दृष्ट्यर्थ हैं। 'परवर्ती भारतीय साहित्य को इन दो ग्रन्थों ने कितना प्रभावित किया है, इसका अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि यदि समूचे भारतीय साहित्य का विश्लेषण किया जाय तो अधिकांश प्रायद ६० प्रतिशत रचानायें इन्हीं दोनों ग्रन्थों के आधार पर हुई हैं और आज भी हैं।<sup>५</sup>

महाभारत और रामायण के बाद भी संस्कृत में अनेक ग्रन्थें लिखी गयीं जैसे स्मृतिपुराण, वात्स्यायन का कामशास्त्र, कालिदास श्रीहृषीकेश की रचनाओं में

१- विचार प्रवाह पृ० ५।

२- वही पृ० ६।

३- वही पृ० ६।

४- वही (उद्धृत) पृ० ८।

५- वही पृ० १०।

यद्यपि अपनी 'यक्तिगत विवेकतायें हैं भारवि और माघ की रचनाओं में बहुत उत्तम ढंग से विवक्षित जीवात्मान मानव आदर्श पाठक को मुग्ध करते हैं पर महाभारत की जड़ें जिस गहराई में गई हैं उसमें परवर्ती काव्यों की जड़ें नहीं जा सकती। किन्तु फिर भी उनमें प्राण हैं।'

इसके पूर्व वैदिक साहित्य का निर्माण हुआ। वैदिक साहित्य यज्ञ करने वालों के उद्देश्य से लिखा गया। रामायण और महाभारत जनता की चरिताय करने वाले महान आदर्श का के. डी. बि. दु. बनाकर लिखा गया जबकि परवर्तीकाल के काव्यात्मक के. डी. बि. दु. शहरी जीवन का बना गया। परवर्तीकाल का श्रोता वह सहृदय है जिस छद्म और अलंकारों का अच्छा ज्ञान हो, वात्स्यायन की बनाई विधियों का पूरा ज्ञान हो, नागरिक जनोचित जीवन का ठीक-ठीक रूप मालूम हो साथ ही वह रुचिवाला व्यक्ति हो। इस रुचि का सर्वोत्तम प्रकाश कालिदास की रचनायें हैं। इनका काव्य महान आदर्शों से अनुप्राणित है। नागरिक जीवन का विलास से इस मनोहर काव्य को खुराक मिली है। यह नागर सभ्यता की सर्वोत्तम उपज है। परवर्ती काव्य में जीवनधारा उतनी प्रबल नहीं रह सकी। इस समय के आचार्यों ने काव्य-कौशल का उत्तिवचित्रय का और रसपरिपाक का बहुत सूक्ष्म विवचन किया पर कवि के व्यक्तित्व, अनुभूति जाग्रत करने वाले कल्पना शक्ति का उस रूप का कम विवचन किया। इस समय के शास्त्रों को पढ़ने से कवि कौशल का अच्छा ज्ञान हो जाता है पर कवियों के भिन्न कोटि के व्यक्तित्व को समझने में अक्षम हो जाते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि काव्य के तत्वों का समझने का एक सामान्य प्रतिमान तो तयार कर दिया पर कवि की विशेषताओं को समझने की मार्मिक दृष्टि की उतनी विवेचना नहीं की, और परवर्तीकाल के महाकाव्य अधिकाधिक रूढ़ि समयक और उक्तिवचित्रय को प्रथम दनवाली मनावृत्ति के गिकार होते गये। कवि समयों, रूप, उपमानों द्वारा पित कल्पित मूर्तियों के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि वे परवर्ती काव्य सामान्य जीवन की अपेक्षा रूढ़ परम्पराओं और घिस घिसाये कलात्मक आदर्शों से अधिक प्रेरणा ले रहे थे। इस समय के काव्यों में छन्दों की एकी परिमार्जित योजना, ध्वनियों का ऐसा सामञ्जस्य, पूण सत्थापन, मानवीय मनोभावों का ऐसा स्पष्ट और ठोस चित्रण साथ ही मानवीय आदर्शों

१- विचार प्रवाह पृ० १३।

२- वही पृ० ११।

३- वही पृ० १२।

४- वही पृ० १२।

का ऐसा सम्मिश्रण सत्कार के साहित्य में दुर्लभ है।<sup>१</sup>

भारवि और माघ की रचनाओं में जो मानव आदर्श मिलते हैं वह वास्तव में पाठक का मुग्ध कर देते हैं। भारवि की रचनाओं में वाग्म्यात्मक का साथ ही साथ समृद्ध राज व्यवस्था के लिए अत्यंत आवश्यक बूटबुद्धि का भीसल अभिव्यक्त हुआ है।<sup>२</sup> इन काव्यों में मनुष्यों की महान् आदर्शों की उपमा नहीं हुई परन्तु मनुष्य की पुरुषोचित सहज आदिम बर्तियाँ स्वस्थ रूप में प्रकट हुई हैं और स्थान स्थान पर उनका स्वर बहुत प्रबल हो गया है।<sup>३</sup> वैसे तो लोक भाषा के काव्य बराबर ही संस्कृत के महाकवियों का प्रेरणा भी देते रहे होंगे पर ग्यारहवीं बाहरवीं शताब्दी में लौकिक संस्कृत के महाकाव्यों का वातावरण साधारण जीवन से दूर हट गया था। प्राणशक्ति की उद्वेल धाराओं लौकिक जीवन में ही रह गयी थी। इसी न आग चलकर तुलसीदास के काव्य के रूप में अपने को प्रकट किया, जिस प्रकार किसी समय नवीन प्राणधारा ने विकसित होकर कालिदास के काव्या में आत्मप्रकाश किया था।<sup>४</sup>

## प्राचीन हिन्दी-साहित्य सम्बन्धी द्विवेदी जी के समीक्षात्मक विचार

हिन्दी-साहित्य के प्राचीन काल पर द्विवेदी जी के अभिमत अधिकतर भाषा सम्बन्धी ही हैं। उन्होंने अपभ्रंश भाषा का अधिक महत्त्व समीक्षात्मक प्राचीन हिन्दी के साथ प्रदर्शित कराने का प्रयत्न किया है। भाषा विवेचन के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने काव्य रूपों पर भी दृष्टिपात किया है और रासक काव्य, चरित काव्य तथा निजधारी कथाकाव्य की परम्पराओं का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त जन साहित्य, सिद्ध साहित्य और नाम सम्प्रदाय के साहित्य का प्रासंगिक विवेचन भी है। इन समस्त विवेचनाओं का निष्कर्ष यह है कि हिन्दी साहित्य के पूर्वकाल को हम धीरे-धीरे तक सीमित नहीं कर लेना चाहिए बल्कि जनों के चरितकाव्य और अपभ्रंश मिश्रित रासक काव्यों को भी हिन्दी साहित्य की पूर्व पीढ़ी के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

परन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण द्विवेदी जी की वह उदभावना है जो प्राचीन काव्यरूढ़ियों और कथानक रूढ़ियों से सम्बन्धित है इन रूढ़ियों के

१- विचार प्रवाह पृ० १२।

२- वही पृ० १३।

३- वही पृ० १३।

४- वही पृ० १३।

आधार पर प्राचीन का य का अध्ययन करने से उसकी परम्परा का चान अधिक स्पष्ट रूप से हो सकता है। यदि हम यह देख सकें पथ्वीराजरासा में ऐसी कथानक रूढ़ियाँ मिलती हैं जो पूर्ववर्ती अपभ्रंश और सस्कृत की काव्यरचनाओं में भी प्राप्त होती हैं और साथ ही यदि हम यह भी दिखा सकें कि सूफी प्रेमगाथाओं में रूढ़ियाँ क्रमशः घटती गयी हैं और तुलसी के रामचरित मानस में आकर वे प्रायः समाप्त हो गयी हैं तो इन अध्ययन के आधार पर हम पथ्वीराजरासो के मूलस्वरूप और उसकी प्रामाणिकता के विषय में थोड़े बहुत विश्वास के साथ कुछ निष्कर्ष निकाल सकेंगे। स्वयं द्विवेदी जी ने कथानक रूढ़ियों के निर्देश की पद्धति को अपनाकर पथ्वीराजरासो के निर्माण काल के सम्बन्ध में तथा उसके आदि रूप के विषय में कुछ अनुमानित निष्कर्ष निकाले हैं जिन पर अधिकाधिक विचार करने की आवश्यकता है। जहाँ तक द्विवेदी जी की समीक्षात्मक विचारणा का प्रश्न है उनकी यह विचारणा भाषा और साहित्य के ऐतिहासिक पक्षों पर आधारित है। यहाँ द्विवेदी जी एक ऐतिहासिक समीक्षक और शोधकर्ता के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं।

रासा का य के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने कवि विद्यापति के काव्य का भी अग्रिम स्पष्टीकरण किया है। विद्यापति शब, शय, चणव, भक्त ये या शृंगारी इन प्रश्नों को उठाकर द्विवेदी जी ने युगीन सस्कृति की भूमिका पर उनके काव्य स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उनका यह विवेचन भी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के निदर्शन पर आश्रित है।

कबीर के सम्बन्ध में तो द्विवेदी जी ने एक स्वतंत्र पुस्तक ही लिखी है। जिसमें कबीर के सांस्कृतिक और ऐतिहासिक महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए विशेषतः लोकजीवन की भूमिका पर उल्लेख कबीर का महत्त्व प्रतिपादन किया है। द्विवेदी जी का समीक्षा दृष्टि किस प्रकार इतिहास, सस्कृति और साहित्य को सामाजिक विकास की अविविधनधारा के रूप में ग्रहण करती है इसका प्रमाण उनकी पुस्तक से मिलता है। विद्युत् साहित्यिक दृष्टि से कबीर के काव्य के सम्बन्ध में शक्याँ प्रकट की जा सकती हैं परन्तु जहाँ तक कवि के व्यक्तित्व और उसकी प्रगतिशील दृष्टि का सम्बन्ध है द्विवेदी जी ने उस अच्छी तरह पकड़ा है। और उस आधार पर कबीर के काव्य के ऐतिहासिक महत्त्व को प्रकाश में ला रखा है। काव्य और साहित्य को द्विवेदी जी मानव व्यक्तित्व के उन्नयन का साधन मानते हैं। इसीलिय उनकी साहित्यिक दृष्टि, क्लामूलक दृष्टि नहीं बन सकी है। क्लामूलक ही क्या साहित्यिक क्षेत्र में जिसको रस और व्यक्तित्व का क्षेत्र कहें

है उसकी ओर भी द्विवेदी जी की विशेष प्रवृत्ति नहीं है। इस नयी समीक्षा दृष्टि का विकास उनके कवीर शीपक समीक्षात्मक ग्रंथ में पाया जाता है।

सूरदास के काव्य के सम्बन्ध में भी द्विवेदी जी की एक पुस्तक उपलब्ध है। यह द्विवेदी जी की एक आरम्भिक समीक्षा पुस्तक होने के कारण उतनी विवचनारमक नहीं है जितनी भावात्मक है। आचार्य शुक्ल के भ्रमरगीतमाला की भूमिका में हम जिस प्रकार का बौद्धिक और शास्त्रीय विवेचन पाते हैं उगम भिन्न द्विवेदी जी की पुस्तक में सूरदास के काव्य सौन्दर्य की महज क्षावियाँ देना सकते हैं। काव्य के सौन्दर्य को परखने के लिये द्विवेदी जी ने इस पुस्तक में प्रभावामिव्यजक शैली को अपनाया है वे एक सहृदय चमत्कार सूरदास को दर्शाते हैं और जिस प्रकार प्रभावित होते जाते हैं उसे भावात्मक शली से प्रकट करत जाते हैं। समीक्षा की यह दृष्टि साहित्य में बड़ी उपयोगी होती है। यदि समीक्षक सहृदय है, और अध्ययनशील या अधीर है तो उसकी प्रतिक्रियायें साहित्य सौन्दर्य के नए द्वारों का उदघाटन कर सकती हैं। सूरदास पर लिखी गई द्विवेदी जी की समीक्षा पुस्तक इसी विषयी प्रधान या Subjective शैली में प्रस्तुत हुई है।

### आधुनिक साहित्य सम्बन्धी समीक्षाएँ

आधुनिक साहित्य सम्बन्धी द्विवेदी जी की विभिन्न समीक्षाएँ कई भागों में बाँट कर देखी जा सकती हैं। उनके आधुनिक सम्बन्धी समय विचार उनके द्विवेदी साहित्य नामक इतिहास ग्रंथ में आ गये हैं जिसकी चर्चा हम अगले अध्याय में कर चुके हैं। इस विषय की उनकी अन्य पुस्तकें विचार और चिन्तक, विचार प्रवाह, कल्पलता, हमारी साहित्यिक समस्याएँ, आदि पुस्तकें हैं जो अधिकांश निबंध संग्रह बनी जा सकती हैं। ये निबंध भिन्न भिन्न समयों पर लिखे गये हैं। इन निबंधों की पढ़ने पर पात होता है कि इनमें से कुछ साहित्य के मिद्वान्तों सम्बन्धी जिन पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं उनके कुछ अन्य निबंध सामयिक साहित्यादर्श को लेकर लिखे गये हैं। और एक प्रकार के वे भी वैचारिक आधार रखते हैं कुछ निबंध भाषा सम्बन्धी भी हैं। आधुनिक साहित्य की वास्तविक समीक्षा को लेकर छोटे ही निबंध मिल पाते हैं इनमें से साहित्य का नया रास्ता नया साहित्यिक दृष्टिकोण, (हमारी साहित्यिक समस्याएँ) साहित्य का नया बदम, महिनाओं की तिस्रो कहानियाँ (कल्पलता) साहित्य की नयी मान्यताएँ (विचार प्रवाह) द्विवेदी जी की 'देन' प्रसाद की कामायनी, प्रेमचन्द का महत्व

आदि मुख्य हैं। चूँकि द्विवेदीजी का ध्यान साहित्यिक कृतियों की अपेक्षा या तो साहित्य के विचार पक्ष की ओर या उसकी ऐतिहासिक रूपरेखा की ओर अधिक रहा है इसलिए उनकी ये समीक्षात्मक निबन्ध प्रकीर्णक ही कहे जायेंगे। विचार और वितक पुस्तक में जो सन १९४५ में प्रकाशित हुई थी द्विवेदीजी के आधुनिक साहित्य सम्बन्धी तीन चार निबन्ध मिलते हैं। इनमें से एक निबन्ध प्रेमचन्द के महत्व पर है। इस निबन्ध के आरम्भ में द्विवेदीजी नये साहित्य के कुछ प्रतिमान रखे हैं जिनमें से पहला विचारों और वस्तु-वस्तु की ताजगी, दूसरी आवश्यक बात जिसकी ओर द्विवेदीजी ने संकेत किया है जातीय गुण और दायों का ईमानदारी के साथ अभिव्यक्त करना। जो कुछ लिखा जा चुका है, जो सामान्य दृष्टिकोण है, उससे कुछ नवीन दिया गया है या नहीं और वह नवीन ईमानदारी का ज्ञापक है या नहीं, द्विवेदीजी की दो कसौटियाँ हैं। तीसरी आवश्यक बात द्विवेदीजी साहित्य को लेखक के व्यक्तित्व का परिचायक मानते हैं। यह जानकारी केवल मनुष्यता के नाते ही नहीं, लेखक ने जो कुछ लिखा है आत्मानुभव से लिखा है या नहीं, इस अभिन्नता के लिए भी आवश्यक है। इन कसौटियों की स्थापना करने के पश्चात् द्विवेदीजी ने प्रेमचन्द जी के साहित्य को अवमानत और निष्पक्षित कृपकों की आवाज बताया है। मेड़ों पर गाते हुए किसान की, अन्न पुर में मान किए प्रियतमा को, कोठे पर बठी हुई वारवनिता को, रात्रियों के लिए ललकते हुए भिखमणों को, कूट परामर्श में लीन गोयम्दों को, ईर्ष्यापरायण प्रोफसरों को, दुबल हृदय बकरों को, साहस परायण चमारिन को, ढोंगी पण्डित को फरेबी पटवारी को नीचाणय अमीर को, अपन वास्तविक अनुभव का आधार पर विवर्ण किया है। यह प्रमचन्द जी के विशाल अनुभव का सातक है।

यह विशाल चित्रण करते हुए भी प्रेमचन्द जी की निजी सहानुभूति अशिक्षित और निधन के प्रति है। यह तथ्य भी प्रेमचन्द जी के आधुनिक सामाजिक जीवन के अध्ययन में प्राप्त हुआ था। यही प्रमचन्द जी का आदर्श है। उनको स्मना अवकाश नहीं कि वे भूत की विमता करें। इसके अनिर्दिष्ट प्रेमचन्द जी के साहित्य में प्रेम और विश्वास के आदेश भी गहराई से अंकित किए गए हैं। द्विवेदीजी यह भी कहते हैं प्रेमचन्द जी से किसी नयी उदमावना या नवीन जीवन-शन की आशा नहीं की जा सकती। वे अपने समय की समस्याओं में पूरी तरह सम्मोहित हैं कि उन्हें किसी नये तथ्य की खोज की फुरसत नहीं। प्रेमचन्द जी में सामाजिक राजनीति का अमिट प्रभाव है। आदर्श के रूप में उन्होंने पहले गांधीवादी और बाद की समाजवादी सिद्धांतों से राष्ट्र की बुनियादी समस्याओं

का समाधान किया ।

प्रेमचन्द जी के पात्र बगों और श्रेणियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, इसका यह अर्थ नहीं कि आज़क़न के class conscious लसकों की भाँति प्रेमचन्द जी बगवादी लेखक हैं । बल्कि प्रेमचन्द के ध्यान में विभिन्न वादा की छच्छाइयाँ और बुराइयाँ दोनों ही प्रतिबिम्बित हुई हैं । अपने अन्तिम समय में प्रेमचन्द जी ने इस तटस्थ दृष्टि का छोड़कर बगसंघ के आर्थिक पक्ष को प्रधानता दी है यह द्विवेदीजी का मत है । अतः प्रेमचन्दजी कहते हैं कि भले ही प्रेमचन्द ने बगसंघ के आर्थिक पक्ष को अपने अन्तिम समय की रचनाओं में प्रमुखता दी हो, परन्तु वे जीवन की सफ़लता, संघ में न मानकर त्याग में मानते हैं, सेवा और त्याग प्रेमचन्द के साहित्य के केंद्रीय तत्व हैं । द्विवेदीजी के निबन्ध के अन्तिम अंशों में यह बताया गया है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों में आधुनिक भारतीय समाज का पूरा रेखाचित्र मिलता है । यही नहीं हमारी समस्त जाति का इस युग का इतिहास प्राप्त होता है । इसके साथ ही द्विवेदीजी ने सरल और जोरदार हिन्दी लेखक के रूप में प्रेमचन्द को तुलसीदास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की श्रेणी में रखा है ।

'प्रसाद' जी की 'कामायनी' निबन्ध में द्विवेदीजी ने कामायनी का सगुप्त कथानक लेकर बीच बीच में छोटी छोटी निम्पणियाँ दी हैं । इसके पश्चात् उन्होंने प्रसाद जी के विगत अध्ययन की चर्चा की है । निबन्ध के अन्त में वे यह निष्कर्ष देते हैं कि प्रसाद जी का कवि कामायनी में कवि जीवन को दूर से देखता है । यही उन्होंने दो प्रकार के दृष्टियों की कल्पना की है । जिनमें से एक शरीर के ऊबड़ खाबड़ अवयवों की, नजदीक जाकर धँसपूवक परीक्षा करता है और प्रत्येक अंग में बैठने लायक सुन्दर कूर्तुतयों को खोजता है, और एक दूसरा दर्जों में परिश्रम और ज्यादा कल्पना करके एक लम्बा चौड़ा झूल तयार कर देता है, जो प्रत्येक आदमी को ढक सकता है । उनके मत में कामायनी का कवि दूसरी श्रेणी का है इसके साथ ही द्विवेदीजी यह भी कहते हैं कि कल्पना की प्रमुखता होने हुए भी कामायनी का कवि कल्पना के इन्द्रजाल में पाठकों को बलनाता या फनाता नहीं है । उनका मत है कि कामायनी की दुनिया Philosopher की दुनिया है जिनमें सभी समस्याओं के लक्ष्य तक पहुँचने की कोशिश तो है पर हमी कोशिश के कारण समस्याओं की अपील जोरदार न हो सके ।

तृतीय निबन्ध द्विवेदी जी की देन शैली शीघ्र निबन्ध में आचार्य महाश्वर प्रसाद द्विवेदी की शैली निर्माण की विशेषता पर प्रकाश डाला गया है ।



द्विवेदी जी के मन में आचार्य महावीर प्रसाद एक अवतारी पुरुष थे। जिन्होंने नया कूट भी नहीं लिखा परन्तु समस्त लेखकों को प्रकाशन भंगिमा को धनी को एकदम नया रूप दे दिया है। द्विवेदी जी का निष्कर्ष यह है कि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी में आज के युग की छिना पपटी का भाव न था। वे दूसरों की वस्तु को नया चोला देकर अपनात नहीं थे। वे ज्ञान को प्रचार की पूर्ण युद्ध में देखते थे जैसा कोई किसी मंदिर की सफाई में लगा हो वस ही द्विवेदी जी साहित्य मन्दिर के परिष्कारक थे। वे कूड़ाकचट या गलीज को साहित्य के मंदिर में देखना नहीं चाहते थे।

द्विवेदी जी ने प्राचीन और नवीन का प्रौढ़ सामञ्जस्य दिखाया है। वे एक ओर अतीत की ज्ञानराशि को सरल निबंधों में लिखकर प्रसारित करते हैं और दूसरी ओर नये युग के नये प्राणा के स्पर्दन को उसे परिपूरित कर देते हैं। द्विवेदी जी का अभिमत है आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी क्या के बल पर खड़े नहीं है वैसे के बल पर खड़े हैं। अर्थात् उनका मुख्य उद्देश्य एक स्वच्छ भला का विधास करना रहा है।

दूसरी निबंध पुस्तक कल्पलता में द्विवेदी जी ने आधुनिक साहित्य पर 'साहित्य का नया कदम और महिलाओं की लिखी कहानियाँ' शीर्षक दो निबंध लिखे हैं। 'साहित्य का नया कदम' में द्विवेदी जी ने एक नाटकीय सवादात्मक साक्षात् अपनाया है। जो लोग प्राचीन साहित्य को आधुनिक उपयोग का नहीं मानते या जो नये साहित्य को छिद्यला और वेकार समझते हैं दोनों के बीच की साईं को किस प्रकार पाटा जाय इस पर विचार किया गया है। द्विवेदी जी का मुख्य वक्तव्य यह है कि प्राचीन कलाकारों में भी ऐसी काव्य रचनाएँ और मार्मिक उक्तियाँ और दृष्टिकोण मिलते हैं जो आज के नये से नये लेखकों के लिए भावपूर्ण उपयोगी हैं। और इसी प्रकार नये साहित्य में जीवन सबंधी ऐसे चित्र मिलते हैं जो एकदम नये नहीं हैं पुराने चित्रों का स्पातक मात्र हैं। इस प्रकार द्विवेदी जी ने साहित्य के एक अविच्छिन्न परम्परा की स्थापना की है। जो नए समीक्षकों या लेखकों नये नये बातों की बात करते हैं, सामाजिक सम्बन्धों, पृथिवी सम्बन्ध, श्रमजीवी सम्बन्ध आदि के बारे में लगाते हैं और साहित्य का सम्बन्ध इन विभिन्न सम्बन्धों से जोड़ते हैं, उनकी यह दृष्टि एकांगी है। वास्तव में मनुष्य और मानव जीवन की मूल भूमिकाएँ बहुत कुछ समरम रनी हैं और कविता का वायु एम माया लाक की सृष्टि करना है जिससे दुर्गों की सत्ता और सुगीन परिधियाँ टूट जाय और अनन्तकाल तक साहित्य मन्दिरों का आह्लास रूपा रहगा।

महिलाओं की लिखी कहानियाँ निबंध में द्विवेदीजी ने कदाचित्त एक 'रेडियो टाक' के अंतर्गत कुछ स्फुट कहानी लेखिकाओं का उल्लेख किया है। यद्यपि द्विवेदीजी के सभी निबंधों में समीक्षा और विश्लेषण के तत्त्व मिल जाते हैं परंतु इस निबंध में सुभद्राकुमारी चौहान, कमलादेवी, होमवतीदेवी, आदि की कहानियाँ का स्फुट विवेचन किया गया है। द्विवेदी जी का अभिमत है कि नारी कहानीकार कतिपय जीवन प्रश्नों पर जिस स्वाभाविकता के साथ विचार कर सकती हैं उस स्वाभाविकता से पुरुष लेखक नहीं कर सकते। इन कहानी लेखिकाओं का लक्ष्य द्विवेदीजी के मत में रुढ़ि समर्पित, आदर्श स्त्री और व्यक्ति, स्वाधीनता से प्रभावित आधुनिक स्त्री का दृढ़ दिखाया है। द्विवेदीजी का कथन है कि आधुनिक कहानी लेखिकाओं में स्वाधीनता की माँग तो करती हैं परंतु उस स्वाधीनता में लापरवाही या उच्छलता नहीं है वे वर्तमान की परिस्थितियों के साथ समाज का सामंजस्य चाहती हैं।

'हमारी साहित्यिक समस्याएँ' द्विवेदी जी की तीसरी निबंध पुस्तक है। जिसमें साहित्य का नया रास्ता शोषक निबंध आधुनिक साहित्य से सम्बंधित है। साहित्य का नया रास्ता निबंध साहित्य का नया कर्म निबंध से, जो ऊपर विवेचित हो चुका है बहुत कुछ मिलना जुटना है। इस निबंध में द्विवेदीजी ने आधुनिक तर्क लेखकों को नसीहत दी है कि वे किसी वाद विरोध के घेरे में न घिर जायें बल्कि अनेकमन्य मना तरा में परिचित होकर जीवन के वास्तविक अनुभव से लाभाविता हों उनका विचार है कि नान सौंदर्य और कल्याण के अस्यायी और परिवर्तनशील रूप के साथ उनके स्यायी और शाश्वत रूप को भी स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार इस निबंध में साहित्य के स्यायित्व और उसकी परिवर्तनशीलता की मध्यवर्ती भूमिका पर प्रकाश डाला गया है।

नया साहित्यिक दृष्टिकोण निबंध में द्विवेदी जी ने साहित्य की बढ़ती हुई वैयक्तिकता पर दृष्टिपात किया है। वैयक्तिकता को ये धारा छायावादी काव्य में दिखाई देती है और दूसरी धारा उस नये काव्य में परिलगित होती है जो अनासक्त भाव से जगत को देखना चाहता है। परंतु इन दोनों दृष्टियों को व्यक्तिकता की मानकर और उन्हें यूरॉपियन मस्य का परिणाम बताया है।

'साहित्य की नयी मायताएँ, विचार प्रवाह में सञ्चित साहित्य की नयी मायताएँ शोषक निबंध वचारिक समीक्षा के क्षेत्र में जाता है। परंतु नये साहित्य से सम्बंधित होने के कारण इनकी चर्चा यहाँ भी की जाती

है। इस विषय में द्विवेदी जी ने प्राचीन साहित्य परम्पराओं से निकल कर आने वाले नये साहित्यिक दृष्टिकोण का विवरण दिया है जिस प्रकार यूरोप में शेक्सपियर के आन पर साहित्य के पुराने आदर्श बदल रहे थे उसी प्रकार भारतवर्ष में भी परिवर्तन हो रहा है पुराने नाटकों में चारित्रिक दृष्टि का दिखाया जाना उचित नहीं माना जाता। अतएव पुराने समीक्षक उस दृष्टि में या तो अग अगो सम्बन्ध बता देते थे या फिर ऐसे द्विद्वारिक चित्रणों को अनपेक्षित बताते थे परन्तु मानवीय वास्तविकता जब इस बात को स्वीकार करने लगी कि मनुष्य के मानस में ऐसे द्विद्वार होते हैं और हो सकते हैं तब टैजडी की नयी कल्पना परिचय में बनी। जिसमें द्विद्वारिक चित्रण का उपादेय ही नहीं नाटक के लिए उत्कृष्ट बद्धक भी बताया गया है। उसी प्रकार हमारे देश में भी नये अनुभवों से समाज में नवीन विकासों से नयी साहित्यिक दृष्टियों एवं आदर्शों का उदय हो रहा है।

इस निबन्ध के अन्त में द्विवेदी जी ने यह निर्देश किया है कि साहित्य शू कि मानव के लिए है, साहित्य ही की समस्त सृष्टि मानव सापेक्ष है इसलिए मानवीय परिस्थितियों के विकास के साथ साहित्यिक मायताओं में भी विकास होना अवश्यभावी है। मानव के इस आदर्श का द्विवेदी जी का रूप में देखते हैं। एक व्यक्ति केन्द्रित मानवादर्श दूसरा समूह केन्द्रित मानवादर्श यद्यपि द्विवेदी जी दोनों को आदर्श मानते हैं परन्तु अन्त में ये कहते हैं विकासवान सामूहिक मानवादर्श व्यक्तिगत मानवादर्श से उच्चतर है। इस प्रकार द्विवेदी जी दोनों का आदर्श मानते हैं परन्तु अन्त में ये कहते हैं कि विकासवान सामूहिक मानवादर्श व्यक्तिगत मानवादर्श से उच्चतर है। इस प्रकार द्विवेदी जी साहित्य की प्रगतिशील विचारणा के पक्षपाती सिद्ध होते हैं और उन्होंने साहित्य की नयी मायताओं में प्रगतिशील मायता को शीघ्रस्थान दिया है।

## शोधकर्ता द्विवेदी

### शोध का स्वरूप

हिंदी का शोध अभी अल्पयस्क है इनकी परम्परा अब तक निर्मित नहीं हुई और न इसमें प्रौढता आई है। सब पूछा जाय तो अभी शोध शब्द का अर्थ भी स्पष्ट नहीं हुआ। उसका स्वरूप उसकी व्याप्त और उसके लक्ष्य भी बहूत कुछ अतिरिक्त बने हुए हैं। विश्वविद्यालयों तक में शोध शब्द का यह अर्थ लिया जाता है कि ज्ञान का विस्तार किया जाय अथवा उपलब्ध ज्ञान की नई व्याख्या की जाय तथा साध काय की शाली सुव्यवस्थित हो। पर तु इतने से शोध शब्द भी धारणा स्पष्ट नहीं होती। अज्ञात कवि की कोई कृति प्रकाश में आ गई और उस पर कुछ विवरण विवेचन कर दिया गया तो उस भी शोध समझ लिया जाता है। कभी किसी प्राचीन विवेचन को नवीन आकार प्रकार द देने पर ही साध की पूर्ण मान ली जाती है। अनन्त बार किसी युग की काव्य प्रवृत्तियों का सग्रह या आकलन कर देना भी शोध कहलाने लगता है। कवि विशेष या लेखक विशेष की कृतियाँ का संकलित विवेचन भी शोध में परिगणित होता है। आचार्य नन्दलाल वाजपेयी जी का यह मत है 'शोध में केवल आकलन और विवेचन ही नहीं, नई दृष्टि और नया ज्ञान का योग भी आवश्यक है' कभी कभी नई दृष्टि और नये ज्ञान के रहते हुए भी कोई काय शोध नहीं बन पाता, उसे पुस्तक का सामान्य स्वरूप ही मिलता है। उनके शब्दों में शोध काय अधिक नियम और प्रणालीबद्ध होता है। शोध में प्राचीन साध और प्रमाण अधिक मात्रा में दिए जाते हैं। साध में अधिक परमुखापसिद्धा रहती है। शोध का महत्व विषय को उपस्थापित करते हुए उसमें नवीन ज्ञान का प्रवेश और स्थापना करने में है।

## शोध और समीक्षा का अन्तर

शाब्दिक अर्थ में शोध और समीक्षा दो पृथक् शब्द हैं। दोनों के अर्थों में भिन्नता है। शोध में किसी अज्ञात तथ्य को प्रकाश में लाने और प्रतिष्ठित करने का आशय निहित रहता है। शोध में बिम्बों के सयोजन और समाहार भी किया जाता है। शोध के लिए उस समस्त सामग्री का संग्रह और संग्रहण आवश्यक है जो उस वस्तु या विषय से सम्बन्धित है और उसके आधार पर वस्तुमूलक स्थापनाओं की जाती है और निष्कर्ष दिये जाते हैं। शोध में विषय से सम्बन्धित पूर्ववर्ती वक्तव्य भी दिए जाते हैं तथा उनके आधार पर नया अभिमत व्यक्त किया जाता है। शोध में तक सम्मत प्रमाणों की आवश्यकता पड़ती है, तभी किसी नये निष्कर्ष का उच्चारण किया जा सकता है। फिर उस निष्कर्ष का मुक्त करने के लिए विरोधी अभिमतों का सण्डन और निराकरण कर नये निष्कर्ष की प्रतिष्ठा की जाती है। जब कि समीक्षा या आलोचना में किसी अज्ञात या अनुपलब्ध वस्तु की सत्यता की आवश्यकता नहीं होती। वह एक सुस्पष्ट और प्रायः सुप्रसिद्ध कृति के सम्बन्ध में दिया हुआ वचनिक अभिमत होता है। समीक्षा में समीक्षक की अपनी दृष्टि और विचार भी प्रमुख रूप में आते हैं और उसमें समीक्षक की अपनी धारणाओं का प्राधान्य रहता है। किसी कृति विशेष के सम्बन्ध में व्यक्त किए गए सुस्पष्ट और सुव्यवस्थित विचार ही समीक्षा हैं। उन विचारों के आधार पर कभी किसी सिद्धांत का भी निरूपण और स्थापना हो सकती है। नये समीक्षा दृष्टि या शैली का विकास होता है। परन्तु उस प्रकार के विचारों में लेखक की अपनी अभिरुचियाँ और रुचियाँ ही अधिक मात्रा में रहते हैं। इसलिए समीक्षा अधिक व्यक्तिपरक वस्तु होती है जब कि शोध में व्यक्तिगत प्रतिनिधियों के लिए अधिक अवकाश नहीं रहता।

शाब्दिक अर्थ में शोध और समीक्षा की स्थापना होती है वे जनसमाज और उसकी नैतिक मान्यताओं के लिये नये होते हैं। उनमें किसी का पूर्व परिचय नहीं हुआ रहता। पर समीक्षा के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। समीक्षा जिस कृति या वस्तु की की जाती है उस अर्थ में समाज पहले से ही जानता रहता है। उसके सम्बन्ध में उसका अपना मत तो रहता ही है अन्यथा जनसमाजों के अभिमत भी रह सकते हैं। अतएव उस समीक्षा विश्वास में उस अर्थ में समीक्षा का एक नये दृष्टि का परिचय मिल सकता है, किन्तु नये मान्यता का नहीं। समीक्षा या आलोचना सामाजिक जीवन की बौद्धिक और कलात्मक अभिरुचियों का नित्य नया विकास कही जा सकती है। परन्तु शोध में विज्ञान और निष्कर्ष एक अद्वितीय विचारधारा का निर्माण करते

हैं और नये ज्ञान की सृष्टि में सहायक होते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शोध का सम्बन्ध नये तथ्य और सत्य के उदघाटन से है, जब कि समीक्षा का सम्बन्ध प्रचलित धारणाओं और विचारात्तों के उपवहन और विकास से है।

शोध का लक्ष्य सत्योन्मुखी और आविष्कार मूलक है तथा वह अधिक इतिवत्तात्मक वस्तु है, जबकि समीक्षा का लक्ष्य हमारे सांस्कृतिक और कलात्मक चेतना को व्यवस्था और विस्तार देने में है तथा समसामयिक साहित्यिक दृष्टिकोण के सुनियोजन में है। अतएव वह अधिक लोकाभिमूल, व्यावहारिक और विनिमोय वस्तु है। समीक्षा में व्यक्तिपरकता के लिये समीक्षक की वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं के लिये अधिक स्थान है, जब कि शोध में वैयक्तिक शक्तियों के निर्माण की गुंजाइश नहीं होती। आलोचना या समीक्षा समाज के सांस्कृतिक जीवन में अधिक सक्रिय अधिक लोकप्रिय और अधिक प्रेरणाप्रद होकर युगीन जीवन में क्रियाशील होती है, जब कि शोध प्रायः विशिष्ट जनों का ध्यान ही आकृष्ट करता है और पुस्तकालयों में एगो निधि के रूप में सुरक्षित रहता है, जिसका उपयोग विशिष्ट पंडित मण्डली ही करती है। सामान्य रूप से हम देखते हैं कि समीक्षा की पुस्तकें शोधग्रन्थों की अपेक्षा नहीं अधिक पढ़ी जाती हैं और अधिक दैनिक चर्चा का विषय बनती हैं। समीक्षा या आलोचना तात्कालिक प्रभाव में शोध की अपेक्षा कहीं अधिक सशक्त पदाय है परन्तु शोध का परिणाम अधिक मौलिक और स्थायी हुआ करता है।

## हिन्दी में शोधकार्य की परम्परा

हिन्दी का अधुनिक शोधकार्य भाषा के क्षेत्र में डा० प्रियसन द्वारा आरम्भ हुआ था। साहित्य के क्षेत्र में भी शिवसिंह सेंगर के परचात उम्ही का नाम परिगणित किया जा सकता है। उस आरम्भिक स्थित में साहित्यिक ग्राहकतिपय कवियों की सामान्य जीवनी और उनकी रचनाओं में नामोल्लेख के रूप में प्रादुर्भूत हुआ था। डा० प्रियसन के भाषा संबंधी शोधकार्य अधिक प्रौढ़ हैं और हिन्दी के भाषा सम्बन्धी शोधविकास में उनका नाम सदैव स्मरणीय है। इस क्षेत्र के अधिकांश शोधकर्ता प्रियसन की स्थापनाओं को स्वीकार करते हैं और उन्हीं का अनुसरण एवं पल्लवन किया है। इस क्षेत्र में काम करने वाले लेखकों में डा० वीरेन्द्र वर्मा, डा० बाबूराम तन्ना, डा० उदयनारायण तिवारी तथा उन्हीं के समकाल कतिपय अन्य विद्वानों के नाम लिए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश भाषा को लेकर भी विस्तृत ग्राहककार्य हुआ है। प्राकृत पंगवम

हेमचन्द्र के व्याकरण, सदेशरसक आदि ग्रन्थों का आधार लेकर अपभ्रंश सम्बन्धी शोधकाय होता रहा है। महापंडित राहुल सास्त्रु-यायन ने भी इस भाषाकाल सम्बन्धी शोधकाय को आगे बढ़ाया है। 'बौद्धूहा ओ गान' के सम्बन्ध में डा० हरप्रसाद शास्त्री की स्थापनाओं का खण्डन भी राहुल जी ने अनेक अर्थों में किया है। कुछ ही वर्ष पूर्व डा० हेमचन्द्र जोशी ने प्राचीन हेमचन्द्र के व्याकरण का अनुवाद करके भाषासम्बन्धी अध्ययन को एक भूमिका प्रदान की है। पुरानी हिन्दी पर चंद्रशरमा गुलेरी, मोतीलाल मेनारिया और स्वयं हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का काय उल्लेखनीय है हिन्दी भाषा के व्यापक विकास को लेकर डा० श्यामसुन्दरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि के शोध काय भी विशेष महत्त्व रखते हैं। इधर कुछ वर्षों में सभापारमक क्षेत्र में उल्लेखनीय काय हो रहा है।

साहित्यिक शोध की दिशा में डा० प्रियसन के पश्चात् काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों का शोध एक महत्त्वपूर्ण उत्थान काशी नागरी प्रचारिणी सभा के भिन्न भिन्न स्थानों में मिलने वाले ग्रन्थों की सूची एवं उसका रचनाकाल तथा उसमें मिलनवाले विषयों का पता लगाने के लिये सर्वेक्षण कराया गया। कई वर्षों तक यह काय संचालित होता रहा। मिश्र बापूजी में से एक श्री श्यामबिहारी मिश्र ने समस्त सकलित सामग्रियों का उपयोग अपने मिश्रग्रन्थ 'ग्रन्थ मंत्रिका' में किया। इस ग्रन्थ में केवल कवियों की सूचनार्थ नहीं उनका सम्बन्ध में और विशेषकर उनकी कविता को लेकर कुछ साहित्यिक विचार भी प्रकट किए गए हैं। इस ग्रन्थ में शोध का अंग कवियों के जीवनकाल और उनकी कृतियाँ की रचना तिथियों और उनकी सन्निध्य जीवितियों के रूप में यत्र तत्र पाया जाता है।

इस संपादनक काय के पश्चात् नागरी प्रचारिणी सभा ने प्राचीन ग्रन्थों का प्रकाशन की व्यवस्था और तत्कालीन विद्वानों के द्वारा उन ग्रन्थों का संपादन भी कराया। इन संपादित ग्रन्थों में पद्मीराजरासो, तुलसी ग्रथावली, मूरसागर, बीसल देव रामा आदि मुख्य हैं। भूमिका के रूप में इन ग्रन्थों में शोधार्थक विवरण दिये गए हैं। पद्मीराज रामो, जायसा ग्रथावली आदि की भूमिकार्थे विशेषकर शोधार्थक सामग्रियों में संयुक्त हैं। यथायथ प्रामाणिकता मूलपाठ और उन ग्रन्थों के पुनरुत्पन्नता में सम्बन्धित हैं। उदाहरण के लिये जायसी ग्रथावली की भूमिका में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मूलों में मूलों आस्थाओं की प्रमत्तार्थ, मूली प्रेम के स्वरूप, मूली माधना के स्वरूप आदि पर ऐसे विचार दिये हैं जिनसे हिन्दी के शास्त्र में शोध और प्रवृत्ति बढ़ी है। कुछ ही समय पश्चात् हिन्दी के प्रमुख

कवियों की काव्य रचनाओं पर संपादित ग्रन्थ और उनकी विवेचनात्मक भूमिका के रूप में 'कबीर ग्रथावली' केशव ग्रथावली आदि भी प्रकाशित हुईं। तुलसीदास जी की जीवनी और काव्य से सम्बन्धित डा० श्यामसुन्दरदास और बडव्याल का गाम्वासी तुलसीदास शोधक ग्रन्थ इसी काल का निर्माण है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि हिन्दी के इस शोधोत्सव काय विकास में अनेक पण्डित और विचारक शोधकर्ता बड़ी तटपरता से सलग्न रहे हैं।

## द्विवेदीजी के शोधकार्य के विभिन्न क्षेत्र

शोध का लक्ष्य अतः तथ्यों की प्रकाश में लाना होता है। प्राचीन इतिहास केवल सामाजिक या राजनीतिक ही नहीं होता बरन राष्ट्रीय जीवन के सभी प्राधान्य उसकी भूमिका पर छा जाते हैं। इन्हीं विभिन्न पक्षों में एक साहित्य का भी पक्ष है। इस साहित्यिक शोध के अंतर्गत और कवियों और लेखकों की सामाजिक पृष्ठभूमि उन उन युगों के वैचारिक और सांस्कृतिक आदर्श तथा साहित्यिक परम्परायें ली जाती हैं। स्वयं साहित्य के अंतर्गत काव्य रूपों का, छन्दों का और भाषा आदि का अंग भी सम्मिलित है। अतएव साहित्यिक शोध की सीमा में भी सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के अनेकानेक पक्षों का समावेश हो जाता है। हिन्दी के भाषा सम्बन्धी शोध की एक स्वतंत्र परंपरा भी है। जिसकी गणना साहित्यिक शाख के बाहर भी चली जाती है। परंतु जहाँ तक द्विवेदीजी का प्रश्न है उ होन भाषा सम्बन्धी शोध को भी साहित्य की सीमा में ही रखने का प्रयास किया है। कतिपय अन्य भाषा सम्बन्धी शोधकों से उनकी यह तुलना उतनेस्वनीय है।

द्विवेदीजी के शोध काय की अनेक दिशाएँ हैं। सांस्कृतिक शोध के अंतर्गत दश के भक्ति संप्रदायों की रूपरेखा, दार्शनिक ग्रन्थ, निगुण सगुण काव्य सम्बन्धी शोध, भारतीय धर्म के मध्यकालीन धार्मिक विकास के सम्बन्ध में जो स्थापनाएँ आ जाती हैं। मध्यकालीन धार्मिक विकास श्रम पर शोधोत्सव विचार, इसी सिलसिले में मध्यकालीन धर्मसाधना पर पुस्तकें लिखी हैं, उनका कबीर नामक पुस्तक का एक पक्ष इसी धार्मिक शोध से सम्बन्धित है। मध्यकालीन संस्कृति के कतिपय पक्ष उनकी हिन्दी साहित्य की भूमिका नाम की पुस्तक में शोध का विषय बन हैं। विगुण साहित्यिक शोध के लिए उनकी हिन्दी साहित्य का आदिकाल पुस्तक प्रस्तुत की गई है। काव्य परम्पराओं, काव्य रदियों और भाषा के प्राचीन विकासक्रम का भी द्विवेदीजी के शोध में ध्यान मिला है इस दृष्टि से देखने पर द्विवेदीजी का शोध काय काफी विस्तृत और बहुमुखी है।



विस्तृत विवेचन एक स्पष्ट रूप से इनके शोध को समझने के लिए हम इनके शोध को कुछ वर्गों में विभाजित कर देखना होगा। मुख्यतया हम इनके शोध काय को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। (१) ऐतिहासिक शोध (२) साहित्यिक एवं भाषागत शोध और (३) सांस्कृतिक शोध।

## ऐतिहासिक शोध

ऐतिहासिक शोध के अन्तर्गत हिन्दी साहित्य का आदिकाल 'एक हिन्दी साहित्य की भूमिका' ये दोनों पुस्तकें आती हैं। समस्त कृतियों का विहंगाव-नोदन नामक द्वितीय अध्याय में यद्यपि हमने हिन्दी साहित्य का आदिकाल के पाँच व्याख्यानों का एक संक्षिप्त रूप दे दिया है फिर भी यहाँ पर उन व्याख्यानों में जो शोधात्मक अंश इधर उधर बिखरे पड़े हैं उनका प्रदर्शन ही इस प्रकरण का उद्देश्य है। प्रथम व्याख्यान यद्यपि विषय प्रवेश ही कहा जा सकता है फिर भी इसमें कुछ स्थापनाएँ नयी हैं जिन्हें अन्य इतिहासों में कम महत्त्व दिया गया है। अपभ्रंश काव्य की परम्परा को परवर्ती साहित्य से सम्बद्ध करने में द्विवेदीजी ने एक कदम आगे बढ़ाया है। इसके अध्ययन से यह अवगत होता है कि हिन्दी के प्रारम्भिक काव्य में प्राचीन परम्पराओं का किस प्रकार पालन हुआ है। यद्यपि पाँच व्याख्यानों की यह पुस्तक पूर्ण नहीं है यह स्वयं लेखक ने स्वीकार किया है। व १०वें पृष्ठ में लिखते हैं 'जिन प्रदेशों में आगे चलकर अवधी और ब्रजभाषा का साहित्य लिखा गया, उनमें बसने वाले कवि इन दिनों किस प्रकार की रचना कर रहे थे इस बात का कोई प्रामाणिक सूत्र हमारे पास नहीं है। राजस्थान और बिहार के बीच का प्रदेश उन दिनों कवियों से खाली नहीं होगा। यह तो निश्चित है परन्तु ऐसी प्रामाणिक पुस्तकें अभी तक उपलब्ध नहीं हुई हैं जिनके आधार पर इन प्रदेशों की इस काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों का ठीक ठीक अन्तर्ज्ञान लगाया जा सके।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल सम्बन्धी जितनी विभिन्न धारणाएँ विद्वानों की हैं उनमें अत्यन्त किमी काल सम्बन्धी नहीं। यह काल भारतीय विचारों के मयन का काल है इसीलिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रथम व्याख्यान में गुरु सती पृष्ठ तक अपभ्रंश साहित्य की उन सभी धारणों पर विचार किया गया है जो अत्यन्त विद्वानों द्वारा सप्रमाण सनादिन अनुत्पन्न एवं संकलित हैं। अपभ्रंश साहित्य पर द्विवेदीजी का ध्यान ज्यादा गया है और उन्होंने इन धारणों की घसा ही महत्त्व दिया है जिन अत्यन्त साहित्यिक धारणों का। उनका कहना है अपभ्रंश भाषा में ही सभी जैन अत्यन्त पवित्र एवं पुण्यपूर्ण हुए हैं अतः यह तात्पर्य नहीं कि सिर्फ

जन कवियों ने ही अपभ्रंश की सेवा की जनतर कवियों ने नहीं। उनके द्वारा ही इस भाषा की काफी वृद्धि हुई। इस अपभ्रंश भाषा के ग्रंथों को प्रकाश में लाने का श्रेय चंद्रधरगुलेरी, गुकल जी, प० पिपेला, डा० हरमन याकोबी नामक जर्मन पंडित, बहोला के महाराजा सर सयाजी गायकवाड की आना से सन १९१४ ई० म श्री विमनलाल डाह्याभाई दनाल, पाण्डुरंग गुणे आदि सुप्रसिद्ध विद्वानों एवं खोजियों की है।<sup>१</sup> तत्पश्चात् सन १९१८ म मण्डारकर रितच इन्स्टीट्यूट की स्थापना हुई और ईकन कातज म सुरक्षित प्रतिमां उस सस्था में लाई गई तो सुप्रसिद्ध विद्वान मुनिजिन विजय जी ने जैन ग्रंथों का अवलोक और परीक्षण किया। उस समय उन्हें अनक महत्वपूर्ण अपभ्रंश ग्रंथों जम पुष्पकयत्त का तिसटठीलम्बण महापुराण स्वयभू का सजम चरित, हरिवशपुराण आदि प्राप्त हुई। महापंडित राहुल सांकृत्यायन न स्वयभू और पुष्पदत्त के हस्तलिखित पोथियों स संग्रह करके कुछ महत्वपूर्ण रचनायें अपन कायधारा नामक ग्रंथ में प्रकाशित की हैं। उधर कई विद्वानों ने इस साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया है जिनम श्री मुनिजिनविजय, आदिनाथ उपाध्ये, डा० हीरालाल, डा० परशुराम वैद्य, प० लालचंद्र गाधी, डा० जगन्नीशचंद्र जैन और डा० अत्सटोफ प्रमनि विद्वानां के नाम विशेष रूप स उल्लेखनीय हैं। जैनेतर अपभ्रंश ग्रंथों की खोज हुई है। सन १९०२ म चंद्रमोहनघोष न प्राकृत पैगलम नामक छंदाविघात के ग्रंथ का सपादन किया। सन १९१६ म महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री ने बौद्ध गान ओ दोहा नाम से कुछ अपभ्रंश की पुस्तकें प्रकाशित कराई सन १९१८ ओर २१ ई० म जनरल आफ डिपार्टमेंट आफ लैटस म डा० प्रबोधचंद्र वागची न कुछ और बौद्ध सिद्धा के दोह प्रकाशित कराए। राहुल जी के प्रयत्नां का ही गुण परिणाम है कि हिन्दी के साहित्यका का ध्यान अपभ्रंश की ओर खिंचा है। मयिल भाषा म विद्यापति की कीर्तिनता कीर्तिपताका और राजस्थानी और गुजराती में 'डोला मारुता दूहा' आदि का विवेचन अपभ्रंश के साहित्य विस्तार को समझाने के लिए किया गया है।

द्विवेदीजी न १० वी० स १४वीं शताब्दी तक के काल को हिन्दी साहित्य का आदिकाल माना है। जबकि गुकल जी न १०५० स १३७५ तक के काल को। इस काल म प्राप्त १२ ग्रंथों के आधार पर ही गुकल जी न उस काल का नाम वीरगाथाकाल रखा जिसे द्विवेदी जी आदिकाल के नाम से अभिहित करते हैं। गुकलजी का मत उपदेग विषयक उन रचनाओं को जिनमें केवल सूखा

धर्मोपदेश मान हैं अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं, का लडन करते हुए द्विवेदी जी ने बताया कि अपभ्रंश क कई ग्रन्थ धार्मिक तो हैं किंतु उनमें साहित्यिक सरसता बनाय रखने का पूरा प्रयास है।<sup>१</sup> धर्म यहाँ कवल कवि को प्रेरणा दे रहा है। उसके पश्चान शबल जी द्वारा कथित श्रीमलदेवरासो, जयचंद्र प्रकाश जयमयकजसचंद्रिका आदि पर विचार करते हुए कहा है—कि 'चौदहवीं शताब्दी तक दक्षिण भाषा के साहित्य पर अपभ्रंश भाषा के उस रूप का प्राच्य रहा है जिनमें तदभव शब्दा का ही एकमात्र राज्य था। इस बीच धीरे धीरे तत्सम बहल रूप प्रकट होन लगा था। नवीं दशवीं शताब्दी से ही बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रवेश का प्रमाण मिलने लगता है और १४ वीं शताब्दी के प्रारम्भ से तो तत्सम शब्द निश्चित रूप से अधिक मात्रा में व्यवहृत होने लग।<sup>२</sup> द्विवेदी जी के मतानुसार दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के काल का साहित्य अपभ्रंश प्रधान साहित्य है इस काल की भाषा की मुख्य प्रवृत्ति थी बोलचाल में तत्सम शब्दों का प्रचार।

यही पर रासो की भाषा के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं कि चंद का रासो अपने मूलरूप में सुरक्षित नहीं रह सका है। तत्सम बहल प्रभव हुआ है। फिर भी इसके वर्तमान रूप से (जो सत्रहवीं शताब्दी के आमनाम है) अनुमान किया जा सकता है कि इसमें सस्कृत की ओर जान की प्रवृत्ति है। तदभव शब्दों में अनुस्वार लगाकर सस्कृत की छान देना तत्कालीन भाषा के नये धुमाक की सूचना देता है परन्तु इसमें अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।<sup>३</sup> उनकी दृष्टि में १० वा १८ वीं शताब्दी का काल, जिसमें हिन्दी का आधिकारिक कहते हैं भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का ही वर्णन है। इसी अपभ्रंश के वर्णन का कुछ भाग उत्तरकालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ भोग पुरानी हिन्दी। डॉ० पीरेट्ट वरमा ने इस काल की भाषा पर कुछ विचार करते हुए कहा है पंडित चंद्रधर शर्मा गुलरी ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग—२, अंक ८ में पुरानी हिन्दी शायक लक्ष में जा नमून लिए हैं वे प्रायः दश की धारों के बाहर के प्रयोगों में बने प्रयोग हैं। अतः इनमें हिन्दी के प्राचीन रूपों का काम पाया जाना स्वाभाविक है। अधिकांश उदाहरणों में प्राचीन रानस्थानों के नमून मिलते हैं यह अनिश्चित इन उदाहरणों की भाषा में अपभ्रंश का प्रभाव कितना अधिक है कि इन प्रयोगों का इस काल के अपभ्रंश

१—ही साहित्य का आधिकारिक पृ० ११। २—वही पृ० १७।

३—वही पृ० २१।

साहित्य व अतम रचना ही अधिक उचित मालूम पड़ता है।' अतः मे द्विवेदी जी का निष्पन्न इस सम्बन्ध में इस प्रकार है वस्तुतः १४ वीं शताब्दी के पहलू की भाषा का रूप हिन्दी भाषी प्रदेशों में क्या और कैसा था इसका निष्पन्न करने योग्य साहित्य आज उपलब्ध नहीं हो रहा है कुछ अधिक प्रामाणिक प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ और शिवालय आदि से ही उस भाषा का परिचय मिल सकता है। दुर्भाग्यवश इस काल का ऐसा साहित्य उपलब्ध नहीं है जो एकाध शिलालेख और ग्रन्थ (जैसे मूर्त्तियात्तिप्रकरण) मिल जाते हैं व बताते हैं कि यद्यपि ग्रन्थ की ओर बोलचाल की भाषा में तत्काल शब्दों का प्रचार बढ़ने लगा था पर पद्य में अपभ्रंश ही प्राधान्य था। इसलिए इसकाल का अपभ्रंश काल कहना उचित ही है। साथ ही राहुल जी के दिए नाम मिथिल साम्राज्यकाल के औचित्य को भी वे मानते हैं नाना प्रकार की सिद्धियाँ योगियाँ कथिनी और सामंत चारणों के लिये प्रेरणास्रोत कहे जा सकते हैं। उनमें द्विवेदी जी ने वीरगाथाकाव्य नाम की अनुपयुक्तता बतलाने हुए यह कहा है 'यह राजस्तुतिपरक रचनायें वीरगाथा उतनी नहीं है जितनी राजस्तुति है। उनकी लडाइयाँ और विवाहों की कथाओं में वृत्तना अधिक है तथ्य कम।' अतः द्विवेदीजी ने अपना मत स्थापित किया है य रचनायें आदिकालीन हिन्दी साहित्य व काव्यरूपा के अनुपात में सहायक है परन्तु यह सत्य है कि जिन प्रदेशों में आग चलकर ब्रजभाषा, अवधी, छत्ती बोली का साहित्य लिखा जाने लगा, उन प्रदेशों की बहुत ही थोड़ी रचनायें हमें मिलती हैं—बहुत ही थोड़ी। फिर भी मात्रा और विस्तार में अत्यन्त अल्प इन रचनाओं का भी बहुत महत्त्व है, इन थोड़ी रचनाओं ने भी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है और अनेक विद्वानों ने इसका मत रूप को समझने का प्रयास भी किया है।"

अपने द्वितीय व्याख्यान में द्विवेदी जी ने आदिकाल की प्राप्त सामग्री की शून्यता के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किए हैं। तथा इस काल की सभी प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है तिनमें आगे आनेवाले भाषा काव्य की प्रवृत्तियों के बीच निहित मिलते हैं। इस काल की सामग्री तीन साना से प्राप्त होती है। (१) राज्याभय पाकर और राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित रक्बर (२) सुसंगठित धर्म संप्रदाय का आश्रय पाकर और मगध विहार आदि की पुस्तकालयों

१—हिन्दी भाषा का इतिहास पृ० ७७।

२—हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृ० २३।

म शरण पाकर (३) जनता का प्रेम और प्रोत्साहन पाकर । तृतीय सोन से प्राप्त सामग्री पर भाषा या साहित्य सम्बन्धी कोई विचार या धारणा नहीं बनाई जा सकती । अवशेष दो स्रोतों से भी पर्याप्त सामग्री नहीं मिलती कारण चौदहवीं शताब्दी तक दश म आक्रमण प्रत्याक्रमण ही रहे थे अतः कोई भी अथवा या संप्रदाय प्रभावशाली नहीं रह पाता था जिससे उसमें कुछ सामग्री की आगा की जाय । इस प्रकार न तो राज्याश्रित साहित्य का पता चलता है और न वशा नुक्रम से कुछ व्यक्तियों के पास उस काल की सामग्री शेष रह गई है जिस पर द्विवेदी जी का ध्यान कम गया ।

मध्यदेश की भाषा का प्राचीन रूप नहीं मिलता । इसके लिए उन्होंने अनुमान लगाया है कि अथ देशी राजाओं का राज्य इस देश खंड में रहा जिसके कारण देशी भाषा एवं उनके साहित्य को राज्याश्रय नहीं मिला वे गाहणवालों का कहीं बाहर से आया हुआ मानते हैं । कहीं से आये हैं उन्होंने निश्चिन्त मत नहीं लिया है । गाहणवालों को अथ देशीय मानने के लिये भी उन्होंने पुष्ट प्रमाण नहीं लिया है । वे उमरखंड में शबो, नायो, सिद्धो और गाहणो का जोर मानते हैं । वास्तव में आर्यकाल में प्राप्त सामग्री की अपभ्रंश और अवहट्ठ मिश्रित देगभाषा मध्यदेश की भाषा थी । उनको थोड़ी बहुत रचनाएँ प्रसिद्ध या परिवर्तित रूप में अज भी प्राप्य हैं । अवहट्ठ भाषा मिश्रित देगभाषा को द्विवेदी जी ने बिना विशेष कारण दिए पश्चिम और पूव देशीय मानलिया है । सभी व्याख्यान के अंत में उन्होंने प्राकृत अपभ्रंश और देशी भाषाओं के स्वर अनुस्वर और व्यञ्जन विषय का नियम बताया जाता है जो वैज्ञानिक और सूक्ष्म है । इस प्रकार सभी प्रवृत्तियों का बीजारोप इस काल की प्रामाणिक रचनाओं में मिल जाता है जो आग चलकर भाषा काव्य में व्यापक रूप से मिलने लगती हैं ।

तृतीय व्याख्यान में आर्यकाल में प्राप्त सामग्री का परीक्षण प्रारम्भ होता है । पञ्चवीं शताब्दी में किसी समय प्रामाणिक ग्रन्थ माना गया था और पञ्चवीं शताब्दी विषयक एतिहासिक के लिए प्रामाणिक ज्ञान समझा गया था । बाद में लोगों ने न्यूनतर तरफ की ऐतिहासिक गलतियाँ दिखाई । रामो के प्रति साहित्यिक माह रमन बातों का न्यून बात का कष्ट हुआ और नानायुक्तियों में उमर ऐतिहासिक मिश्र करन का प्रयत्न शुरू किया । उमर इनने प्रसिद्ध अथ निम्न रूप है कि मून अथ का पता लगाना कठिन हो गया । श्री मुनिजिनविजय जी ने पुरातन प्रबन्ध संग्रह में प्राप्त चार छण्डों की और पद्यों का ध्यान

धाकष्ट किया है तब से मूलरासो में प्रक्षेपवाला सिद्धांत की पुष्टि हो गई है। ये छाप्य अपभ्रंश में हैं। यहाँ द्विवेदीजी भाषा की दृष्टि में विचार न कर साहित्यिक दृष्टि में विचार करते हैं।

ये चारों छंद दोहा और छप्पय छंदों में ही हैं। अपभ्रंश रचना को दोहाकाव्य कहने की प्रथा भी रूढ़ हो गयी थी और फिर पदद्विधाकाव्य भी उन दिनों की कथाओं की विशिष्ट पद्धति बन गया था। इसी पदद्विधा को चंदन भी अपने काम्य के लिए चुना होगा। चरित काव्य का कुछ विद्वानों ने क्या कहा है। इस क्या शब्द को भामह दण्डी से लेकर पृथ्वीराजरासो तक विभिन्न स्वरों में निर्देशित किया गया है। इस प्रकार यह सिद्ध किया गया है कि पृथ्वीराजरासो आरम्भ में ऐसा क्या काव्य था जो प्रधान रूप से उद्धृत प्रयोग प्रधान मसण प्रयोग युक्त गेय रूप काव्य उसमें कथाओं के भी लक्षण थे और रासको के भी। जिस प्रकार 'वितास' नाम देकर चरितकाव्य लिखे गये, रूपक नाम देकर चरितकाव्य लिखे गये प्रवाण नाम देकर चरितकाव्य लिखे गये उसी प्रकार रासो या रासक नाम देकर भी - चरितकाव्य लिखे गये। 'रासक' का तो इस प्रकार का लक्षण भी मिल जाता है। परंतु धीरे धीरे ये भी क्या काव्य या चरितकाव्य के रूप में ही याद किये जाने लगे। इनका पुराणा रूप भ्रमण मुला दिया गया। परंतु पृथ्वीराज के काल में यह रूप संपूर्ण रूप से भुलाये नहीं गये थे। इसीलिए पृथ्वीराजरासो में कथाकाव्यो के भी लक्षण मिल जाते हैं और रासक रूप के भी कुछ चिह्न प्राप्त हो जाते हैं। कीर्तिलता की कहानी भगभगी के सवाद रूप के रूप में कहलवाई गई है। प्रत्येक पल्लव के आरम्भ में भुगभगी से प्रश्न करती है और फिर भग कहानी शुरू करता है। रासो के वर्तमान रूप को देखन से स्पष्ट हो जाता है कि मूल रासो में भी सुक और सुकी के सम्वाद भी एसी ही योजना रही होगी। द्विवेदी जो कहते रहे इस मामूली में इंगित का पकड़कर हम मूल रासो के कुछ रूप का अंदाजा लगा सकते हैं। रासो की सब घटनाओं का निरीक्षण अच्छी तरह करन के पश्चात् द्विवेदी जो इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि चंद का मूल अर्थ सुक सुकी सम्वाद के रूप में लिखा गया था और जितना अर्थ इस सम्वाद के रूप में है उतना ही वास्तविक है। विद्यापति की कीर्तिलता के समान रासो में भी प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में और कदाचित् अंत में भी सुक और सुकी की बातचीत उद्यम अवश्य रही होगी। साहित्यिक दृष्टि से भी यह अर्थ बहुत उपादेय हुआ है।

चतुर्थ व्याख्यान में कथानक रुद्धियों की खर्चा करन हुए द्विवेदीजी ने पृथ्वीराजरासो की कथा के सौंदर्य का चित्रण किया है। इच्छिनी विवाह का

वर्णन विस्तृत रूप से दिया गया है इच्छिनी विवाह के प्रकरण में इनका मन रम गया है। शशिवता का और सयोगिता के विवाह को मुकवि रचित जान पड़ते हैं। इच्छिनी विवाह के प्रसंग में तीन घटनाएँ उल्लेखनीय हैं जो गुक्तुकी के प्रश्नोत्तर के रूप में आई हैं। (१) भीम भोरग के साथ पृथ्वीराज के वर का कारण (२) भीम की इच्छिनी से विवाह की इच्छा (३) वाराण का वर्णन और इच्छिनी के नखशिख का वर्णन। इस विवाह के पहले और बाद में पटापट दो विवाह और हुए हैं पर उनमें कवि का मन रमा नहीं है। इससे द्विवेदीजी का अनुमान है कि वे मूल रासो के विवाह नहीं हैं। इच्छिनी विवाह की शायद मूल रासो का प्रथम विवाह है। विवाह का वशिष्ट्य लिखाने के लिये कवि ने इस सहज विवाह की पृष्ठभूमि तैयार की है। अगले विवाह में कवि ने जय के कथा नक्ष रुद्रिया का सहारा लिया है। परमावती समय को पूण रूप से इन्होंने प्रदक्षिप्त माना है। सयोगिता वाले प्रसंग को निस्सदिग्ध रम के मूल रासो का सवप्रधान अंग मानते हुए द्विवेदीजी ने उसकी कथा का वर्णन किया है। प्रसिप्त अंगा का उल्लेख द्विवेदीजी ने निर्देश नहीं दिया। अतः द्विवेदी ने अपना अभिमत दन हुए कहा है सभी ऐतिहासिक कह जान वाले कान्यो के समान इसमें भी इतिहास और कल्पना का फरक और फिक्शन का मिश्रण है। सभी ऐतिहासिक मानो जान वाली रचनाओं के समान इसमें भी कालगत और कथानक प्रचित रुद्रिया का सहारा दिया गया है। इसमें भी रस सृष्टि की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। सभावनाओं पर अधिक जोर दिया गया है और कल्पना का महत्व पूण रूप में स्वीकार किया गया है।

पंचम अध्यायान छाना का अक्षर चला है। इसमें मुख्यतः तीन छानो पर आक्षेप विचार किया गया है। मो गादू न विशीहित मदात्राता आदि पर भी प्रकाश डाला गया है। द्विवेदीजी ने श्लोक को लौकिक ससृष्ट का गाथा, प्राकृत का और दाहा का अपभ्रंश का प्रतीक माना है। सबसे पहले दाहा पर विचार किया गया है इसी दाह के आधार पर अपभ्रंश भाषा के समय की निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। मादन्तधवल नामक कवि ने दयसहायपयास नामक छंद में पद नानावध में लिखा या पाया। उनको हठी उड़ाई कारण अपभ्रंश में या नानावध भाषा की अन्त उहोंने गाहावध में कर लिया। पर यह छंद कब से न पता समय निर्धारण करना कठिन सा अवगत होता है। विप्रमो वर्णन में का दाहा छंद अपभ्रंश भाषा में ही निबद्ध है। परमात्मप्रकाश के दाहों को मात्रवीं शताब्दी का बनाया गया है परन्तु द्विवेदीजी ने बताया है कि ये दाह नहीं, अर्थात्, शताब्दी के पद्य के नहीं हो सकते। अन्त में इस संभव में कहा है आधुनिक शैली के अन्तर्गत विरचन का मात्रा मूलन दाहा छंद ही

है। सोरठा सम्बन्ध सोराष्ट्र से जोड़ा गया है क्योंकि इसमें कभी कभी सोरठ का ही कहा गया है और आभीर गुजरा का सोराष्ट्र से पुराना सम्बन्ध है। सब मिलाकर ऐसा लगता है कि दाहा का कुछ सम्बन्ध सम्भवतः आभीर आदि जातियों में स्थापित किया जा सके, परंतु यह बात ठोस प्रमाणों पर कम और अटकल पर अधिक आधारित है। इसके अतिरिक्त पूर्ववर्ती और परवर्ती साहित्य के काव्य रूपों का अध्ययन कर आदिकाल के मध्य प्रदेश में अर्थात् उस प्रदेश में जहाँ ब्रज और अवधी साहित्य की रचना हुई प्रचलित काव्य रूपों का सम्बन्ध और निष्कष प्रस्तुत किया है। इससे हम यह समझने के लिये कि प्राकृत और अपभ्रंश के कौन कौन सी शैलियाँ और काव्य रूपों का भाग चलकर हिन्दी में प्रचार हुआ सहायता मिलती है। सब दृष्टियों से दाहे की परीक्षा की गई है। दूसरे छंदा के सम्बन्ध में भी द्विवेदीजी ने अच्छा विचार किया है। शादूल-विश्रीदित और नाटक की एकता सिद्ध की गई है। छन्दों के सम्बन्ध में बनलाते हुए भक्तिकाल तक का प्रयुक्त छन्दों का विकास प्रस्तुत किया गया है। बड़े विस्तार के साथ छन्दों का प्रयोग पर विचार किया गया है। आदिकाल की काव्य शैलियों का निरीक्षण सूक्ष्मता से किया गया है।

## हिन्दी साहित्य की भूमिका

भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास नामक दो अध्यायों में द्विवेदीजी ने आज के १००० वर्ष पूर्व हिन्दी साहित्य क्या था और उसकी वृद्धि कैसी हुई, पर विचार किया है। कुछ लोगों का कहना है कि हिन्दी साहित्य एक हतदप पराजित जाति की संपत्ति है, इसलिए उसका महत्त्व उस जाति के राजनीतिक उत्थानपतन के साथ अगति भाव से बढ़े, दूसरा यह कि ऐसा नहीं हो तो भी वह एक निरन्तर पतनशील जाति की चिन्ताओं का मूलप्रतीक है जो अपने आप में कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। द्विवेदीजी इन दोनों मतों से सहमत नहीं हैं। अपने मत की पुष्टि के लिए द्विवेदीजी ने ईसा की पहली शताब्दी से लेकर १५वीं शताब्दी तक की सांस्कृतिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया है और यह सिद्ध किया है कि सन् ई० के हजार वर्ष बाद यहाँ के सभी संप्रदाय शास्त्र और मत धीरे धीरे लोकमन से घुलमिल कर लुप्त हो गए जिसकी स्वाभाविक परिस्थिति का मूल प्रतीक हिन्दी साहित्य है। द्विवेदीजी हिन्दी के आदिकाल और भक्तिकाल के साहित्य को मुसलमान आक्रमण की प्रतिक्रिया नहीं



मानते और न वे मते, आचार्यों, संप्रदायो और दार्शनिक चिन्ताओं के मानदंड से लोकचिन्ता की माप हो करना चाहते हैं। इसके विपरीत वे लोकचिन्ता की अपेक्षा में उन्हें देखने की सिफारिश करते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय पंडित ईसा के एक सहस्राब्दी बाद आचार विचार और भाषा के क्षेत्रों में स्वभावतः ही लोक की ओर झुक गया था। यदि अगली शताब्दियों में भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना (अर्थात् इस्लाम का प्रमुख विस्तार) न भी घटी होती तो भी वह इसी रास्ते जाना। उसके भीतर की शक्ति उम इसी स्वाभाविक विकास की ओर ठले लिए जा रही थी उसका वस्तुस्थिति विषय कथमपि विदेशी न था।<sup>१</sup> इस प्रकार द्विवेदीजी ने हिन्दी साहित्य को भारतीय साहित्य परम्परा का स्वाभाविक विकास और लोक चेतना का प्रतीक माना है। यह मत पूर्ववर्ती इतिहासकारों के मन से सखथा भिन्न है। उनका कहना है इस साहित्य का अध्ययन करना निजात आवश्यक है, क्योंकि दस सौ वर्षों तक दस करोड़ कुबल हुए मनुष्यों की बान भी मानवता की प्रगति के अनुसंधान के लिए केवल अपयोगीय ही नहीं बल्कि अवश्य नातव्य वस्तु है।<sup>२</sup> आगे वे कहते हैं कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का रूप बरह आना यथा ही होता जैसा आज है।<sup>३</sup>

मन ईसवी की सातवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म का काफी प्रबल प्रभाव था। मुसलमानी आक्रमण के आरम्भिक युगों में भी भारत से इस धर्म की एकत्रित समाप्ति नहीं हो गई थी। परन्तु इस धर्म का अमिट प्रभाव सखत्र दृष्टिगोचर होता है। आठवीं नवीं शताब्दी में बौद्ध महायान संप्रदाय का जोर रहा। इसी समय बंगाल में पातराज्य कायम हुआ जा इसका अंतिम परिणाम रहा। हिन्दी साहित्य के जन्मकाल के समय बौद्ध धर्म एकत्रित नष्ट हो ही नहीं गया था, ब्रह्मिष्ठ ज्ञान के माप वतमान भी था। द्विवेदीजी का कहना है मुसलमानी सत्ता से उसका कोई सखत्र नहीं है।<sup>४</sup> आठ सौ वर्ष पहले वे गानियों पंडिता के जैसे आसन में नाव उतर कर अपनी अमनी प्रतिष्ठा भूमि लोकमत की ओर जाने लगे।<sup>५</sup> उनकी स्वाभाविक परिष्कृति का मूल प्रतीक हिन्दी साहित्य है। द्विवेदीजी का कहना है चिन्ता पारतन्त्र्य मुसलमानी धर्म के जन्म के बहुत पहले मिर उगा चुका था और पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्य में एक उग्र रूप को देखकर यह कहना कि यह चिन्ता मानव की प्रतिविद्या थी बिल्कुल गलत है। असल में वह बौद्ध और कारण माना चाहिए किमम भारतीय चिन्ता में इस चिन्ता पारतन्त्र्य

१—हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० १२।

२—वही पृ० २।

३—वही पृ० २।

का जन्म दिया विद्वान्नी अक्षयण नहीं ।<sup>१</sup> इस प्रकार त्रिन दिनों बौद्ध धर्म उत्तरात्तर लीकृषम म धुनमिन रहा था, उही दिनों ब्राह्मणधर्म उत्तरोत्तर अलग होता जा रहा था । मूनग्रन्थों की टीकायें उनकी भी टीकाएँ, इस प्रकार कभी कभी छ छ आठ आठ मुश्त तक टीकाओं का दरमग बननी आई, लेकिन ये टीकायें सबत्र चित्ता वागतय की निदशन नहीं हैं । कुछ समय पश्चात् स्मात् और बौद्ध दानों ही हिन्दी साहित्य क जन्मकाल क समय लोकमन का प्रावाय स्वीकार कर चुके व । इसी तरह अपम ग लाकभाषा की आर युकाव स्वाभाविक रूप स हो ग्ना चना था किमी वाहरी शक्ति के कारण नहीं ।<sup>१</sup> और प्रा० हवेन क मत के अनुसार मुसलमानी सत्ता क प्रतिष्ठित हात ही हिन्दू राजकाज म अलग कर दिय इसलिय दुनिया की झगटों स छुटटी मिनत ही उनम धम की ओर, जो उनक लिए एक मात्र आशयस्थल रह गया था, स्वाभाविक आकषण पैदा हुआ का खडन द्विवेदी जो न किया है । आग क सत्स्त्राच्छक की साहित्यिक चतना को जाति की स्वाभाविक चतना के रूप म दम्भ, अस्वाभाविक अधागति क रूप म नहीं अवश्य ही जा अग उनम अस्वाभाविक भाव म बाधाग्रस्त और विकृत हा उन में भूल जान को नहीं क्त्ता पर हिन्दी साहित्य क अध्ययन म उह विप्रवास हा मकेगा कि मास सत्स्त्राच्छक का साहित्य भावी इतिहास म बौद्ध या अय किमी भी काल म कम महत्त्वपूर्ण नहीं है ।

हिन्दी साहित्य क बहुत पटल अपम न या लाक भाषा म कविता हाने लगा थी । यद्यपि प्राकृत में लिखे गए का वा के बाद ही अपम श भाषा म काय लिख गए परंतु ऐसा यह अथ नहा है कि प्राकृत नामकी कोई भाषा पटन वाली जानी थी और अपम ग लाक में प्रचलित भाषा का नाम है जा नाथकाय और नाना स्थान म नाना रूप म बानी जानी थी और बाली जाती है । गुप्त गुप्त म ऐसा आभीरों की भाषा जरूर माना जाता था पर बाद म चलकर वह लाकभाषा का ही नामांतर हा गया । अपम श का किस प्रकार विकास एव प्रसार हुआ यह हिन्दी साहित्य का आन्विकाल नामक पुस्तक म निर्देश किया जा चुका है । अत यहाँ पुनरावृत्ति करना उचित नहीं है । द्विवेदी जो का कहना है आभीरों की भाषा ही उच्च युग क पत्थिों की दष्टि म अपम श का उत्तम नमूना थी । पर यह समझना ठीक नहीं है कि अपम श कवल आभीरा या अहीरों की ही भाषा था । इस कथन का मही अर्थ है कि दान भाषा की वह विशेषता जो आभीरों

मानते और न वे मर्तों, आचार्यों, सप्रत्याया और दार्शनिक विद्वानों के मान-ड से लोकचिन्ता की माप हो करना चाहते हैं। एक विरराज व साहित्यिकी अपेक्षा में उह दशन की सिफारिश करत हैं और इम निरूपण पर पहुचन है कि भारतीय पंडित ईसा के एन सहस्राब्दी बाए आचार विचार और भाषा के मर्तों में स्वभावत ही लोक की ओर झुक गया था। यति अगनी शताब्दिया में भारततीय इतिहास की अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना (अर्थात् इस्लाम का प्रमुख विस्तार) न भी घटी हानी तो भी वह वही रास्ते जाना। उसका भीतर की गति उम इमी स्वाभाविक विकास की ओर ठेल लिए जा रही थी उसका वल्लभ विषय कयमपि विदेशी न था।<sup>१</sup> इम प्रकार द्विवेदीजी ने हिन्दी साहित्य की भारतीय साहित्य परम्परा का स्वाभाविक विकास और लोक चेतना का प्रतीक माना है। य मनु पूर्ववर्ती इतिहासकारों के मन से सबया भिन्न है। उनका कहना है एम साहित्य का अध्ययन करना निदान आवश्यक है क्योंकि दस सौ वर्षों तक दस करोड़ कुचल हुए मनुष्या की बात भी मानवता की प्रगति व अनुमधान क लिए कवल अप्रत्यणीय ही नहीं बल्कि अवश्य पातय वस्तु है।<sup>२</sup> आग व कहत है कि अगर इस्लाम नहा आया होता तो भी इम साहित्य का रूप वारह जाना वसा ही होता जसा आज है।<sup>३</sup>

मनु ईसवी की सातवी शताब्दी में बौद्ध धर्म का काफी प्रबल प्रभाव था। मुसलमानी आक्रमण के आरम्भक युगों में भी भारत से इस धर्म की एकदम समाप्ति नहीं हो गई थी। पर इसमें इसका अमिट प्रभाव सबत्र दृष्टिगोचर होना है। आठवी नवी शताब्दी में बौद्ध महायान सप्रत्याय का जोर रहा। इसी समय बंगाल में पालराज्य कायम हुआ जो इसका अंतिम गणराजा रहा। हिन्दी साहित्य के जन्मकाल क समय बौद्ध धर्म एकदम नष्ट तो हो ही नहीं गया था, जीवित जोश के साथ वतमान भी था। द्विवेदीजी का कहना है मुसलमानी ससग से उसका कोई सपक नहीं है। हजार वर्ष पहले वे ज्ञानियो पंडिता के ऊंचे आसन से नीचे उतर कर अपनी असली प्रतिष्ठा भूमि लोकमत की ओर जाने लगे। उसी की स्वाभाविक परिणति का मृत प्रतीक हिन्दी साहित्य है। द्विवेदी जी का कहना है चिन्ता पारतन्त्र्य मुसलमानी धर्म क ज म के बहुत पटले सिर उठा चुका था और परवर्ती हिन्दी साहित्य में इसके उम रूप को देखकर यह कहना कि यह विदेशी शासन की प्रतित्रिया थी बिल्कुल गलत है। असल में यह कोई और कारण होना चाहिय जिसमें भारतीय चिन्ता में इस चिन्ता पारतन्त्र्य

१—हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० १५।

२—वही पृ० २।

३—वही पृ० २।

को जन्म दिया विदेशी आक्रमण नहीं।<sup>१</sup> इस प्रकार जिन दिना बौद्ध धर्म उत्तरोत्तर लोकधर्म में घुलमिल रहा था, उन्ही दिना ब्राह्मणधर्म उत्तरोत्तर अलग होता जा रहा था। मूलग्रन्थों की टीकायें, उनकी भी टीकाएँ, इस प्रकार कमी कमी छूट आठ आठ मुश्किल तक टीकाओं का परस्परान्वयनी आई, लेकिन ये टीकायें सबत्र चिन्ता पारतन्त्र्य की निदर्शन नहीं हैं। कुछ समय परचात स्मात और बौद्ध धाना ही हिन्दी साहित्य के जन्मकात के समय लोकमत का प्राधान्य स्वाकार कर चुके थे। इसी तरह अपभ्रंश लाकभाषा की आरम्भनाय स्वाभाविक रूप में ही हो चला था किसी बाहरी शक्ति के कारण नहीं।<sup>१</sup> और प्रा० ह्वल के मत के अनुसार मुसलमानी सत्ता के प्रतिष्ठित हात ही हिन्दू राजकाज से अलग कर शिव इसलिय दुनिया की पजटा से छुटटी मिलत ही उनम धर्म की ओर, जो उनके लिए एक मात्र आश्रयस्थल रह गया था, स्वाभाविक आकषण पैदा हुआ, का एडन द्विवेदी जी न किया है। आग के सहस्राब्दक का साहित्यिक चेतना की जाति की स्वाभाविक चेतना के रूप में दस, अस्वाभाविक अधोगति के रूप में नहीं अवश्य ही जा आग उसमें अस्वाभाविक भाव से बाधाएँ और विकृत हो उस में भूल जान का नहीं कहता पर हिन्दी साहित्य के अध्ययन से उद्दिष्ट विश्वास है सकेगा कि सारा सहस्राब्दक का साहित्य भावी इतिहास में बौद्ध या अन्य किसी भी काल से कम महत्वपूर्ण नहीं है।

हिन्दी साहित्य के बहुत पहले अपभ्रंश या लोक भाषा में कविता होने लगी थी। यद्यपि प्राकृत में लिखे गए काव्यों के बाद ही अपभ्रंश भाषा में काव्य लिखे गए पर तब इसका यह अर्थ नहीं है कि प्राकृत नामकी कोई भाषा पहले बोली जाती थी और अपभ्रंश लोक में प्रचलित भाषा का नाम है, जो नायवान और नाना स्थान में नाना रूप में बोली जाती थी और जाती जाती है। शुद्ध गुरु में इसकी आभीरी की भाषा जरूर माना जाता था पर बाद में चलकर वह लोकभाषा का ही नामांतर हो गया। अपभ्रंश का किम प्रकार विकास एवं प्रचार हुआ यह हिन्दी साहित्य का आदिकाल नामक पुस्तक में निर्देश किया जा चुका है। अतः यहाँ पुनरावृत्ति करना उचित नहीं है। द्विवेदी जी का कहना है आभीरी की भाषा ही उस युग के पंडितों की दृष्टि में अपभ्रंश का उत्तम नमूना थी। पर यह समझना ठीक नहीं है कि अपभ्रंश केवल आभीरी या अहीरी की ही भाषा था। इस कथन का यहाँ अर्थ है कि दश भाषा की वह विशिष्टता जो आभीरी

के ससग से प्राप्त हुई थी वनी प्रधान हो गई और भाषा का माधारण रूप तत्काल प्रचलित प्राकृत ही रहा।<sup>१</sup> अगम श म पाण्डुराणा १४ १५ वी शताब्दी तक होनी रही यद्यपि शक बहून पट्टन हा उगा नई भाषा का स्थान द दिया था ।

यहा यह प्रश्न उठता है कि यदि जाधुनिक भाषा म न अगम शा का स्वाभाविक विकास है तो क्या कारण है कि इनम स्तनी अधिकता स सस्कृत क तत्सम शब्दों का प्रयोग जाना है जबकि अगम शा के काव्यों म राजन पर भी सस्कृत के शब्द अपन मून राना म नहीं मिलत । शिवजी जो का कहना है कि उनका तात्वय भाषा म नहीं बल्कि मूरदास तुनसीनास आदि का प्राचीनकाव्य भाषा स है । केवल पुस्तकगत भाषा म हा नहीं उन दिना म प्रचलित बोलचाल की भाषा म भी सस्कृत तत्सम शब्द अगम शा भाषाओं की अपता अधिक मात्रा म बाले जाते थे । ऐसा न होता तो कधीर और दादू आदि की भाषा म तत्सम शब्दों क प्रयोग नहीं मिलत । निश्चय ही मुमनमाना न इन शब्दों का प्रचार नहीं किया था ।<sup>२</sup> इसका कभी यह अर्थ नहीं कि मुसलमानों घम का कोई प्रभाव इस साहित्य पर नहीं पडा है यह कहना अनुचित है । एक जीविन जाति क स्पश म आने पर दूसरी पर उसका प्रभाव पडना स्वाभाविक है । भारतीय साहित्य के सुवर्णकाल म भी इस प्रकार विदेशी प्रभाव लभ्य किया जा सकता है । परन्तु जिस प्रकार कालिदास की कविताओं म या ग्रीक प्रभाव दसकर यह नहीं कहा जा सकता कि वह दुबन जानि की प्रतिश्रियात्मक मनोवृत्ति का निदर्शन है, उसी प्रकार साहित्य म भी यह प्रभाव प्रभाव के रूप म ही स्वीकार किया जाना चाहिए प्रतिश्रिया क रूप म नहीं ।

## नाथ संप्रदाय

नाथ संप्रदाय का विस्तार नामक अध्याय म इस संप्रदाय का नाम नाथ संप्रदाय कम पडा इस पर विचार किया गया है । इस मन के अनेक नामों का उल्लेख करते हुए उन म नाथ मन का व्युत्पत्त्य बनावया है कि नाथ के आश्रयण स इस स इस नाथ ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और अज्ञान की माया अवरुद्ध होनी है इसलिए नाथ शब्द का व्यवहार किया जाता है । नाथसंप्रदाय क मूल उपास्य देवता शिव है । नाथ संप्रदाय के ग्रन्थों की अपनी गवाही मे ही

मालूम होता है कि तांत्रिका का कौलमाग और बापालिक मत नाथ मतानुयायी है कनफटा इस शब्द की प्रचलित अनेक अर्थों को बताते हुए उसकी साधकता को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। घघारी, सुम्प्रिनी, अघारी, कथा आदि शब्दों का इस मत में क्या अर्थ लिया जाता है—स्पष्ट बताया है। योगिमा क वार म इन्नवतूता भादि क विचार भी दिया है। गहस्थ यागियों के बारे में भी विचार किया है। नाथयागी एवं गहस्थ योगी के भेद को स्पष्ट करते हुए यह बतलाया है कि इनकी मर्यादा कनफट योगियों से हीन मानी जाती है। इन यागियों में सभी प्रकार की जातियाँ पायी जाती हैं जैसे जुलाहा, रंगसाज आदि। ये जातियाँ वरार, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक और दक्षिण भारत में भी पाई जाती हैं।

नाथसंप्रदाय के पुरान सिद्ध नामक दूसरे अध्याय में नवमूलनाथ के नाम दिए गये हैं। जिन्होंने संप्रदाय का प्रवर्द्धन किया था। तत्पश्चात् नाथपधिया एवं सहज्यानिया, मिद्धो में इनमें क कई सिद्ध अभिन्न हैं। अनेक सिद्ध उभय-साधारण हैं। तालिका देकर इस स्पष्ट किया है। द्विवेदी जी कहते हैं कि नाथ-संप्रदाय के सर्वमाथ आचार्य मत्स्य द्रनाथ जालधरनाथ, गोरक्षनाथ और कानिया है क्योंकि इनका नाम सब में पाया जाता है।

मत्स्यद्रनाथ कौन थे ? नामक तृतीय अध्याय में बताया है कि नाथ-परम्परा में आदिनाथ के बाद सबसे महत्वपूर्ण आचार्य मत्स्यद्रनाथ ही है। आदिनाथ शिव का ही नामांतर है। मानव गुरुओं में मत्स्यद्र ही सर्वप्रथम आचार्य माने जाते हैं। काश्मीर शवागमा में भी इनका नाम बड़े सम्मान के साथ दिया जाता है। इजका आविर्भाव युग सधिकात्त में हुआ। अनेक साधना मार्गों को य प्रवर्तक मान लिए गए हैं। प्रथम इनका नाम पर विचार किया गया है। योगि संप्रदाय में इनका नाम 'महद दरनाथ' प्रसिद्ध है इनके द्वारा रचित पुस्तक नेपाल की लाइब्रेरी में सुरक्षित है उसमें एक का नाम है कौलनाननिणय। इस ग्रंथ का काल हरप्रसादशास्त्री ने ९ वीं शताब्दी एवं डॉ० प्रबोध चंद्र वागची ने ग्यारहवीं शताब्दी का मध्य भाग बतलाया है। अनुसंधान से पता हुआ है इन दोनों रित्ताओं में इनके नाम कई तरह के आये हैं। इस पर हरप्रसाद शास्त्री का अनुमान है कि मत्स्यद्रनाथ मछली मारने वाली कवत्त जाति में उत्पन्न हुए थे। कौलनिणय में भी मत्स्यय नाम का समर्थन होता है। इस प्रकार मत्स्यद्रनाथ की जीवितावस्था में ही मत्स्यय के प्रतीकात्मक अर्थ में उल्ला कहा जाता असंगत कल्पना नहीं है।

इसके बाद ही एक प्रश्न उठाया है कि मत्स्यद्रनाथ और मीननाथ

एक व्यक्ति हैं या भिन्न भिन्न ? हठयोग प्रतीविका में दोनों को पसर व्यक्ति बताया गया है। डा० वागची का अनुसार एक ही व्यक्ति का नाम है। साम्प्रदायिक अनुश्रुतियाँ का अनुसार मीननाथ मत्स्येन्द्रनाथ का पुत्र था पर डा० वागची का कहना है कि यह परवर्ती कल्पना है। निरन्त्री अनुश्रुती का अनुसार मीननाथ मत्स्येन्द्रनाथ का पिता था और नयान में प्रचलित विश्वास का अनुसार य मत्स्येन्द्रनाथ के छोटे भाई हैं। पर द्विवेदीजी ने अनक प्रामाणिक बातों को दते हुए यह सिद्ध किया है कि प्राचीनकाल में मत्स्येन्द्रनाथ का नाम भी मीन या मीननाथ माना जाता था। य मत्स्येन्द्रनाथ कौन था किस देश में उत्पन्न हुए ? इनके रचित ग्रंथ क्या हैं ? साधन माग क्या था और क्या था ? आदि प्रश्न भी सहज समाधान नहीं हैं। बहुत से लोग न मत्स्येन्द्रनाथ और तर्कवाद को एक ही व्यक्ति बताने का प्रयत्न किया है परन्तु कई कारणों से एक व्यक्ति ज्ञान में सदेह है। हरप्रसाद शास्त्री जी का मत भी य दोनों भिन्न हैं। योगिसम्प्रदायाविवक्ति में चद्रगिरि नामक समान को गोरक्षनाथ की जन्मभूमि कहा गया है।

मत्स्येन्द्रनाथ विषयक कथाएँ और उनका निष्कथ नामक अध्याय में पाच तरह के प्रचलित कथाओं को दिया गया है। इन पाच कहानियों के अनुश्रुतियों के पश्चात् द्विवेदीजी ने यह निष्कथ निवाला है कि मत्स्येन्द्रनाथ और जालधरनाथ सम सामयिक थे। दूसरी मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ के गुरु थे और जालधरनाथ कानुपा या कण्ठपाद के गुरु थे, तीसरी मत्स्येन्द्रनाथ का भी यागमाग के प्रवर्तक था फिर सयागवश एक एक आचार में सम्मिलित हो गए थे जिसमें स्त्रियों के साथ अबाध ससग मुर्य बात थी। सम्भवत यह बामाचारी साधना थी। चौथी यह कि शुरू से ही जालधरनाथ और कानुपा की साधनापद्धति मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ की साधनापद्धति से भिन्न थी। इनके समय निर्धारण के लिए भी युक्ति मन्दी है। इन प्रमाणों के आधार पर द्विवेदीजी ने नाथ माग के आदि प्रवर्तकों का समय नवी गताव्दी का मध्य भाग मानना उचित जान पड़ता है ऐसा कहा है। अनक खाज के पश्चात् द्विवेदीजी ने अनुमान लगाया है कि मत्स्येन्द्रनाथ चद्रगिरि नामक स्थान में पदा हुए थे जो कामरूप से बहुत दूर नहीं था।

मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा अवतरित कौलज्ञान 'नामक अध्याय में मत्स्येन्द्रनाथ के मत एवं इस मत की जानकारी से हम ऊपर की दत्तकथाओं के समझने में मदद मिलती है। इस पर विचार किया गया है। 'कौलज्ञान-निर्णय' के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ कौलमाग के प्रथम प्रवर्तक हैं। खाज के पश्चात् इस निर्णय पर

पहुँचते हैं कौलज्ञान-सिद्धिपरक विद्या है और यद्यपि शास्त्र म अद्वैतभाव की चर्चा है पर मुख्यत यह उन अधिकारियों के लिए लिखा गया है जो कुल और अकुल, शक्ति और शिव क भेद को भूत नहीं सम है। कुल और अकुल का सम्बन्ध स्थापन ही कौलम भाग है इसलिए कुल और अकुल का सामरस्य ही कौलज्ञान है। इसके अतिरिक्त कुल के चार के अथ एव कौलभाग पर विचार किया गया है।

छठवें अध्याय म जालधरनाथ का साधारण जीवन परिचय दिया गया है। जालधरनाथ मत्स्येंद्रनाथ के गुरु भाई थे। तिब्बती परम्परा म मत्स्येंद्रनाथ के गुरु भी मान जाते हैं। भाटिया ग्रंथो म इह आदिनाथ भी माना जाता है। तनजूर म इन सात ग्रंथो का उल्लेख है जिनम राहुनजी के मतानुसार दो मगही भाषा म लिखे गये हैं। डा० कर्दिय ने फ्रेंच भाषा म बौद्ध ग्रंथो की एक तानिका प्रकाशित की थी उसम जालधरनाथ लिखित एक टिप्पणिग्रन्थ का भी नाम है। य पञ्जाब म अधिष्ठित जालधरपीठ नामक तानिक स्थान म उत्पन्न हुए थे ऐसा माना जाता है। दूसरी परम्परा मानती है कि वे हस्तिनापुर के पुरुवशी राजा बृहद्रथ के यत्नाग्नि स उत्पन्न हुए थे और इसी स इनका नाम ज्वालेंद्रनाथ पडा था। इस प्रकार इका जन्म स्थान नगरभाग हस्तिनापुर और जालधरपीठ माना गया है। जाति के बारे म भी विवाद है। तिब्बती परम्परा क अनुसार ब्राह्मण, बंगाली परम्परा क अनुसार हाड़ी या हनुखोर, और योगि सम्प्रदायाविष्टति क अनुसार य युधिष्ठिर की सीवी पुत्र में उत्पन्न पुरुवशी राजा बृहद्रथ के पुत्र हान के कारण क्षत्रिय भी माने जाते हैं। द्विवेदी जी का अनुमान है कि जालधरपीठ म या तो उत्पन्न हुए होग या गिद्ध हुए होंगे। हठयोग की पुस्तकों म एव व य का नाम जालधरवध है। जालधरनाथ के साथ संबद्ध होने के कारण यह वध जालधर व य कहा जाता है। जिनतो भी परम्परायें हैं वे सभी जालधर नाथ का जन्म स्थान पञ्जाब की ओर ही निर्देश करती हैं। जालधरनाथ का सम्बन्ध उड्डियान या जालधर दानों ग्रंथों म है। इस प्रकार क अनुमान का कारण यह है कि सचमुच जालधर नामक राजा का उत्सव मिलता है।

चीनी और तिब्बती ग्रंथों म लकापुरी की चर्चा आती है। इन सब बातों से यह निष्पन्न निश्चयता है (१) उड्डियान और जालधरपीठ पास ही पास है। (२) उड्डियान म ही वही लकापुरी है जहाँ कोई जानेंद्रनामक राजा प। जो सुप्रसिद्ध साधक इन्द्रभूत के बहनोई थे। (३) हठयोग के ग्रंथों में



उडिडयानवध और जालधरवध नाम के ११ जा वध हैं उनका सम्बन्ध इनमें से किसी एक से या अनक स हाना अमम्भव नया है। यह कथना बड़ा कठिन है कि जालेंद्र झाजा ही जानधर है या नता। अतः म निष्कर्ष रूप में अनक राज के पश्चात् यह निणय किया है कि जालधरपीठ किमी जमाना में वज्रयानी माघना का प्रधान क्षेत्र था पर इतना तो निश्चय है कि जालधरपीठ का प्राचीन और महत्वपूर्ण होने में कोई सन्देह नहीं है। य परम्परा में इनकी विस्तृत हो गई है कि इन पर से किसी एनिहामिा तथ्य का राज निकालना दुष्कर ही है। जानेंद्र ज्वालेंद्र और जालधर नामा के उच्चारण साम्य का कारण इनको आदिम में बुरी तरह से उलझा दिया है परन्तु यह बात फिर भी गौर देकर ही कही जा सकती है कि जालधरनाथ का सम्बन्ध जानधरपीठ से भी था और उडिडयान पीठ से भी।

राहुल जी ने इह खिब्रती परम्परा के आधार पर कर्णाटकेतीय ब्राह्मण और डा० भट्टाचार्य ने इह जुलाहा जाति में उत्पन्न उडिया भाषी लिखा है। शरीर का रंग काला होने से इह कृष्णपाद भी कहा गया है। इनका कही महाचाम, कही महामिद्धाचार्य, कही उपाध्याय और कही मण्डाचार्य कहकर सम्मानपूर्वक नाम लिया गया है। इनकी भाषा पर से श्री विनयतोपजी भट्टाचार्य इह उडिया भाषी हरप्रसाद गास्त्री, बगलाभाषी राहुलजी मगही भाषी कहते हैं। कानपा ने स्वयं अपने को कापालिक कहा है और अपने को जालधरपाद का शिष्य बताया है। इसी कापालिक मत के सम्बन्ध में अनक वात्विवाद है।

वि० सवत की दसवीं शताब्दी में भारतवर्ष के महान गुरु गोरक्षनाथ का आविर्भाव हुआ। शंकराचार्य के बाद इतना प्रभावशाली महापुरुष भारतवर्ष में नहीं हुआ। भक्ति आन्दोलन के पूर्व सर्वत्र शक्तिशाली धार्मिक आन्दोलन गोरक्षनाथ का योग माग ही था। भारतवर्ष में ऐसी कोई भाषा नहीं है जिसमें गोरक्षनाथ सम्बन्धी कहानियां प्रचलित हैं। इन कहानियों में परस्पर एनिहासिक विरोध हान पर भी इतना अवश्य सिद्ध हो जाता है कि ये अपने युग के सबसे बड़े नताथ हैं। इनके जन्मस्थान का कोई निश्चित पता नहीं चलता। यागि सप्रत्यायाविष्टिति ने उह गोदावरी तीर के किसी चट्टागिरि में उत्पन्न बताया है। नेपाल दरवार ला ब्रेरी के पास गोरक्ष महेश्वरनामस्तोत्र नामक छोटे ग्रन्थ से पता चलता है कि बडवनामक दश में गोरक्षनाथ का आविर्भाव हुआ था। बुद्ध के उत्लस के अनुसार ग्रियसन ने उद्धत किया है कि 'गोरक्षनाथ मत्स्ययुग में पञ्जाब के पेशावर में, शना में गोरक्षपुर द्वारपर में द्वारिका के आगे हरमूज में, और कलिकात में काठियावाड की गोरक्षमती में प्राणभूत हुए थे।' नेपाली

रम्परा के अनुसार पञ्जाब से चलकर नेपाल गये थे। नासिक के योगियों का विश्वास है नेपाल से पञ्जाब आये थे बाद में नासिक की ओर गये थे। त्रिपुस का अनुमान है पञ्जाब निवासी रहें होंगे। प्रियसन के अनुसार संभवतः पश्चिमी हिमालय के रहने वाले थे। द्विवेदीजी का अनुमान है निश्चित रूप से गोरक्षनाथ साहायण जाति में उत्पन्न हुए थे, उनके गुरु मत्स्येंद्रनाथ सापद ही कभी बौद्ध साधक रहे हों।

गोरक्षनाथ के नाम पर बहुत ग्रन्थ चलते हैं जिनमें अनेक परवर्ती और कई सदहास्य हैं। इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर गोरक्षनाथ का काल निर्णय करने का प्रयत्न किया है। कबीरदास के साथ बातचीत हुई थी इसको आधार बना प्रियसन ने गोरक्षनाथ का समय १४वीं शताब्दी माना है, गुरु नानक के साथ बातचीत एवम् जैन दिगम्बर सत बनारसीदास से शास्त्रार्थ होने के प्रसंग से १७वीं शताब्दी का भी होना माना जाता है। इन सबका ऐतिहासिक मूल्य अति घट्ट है। अतः द्विवेदीजी के मतानुसार इनका समय १०वीं शताब्दी का परवर्ती नहीं माना जा सकता। इनकी भाषा को लेकर जो काल निर्णय करने का प्रयास किया गया है वह निष्फल ही सिद्ध हुआ है।

गोरक्षनाथ के ग्रन्थों में द्विवेदीजी ने देखा है एवम् सप्रति किया है ऐसे २८ ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। इनके अतिरिक्त हिन्दी में भी गोरक्षनाथ की कई पुस्तकों का संपादन बड़े परिश्रम एवम् योग्यता के साथ स्व० डा० पीतांबरदत्त बटवाल ने किया है। इनकी सोज के अनुसार ४० पुस्तकों का पता चला है। डा० बटवाल ने इस सम्बन्ध में कहा है कि गोरक्षनाथ धर्म की ११वीं शती में हुए थे। ये रचनाएँ जमी उपलब्ध हो रही हैं, ठीक वैसी ही उस समय की हैं यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु इसमें भी प्राचीनता के प्रमाण विद्यमान हैं जिससे कहा जा सकता है कि संभवतः इनका मूलोद्भव ग्यारहवीं शती में हुआ हो।

गोरक्षनाथ के समसामयिक सिद्ध २४ सिद्धों का भी विवरण दिया गया है। तत्पश्चात् परवर्ती सिद्धसंप्रदाय में प्राचीन धर्म के सम्बन्ध में विचार किया गया है। गोरक्षनाथ के पूर्व ऐसे बहुत से शैव, बौद्ध और शाक्तसंप्रदाय थे जो वेद वाङ्मय होने के कारण हिन्दू थे और न मुसलमान। उत्तर भारत में ऐसे अनेक संप्रदाय थे जो वेदवाह्य होकर भी वैष्णव धर्म के योगसाधना या पौराणिक देवत्वों की उपासना किया करते थे, ये अपने को शैव शाक्त और योगी कहते रहे। द्विवेदीजी का अनुमान है गोरक्षनाथ ने उनको दो प्रधान दलों का पाया

हो—एक तो वे जो योगमाग के अनुयायी थे पर शैव या शाक्त नहीं थे दूसरे वे जो शिवशाक्त के उपासक थे पर शैव या शाक्त नहीं थे । परन्तु गोरग सम्मन योगमाग के उतने मजदोर नहीं थे । बाग म उन्हें गोरगनायी माना जाने लगा । धीरे धीरे जब परम्परायें लुप्त हो गईं तो उन पुरान सप्रणायों के मूल प्रवचनों को भी गोरक्षनाथ का शिष्य समना जान लगा । इसे स्वीकार कर लेन पर इम सम्बन्धी जो वाद विवाद है स्वयमेव परास्त हो जाना है तत्पश्चात इम मन सम्बन्धी ८ शाखाओं का वणन दिया गया है ।

## कबीर

प्रस्तावना म द्विवेदीजी ने कबीरदास सम्बन्धी विवाद को उपस्थित किया है । आज की धनजीवी जातिया म स अधिकांश किसी समय ब्राह्मण श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करती थी । (१) जोगी नामक आश्रय भट्ट घर वारियो की एक जाति सारे उत्तर और पूव भारत म फली थी । य नाथपथी थे, कपडा धुनकर और सूत कातकर या गोरक्षनाथ और भरघरी के नाम पर भीस मांगकर जीविका चलाया करते थे । (२) इनमे स निराकार भाष की उपासना प्रचलित थी, जातिभेद और ब्राह्मण श्रेष्ठता क प्रति इनकी कोई सहानुभूति न थी और न अवतारवाद में ही कोई आस्था थी । (३) आसपास के बहत्तर हिन्दू समाज की दष्टि म ये नीच और अस्पश्य थे । (४) मुसलमानों के आने के बाद ये धीरे धीरे मुसलमान होते रहे । (५) पजाब गुज्जप्रदेश, बिहार और बगाल मे इनकी कई बस्तियो न सामूहिक रूप स मुसलमानों घम ग्रहण किया था । (६) कबीरदास इहीं नव धर्मांतरित लोगों म पालित हुए थे ।

कबीरदास के नाम पर जो वाणिया मिलती हैं उनका कोई हिसाब नहीं । खोज म जब तक कबीरदास के नाम पर छ दजन के आस पास पुस्तकें मिली हैं । इनम स कुछ उनकी नहीं हैं और कुछ अन्य पुस्तकों के भीतर आ जाती हैं । सन १९०६-७ की खोज रिपोर्ट म अनुरागभगार की एक प्रति पाई गई थी जिसके सम्बन्ध म रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि उसम पद्यों की संख्या १५६० है । पर सन १९०६-११ म इसी पुस्तक की इससे १६ वय पुरानी एक और प्रति मिली । इस पुरानी प्रति म पद्या की संख्या १५०४ थी । १६ के अन्तराल मे ८६ पद्यों की वृद्धि हो गई । अत इन पद्यों की प्रामाणिकता सन्देह का ही विषय है । श्री विश्वनाथसिंह जू देव ने अपनी टीका के अन्त म कबीरदास का कहा जाने वाला एक पद उद्धृत किया है यह पद स्वय सदेगास्पद है । इन सबको देखते हुए द्विवेदीजी की यह धारणा है कि बीजन के कुछ अश अवश्य बाद के हैं । जो

हो बीजक कबीरदास के मतों का पुराना और प्रामाणिक संग्रह है इसमें सन्देह नहीं ।

अवधूत कौन है नामक अध्याय में अवधूत का सम्बोधन किस किस प्रकार होता है इस पर विचार किया गया गया है और कबीरदास अवधूत का अर्थ क्या लेते हैं बताने का प्रयास किया है । कबीरदास का अवधूत नागपथी सिद्ध योगी है । वह अवधूत जिसके वाक्य वाक्य में वेद निवास करते हैं, पद पद में तीव्र बसते हैं, प्रत्येक दृष्टि में कैवल्य या मोक्ष विराजमान होता है, जिसके एक हाथ में त्याग है और दूसरे हाथ में भोग फिर भी जो त्याग और भोग दोनों से अलिप्त है, वर्णाभय से परे है, समस्त गुरुआ का साक्षात् गुरु है, न उससे बड़ा है और न बराबर । इसी अवधूत की चर्चा कबीरदास ने भी की है । कबीरदास के अनुसार योगी वह है जो न भीख मगने न भूखा सोये, न झोली पत्र और बटुआ रखे, अनहृद नाद के बनाने से विरत हो, पाँच जने की जमात का पालन करे और सत्कार से मुक्ति पाने की माधना भी जाने । जो ऐसा नहीं वह अवधूत योगी कबीर का आदेश नहीं हो सकता यद्यपि इन योगियों के संप्रदाय के सिद्धों को ही कबीरदास का अवधूत कहते हैं, तथापि वे सत्कारण योगी और अवधूत के एक को बराबर याद रखते हैं । अवधूत को ज्यादा आदर दिया है ।

नागपथियों के सिद्धांत और कबीर का मत नामक अध्याय में नागपथी अवधूत का मत क्या था और कबीरदास पर उसका कुछ प्रभाव पड़ा था या नहीं इस पर विचार किया गया है । गोरखनाथ ने योगमाग में गुरु की बड़ी महिमा गाई गई है । गुरु ही समस्त क्षेत्रा का मल है और एक मात्र अवधूत ही गुरु पद का अधिकारी हो सकता है ।

## निरजन कौन है

कबीर पथ के अध्ययन से निरजन का सध्वंघ बुद्ध से या ऐसा अनुमान होता है । नागपथ में निरजन की महिमा सूत्र गाई गई है । स्वयं कबीरदास की उक्तियों में से ऐसी ढूँढी जा सकती हैं जिनमें उन्होंने निरजन को परमाराध्य समझा है । द्विवेदीजी की अनुमान है कबीरदास के समय का अपेक्षाकृत सहज मतवाद धाद में चलकर जटिल हो गया है । स्पष्ट है कबीरदास निगुण या निरजन ब्रह्म को ईशान जसा नहीं समझते थे ।

## मध्यकालीन धर्मसाधना

द्विवेदीजी न भारतीय समाज में विभिन्न कालों में आकर घुनमिन जान वाली विभिन्न जातियाँ और उनके धर्म साहित्य रीति रीति आदि का समाज शास्त्रीय विश्लेषण किया है और हम तरफ तत्सम्बन्धी पूर्व प्रचलित अनेक धर्मों का निवारण किया है। उन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों धर्मों और शास्त्रों में एक सत्त्वा का भी विश्लेषण किया है जिनकी अमिट छाप उच्चतमता के माध्यम से हिन्दी साहित्य पर पड़ा है। उनकी कथार नाथसम्प्रदाय मध्यकालीन धर्मसाधना और प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद नामक पुस्तकों में अनेक इस प्रकार के शोध और अध्ययन सम्बन्धी कार्यों की विवृति लिखाई पड़ती है। द्विवेदीजी गवेषक एवं समीक्षक दोनों हैं। उनका गवेषक का रूप समीक्षक रूप से अधिक भास्वर है। उनके इस रूप के दर्शन आरम्भिक रचनाओं में ही मिल जाते हैं। नाथ सम्प्रदाय मध्यकालीन धर्मसाधना के बाद यह धारणा और भी युक्त हो जाती है। इस पुस्तक में यद्यपि लक्षण का उद्देश्य उत्तर भारत की प्रधान प्रधान धर्मसाधनाओं यथासंभव विवृति करना है फिर भी उद्देश्य दृष्टि भारत की भी धर्म साधनाओं का भी उल्लेख किया है। यद्यपि इस पुस्तक में अनेक विषयों की चर्चा हुई है पर उनकी जमी सूक्ष्म स्पष्ट सुसम्बद्ध व्यवस्थित विवचना हानी चाहिए थी वही इस पुस्तक में नहीं हो पाई है। इस पुस्तक के लिखन में एक ओर पुराणों, साहित्यों और अन्य प्राचीन ग्रन्थों का सहारा लिया गया है। और दूसरी ओर प्राचीन विद्वानों ने अग्रजी में जो अपनी धारणाओं बनाई हैं उनका प्रतिपादन भी किया है।

मन्वन्तर का समय पाचवी शती से सोलहवी शती तक का काल है। इस युग की विशेषता भगवान के नाम का ही सबसे बड़ा मन्त्र मानना और उसी के जप की समस्त सिद्धियों का मूल मानना इस युग की विशेषता है। इस विशेषता ने ही भगवान में भावगहीत रूप को इतना महत्व दिया है।<sup>१</sup>

द्विवेदीजी का अभिमत है कि आज के भारतीय धर्म समाज आचार विचार त्रियाकांड, सभी विषयों पर इस युग की अमिट छाप है। इस काल को और चाहें तो कहा जाय कि वही मुखी और जब दी हुई मनोवृत्ति का काल नहीं कहा जा सकता। जो पुराण और स्मृतियाँ आजकल निस्तदिग्ध रूप में प्रमाणित

मानो जाती है और उनका सम्पादन अंतिम रूप में इस काल में हुआ था, जो काय, नाटक कथा आख्यायिकाएँ गुप्तकाल में रची गयीं, वे आज भी भारतवर्ष का चित्र मृग्य कर रही हैं। जो शास्त्र उन दिनों प्रतिष्ठित हुए वे सैकड़ों वर्ष बाद आज की भारतीय मनीषा को प्रेरणा दे रहे हैं। इस काल को भारतीय उन्नति का स्तम्भ हो जाने का काल नहीं कहा जा सकता।<sup>१</sup> इन लगभग १२ सदियों के १२०० वर्ष की अवधि में भारतवर्ष की जनता की क्या धर्मसाधना रही इस स्पष्ट करत हुए लेखक ने लिखा है कि एक तो इस युग में निरक्षर साधकों की प्रधानता रही और दूसरा भगवान् के भावगहीत रूप का विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ। नाम और रूप की उपासना मध्यकालीन भक्ता की अपनी विशेषता है द्विवेदीजी की दसवीं शताब्दी के बाद ही भारतीय इतिहास का वह काल प्रारम्भ होता है जिसे सकोचनशील और स्तम्भ मनोवृत्ति का काल कहा जा सकता है। यह सत्य है कि मध्यकाल में कोई भी ऐसी प्रवृत्ति कठिनाई से मिलेगी जिसका बीजारोपण किसी न किसी रूप में पूर्ववर्ती काल में न हो गया हो। पर वे धर्म साधना का इतिहास को जीवित वस्तु मानते हैं।<sup>२</sup> विग्रम की छठी शताब्दी से लेकर वे अनुसार 'धर्म साधना से एक नई प्रवृत्ति का उदय होता है जिस तांत्रिक प्रभाव कहा जाता है। यह प्रभाव ग्राह्य ही नहीं जन और बौद्ध सम्प्रदायों में भी स्पष्ट रूप से अभिलक्षित होता है। छठी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक का प्रभाव चलता रहता है फिर इस दश की धर्म साधना नए रूप में प्रकट होती है। यह अठारहवीं शताब्दी के अंत तक चलती रहती रहती है और उसके बाद भारतवर्ष फिर नए ढंग से सोचना प्रारम्भ करता है।

विग्रम की छठी शताब्दी के बाद जो तांत्रिक प्रभाव भारतीय साधना के ऊपर पड़ा वह परिवर्तकाल के सत्तो या निमुण भक्तों की साधना का रूप में प्रकट हुआ।<sup>३</sup> उन साहित्य का बीजारोपण विग्रम की छठी शताब्दी में ही हुआ और विग्रम की नवीं और दसवीं शताब्दी तक वह अकुरित होता रहा।<sup>४</sup> पूर्वमध्य युग में विविध साधनायें पनपी और इसे तत्र प्रभाव का काल कहा है और इस काल की मुख्य घटना पाचरात्र सरिताओं का अम्युस्थान काल है। ये सहिताएँ वृष्णवो का कल्पसूत्र कहा गया है। लक्षक का मत है विग्रम की छठी शताब्दी के बाद जो तांत्रिक प्रभाव भारतीय साधना के रूप में प्रकट

१- मध्यकालीन धर्मसाधना पृ० १७।

२- वही पृ० १७।

३- वही पृ० २५।

४- वही पृ० २५।

हुआ। छठी से दसवीं सदी तक के काल में 'वदणव, शव शासन, गणपत्य, और सौर से लेकर बौद्ध और जन सम्प्रदायों तक का मन्त्र-तन्त्र, मुद्रा आदि का प्रचार बढ़ना दिखाई देता है। तन्त्र शास्त्रों में मन्त्र-तन्त्र, याग दीक्षागुण आदि तत्त्व सम्मिलित किये जाते हैं। मध्ययुग के धार्मिक साहित्य को दो प्रकार से विभक्त करके विचार किया गया है। स्मृतियों उनकी टीकाओं, पुराणों और निबन्धों का साहित्य पुराने जमाने से ही 'धर्मशास्त्र' कहा जाता रहा है, दूसरे प्रकार का साहित्य जो साधनों के परम पुष्टपाथ प्राप्ति की प्रतिक्रियाओं को बताने है जिसमें तन्त्र भोग के ग्रन्थ हैं भक्ति की पुस्तकें हैं और पुराणों के व अंश हैं जो इन्हीं बातों की चर्चा करते हैं। इन द्विवेदीजान 'धर्मसाधना' के नाम से अभिहित किया है।<sup>१</sup> धर्म साधनाओं को भी दो मोटे विभागों में बांट लिया है (१) योग-मूलक साधनाएँ और भक्तिमूलक साधनाएँ। इन दोनों साधनाओं का प्राच्य हम मध्ययुग में ज्यादा पाते हैं। तत्पश्चात् वदिक दवनावाद से धर्म साधना का अन्तर कम हुआ पर विचार किया गया है। याग साधना की परम्परा में सब प्रथम पातजलि का नाम आता है जिसने व्याकरण, महाभाष्य, पातजलि योग सूत्र और संहिता की रचना की थी। मध्यकाल में लोक भाषाओं में जो योग सम्बन्धी पुस्तकें लिखी गयीं, उनमें पातजलि के ग्रन्थों के समान इतनी सूक्ष्म विवेचना नहीं की गयी। पातजलि दशन विचार प्रधान दशनग्रन्थ है जबकि मध्ययुग के हठयोग वाले ग्रन्थ प्रक्रिया प्रधान हैं।<sup>२</sup> पर ज्ञान माग का प्रभाव उन पर है। द्विवेदीजी का अनुमान है कि उत्तर मध्यकाल में इन योगियों को लोक भाषा में लिखने की परिपाटी दीघकाल से चली आती हुई परम्परा का अन्तिम रूप है।<sup>३</sup> आगे वह कहते हैं निगुण भक्ति माग की आरम्भिक अवस्था ज्ञान की कथनी वाले मागों की परम्परा का ही अन्तिम रूप रही होगी, कबीर, दादू आदि के नाम पायी जाने वाली वाणियों के विश्लेषण से इस नतीजे पर पहुँचना सम्भव है। साखियाँ आठ योगियों के विभिन्न पहलुओं को स्पष्ट करने के उद्देश्य से ही लिखी गयी हैं। इन उपदेशों में ज्ञान प्रवण नतिक स्वर प्रधान एवं योग सम्बन्धी स्वर गौड दिखलाई पड़ता है। इसी ज्ञानप्रवण नतिकता प्रधान योगमाग के अंत में भक्ति का बीज पड़ने से जो मनोहर लता उत्पन्न हुई उसी का नाम निगुण भक्ति माग है।<sup>४</sup>

धर्म और निरजन मत में यह बताया है कि किसी न किसी

१- मध्यकालीन धर्मसाधना पृ० ५६।

२- वही पृ० ७०।

३- वही पृ० ७६।

४- वही पृ० ७७।

रूप में दीध काल तक बौद्धधर्म जीवित रहा और जब भी किसी न किसी रूप में कहीं कहीं ओ रहा है। पश्चिमी बंगाल और पूर्वी बिहार में घमपूजा एक जीवित मत है। उनमें सबसे बड़े देवता निरजन या घम हैं। उन्हें रूप, वण आदि में अतीत और शून्यरूप बताया गया है। इस धर्म का अपना साहित्य है जिसे बंगाल में घम मंगल साहित्य नाम दिया गया है पंडिता का अनुमान है कि घमपूजा बौद्धधर्म का भग्नावशेष है, कुछ दूसरे पंडितों का अनुमान है कि घम या निरजन देवता वस्तुतः आदिवासियों का ग्रामदेवता है। जो हो घम में बौद्ध प्रभाव है अवश्य।<sup>१</sup>

कबीरमत में घमदेवता का 'अवशेष' उड़ीसा में निरजन नाम के देवता की पूजा प्रचलित थी जिस पर बौद्ध धर्म का जबरदस्त प्रभाव था। कबीर मत को इस धर्म से निवटना पड़ा। विशेष रूप से कबीर धर्म की दक्षिणी शाखा को इस प्रबल प्रतिद्वंद्वी मत को आत्ममान करने का श्रेय प्राप्त है।

इसके बाद सत साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि पर विचार किया गया है। फिर सामाजिक विषय, जैन जातिभेद की कठोरता और उसकी प्रतिक्रिया, स्पर्शा-स्पर्श विचार, अंतर जातीय विवाह, वर्तमान जनसमूह अवतारवाद, पर प्रकाश डाला गया है। जिसमें मध्ययुग की समाज में परिस्थिति को जानने में पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो जाती है श्रीकृष्ण की प्रधानता नामक शीपक क लेकर मधुर रस की साधना तक करीब करीब उन्नी विषयों पर प्रकाश डाला गया है जो सूरसाहित्य में हैं अतः विष्टपेपण करना समीचीन न होगा। इन अंतराल में आने वाले शीपक में कृष्ण, गोपी, राधा तथा लीलाभक्ति आदि के वर्णन में समीक्षात्मक दृष्टिकोण को अपनाया गया है जिसका वर्णन हम दूसरे अध्याय में देखेंगे हैं।

'प्राचीन भारत का कलात्मक विनोद' नामक दूसरी किताब भारतीय संस्कृति की एक लम्बी परम्परा का हमारे सामने उपस्थित करती है। प्रस्तुत पुस्तक में प्राचीन भारत की उसी संस्कृति पर प्रकाश डाला गया है। सुविधा की दृष्टि से लेखक ने भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग 'गुप्तकाल' के कुछ ही वर्ष पूर्व से लेकर ही इस काल की सीमा का अतिक्रमण आवश्यकतानुसार कर जाने हैं। लेखक इस ऐहिकता को आध्यात्मिकता का विरोधी नहीं मानते उनका कथन है



‘प्रत्येक मनुष्य इनमें (कला विनोद) बंधा है। परन्तु इनके दा पहलू होते हैं। जब ये मनुष्य को अपने आप तक ही सीमित रगत हैं ता ये बाधन बन जाने हैं परन्तु जब ये अपने ऊपर बाल तत्त्व की ओर उन्मुख करत है तो मुक्ति व माधन बन जाने हैं। कला भी वही श्रष्ट है जो मनुष्य को अपने आप में सामित न रखकर परम तत्व की ओर उन्मुख कर देती है। कला का स्वरूप है आत्मा स्वरूप का साक्षात्कार या परमनत्व की आर उन्मुखीकरण। इस प्रकार हम दगने हैं कि यद्यपि लखन ने प्रायः इस परमनत्व की आर उन्मुखीकरण का विशय उल्लेख नहीं किया है परन्तु सिद्धांततः व भारतीय कला का लक्ष्य अनौकिक रस की प्राप्ति ही मानते है।’

प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद विविध और बहुसंख्यक रह हैं। लखन ने पुस्तक में रईम की दैनिक कृतिया का आभास दिया है जिसमें इन कलाओं के विकास पर आशचय होता है जो उस एशवय युग में बधमान हुई थी। इस प्रकार यह पुस्तक भारत में ऐहिकतामूलक चिन्ताधारा की पण्डभूमि प्रगन करती है।’

## इतिहास लेखक द्विवेदी

### इतिहास लेखन का आदर्श भारतीय और पश्चिम

इतिहास एक तो राजनीतिक और सामाजिक हुआ करता है। उसके लेखन सम्बन्धी आदर्श बदल रहे हैं। पहले राजनीतिक घटनाओं एवं राजाओं के युद्ध विग्रह की प्रमुखता रहा करती थी, पर तु यह पुरानी परिपाटी बहुत कुछ परिवर्तित हो गई है और अब सामाजिक भूमिका पर समस्त राष्ट्रीय जीवन की दिशाओं को आधार बनाकर इतिहासलेखन प्रणाली चल पड़ी है। नवीन इतिहास लेखक राजा या राज्य का नेतृत्व करने वाले लोगों को केन्द्र में न रखकर सामाजिक जीवन की विविध दिशाओं के शक्ति विकास की समस्त रूपरेखा को केन्द्र में रखकर इतिहास लिख रहे हैं। इसी के साथ इतिहास लेखन की ओर भी कई मध्यवर्तिनी दिशाएँ हैं। उदाहरण के लिए किसी एक महान घटना को केन्द्र में रखकर उसका विस्तार से वर्णन करते हुए भी इतिहास लिखा जाता है। जैसे कि फ्रांसीसी राज्यशाक्ति को केन्द्र बनाकर इतिहास लिखे गए हैं। दीर्घकाल तक यूरोपीय देशों को प्रभावित करने वाले घृतानों को केन्द्र में रखकर ऐतिहासिक लेखन और विवेचन किया जाता है।

हमारा प्रयोजन यहाँ साहित्यिक इतिहास लेखन से है। साहित्यिक इतिहास भी हिन्दी साहित्य का एक अंग है। हमारे यहाँ कवि परिचय या कवियुक्त के रूप में इतिहास लेखन का प्रारम्भ हुआ था। इस प्रकार के इतिहासों में हमें सबसे १९४० में लिखा शिवसिंह सेंगर का शिवसिंह सरोज' पहले पहल मिलता है जिसमें कवियों का विवरण और उनके काव्य ग्रन्थों आदि का विवरण दिया गया है। इसी के आधार पर स० १९४६ में सर जाज ए० प्रियसन ने 'माइन्स वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान' लिखा इसमें शिवसिंह सेंगर से यही

एक विशेषता है—कि साहित्य के काल विभाग के साथ समय समय पर उठी हुई एक प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराया गया है। यह सिवसिंह सरोज से अधिक व्यवस्थित और वैज्ञानिक शैली में लिखा गया है। तत्पश्चात् कई अग्रजों ने छोटे मोटे इतिहास ग्रंथ लिखे।

दूगरी कवी मिश्रबन्धुभा द्वारा प्रस्तुत की गई जिसमें इतिहास को युगों में विभाजित कर विभिन्न युगों की साहित्यिक धाराओं को प्रकाश में लाया गया। इसमें साथ ही कवियों के प्रत्येक युग के इतिवत्त भी दिये गये जिसके कारण 'मिश्रबन्धु विनोद भी समग्र या वस्तुमूलक इतिहास की भूमिका पर नहीं पहुँचा। फिर भी इतिहास को इतिवत्तात्मक धाराबद्ध एवं विस्तारपूर्वक लिखने का श्रेय सर्वप्रथम मिश्रबन्धुओं का दिया जाता है।

इतिहास की तीसरी बड़ी वास्तव में गुबलजी ने जोड़ी। उन्होंने विभिन्न युगों की प्रमुख प्रवृत्तियों को आधार बनाकर युगों का नामकरण किया और युग विशेष की प्रवृत्तियों की भूमिका पर ही कवि चर्चा की। इस तरह प्रवृत्तियों एवं कवियों के पारस्परिक सम्बन्ध को अधिक समीप लाने का महत्व गुबलजी को दिया गया है और एक मापरेखा भी बनाई गई जिसमें कि लोकमुखी जीवनधारा का या लोक की प्रतिनिधि विचारधारा या भावधारा का आधार लेकर युगीन प्रवृत्तियों की खोज की गई और उन युगीन प्रवृत्तियों के कवियों का प्रश्नन कराया गया। इस तरह लोकभिमुख साहित्यिक और वारिक प्रतिमानों की भूमिका पर गुबलजी ने इतिहास का निर्माण किया। मिश्रबन्धुओं की अपेक्षा साहित्यिक इतिहास का अधिक प्रशस्त आधार गुबलजी के इतिहास में विद्यमान है। इस तरह लोकजीवन या सामाजिक जीवन की भूमिका पर साहित्यिक प्रवृत्तियों का निरूपण और साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर वैयक्तिक कवियों की काव्य रचनाओं का निरूपण इन तीनों सूत्रों का समाहित स्वरूप गुबलजी के इतिहास में देखा जाता है। इनका समग्र समाहार नहीं हुआ है। कवियों का बड़ी सख्या दी है। उन सबका कतिपय सीमित प्रवृत्तियों के भीतर समावेश करना सम्भव न था। विशेषकर आधुनिक साहित्य में तो कवियों की अधिक सख्या एक ही युग में चलने वाली प्रवृत्तियों का इतना विविध या विगुबलजी को आधुनिक युग को कई उद्यानों में विभाजित करना पड़ा। यह उद्यान शैली उन्होंने अल्प कालों के लिये नहीं बरती। इससे साहित्य इतिहास लेखन की और आधुनिक इतिहास लेखन शैली की कठिनाइयों का परिचय मिलता है।

गुबलजी के बाद डा० श्यामसुन्दरदास का इतिहास आता है जिसमें

कवियों की वैयक्तिक समीक्षा का पक्ष सीमित कर दिया गया है और युगीन काव्य प्रवृत्तियों का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। एक ओर विशपता डा० श्यामसुन्दरदास के इतिहास में यह है कि उन्होंने विभिन्न युगों के काव्य रचना के साथ अत्यन्त ललित कलाओं का इतिवत्त भी दे दिया है। जिससे विभिन्न युगों की कलात्मक अभिव्यक्तियों को एक समाहित पट पर रखकर देखा जा सकता है। डा० श्यामसुन्दरदास के सामने युगजन्म साहित्यिक प्रवृत्तियों के साथ व्यक्तिगत रूप से कविता के काव्य रचना के समाहार का प्रश्न नहीं था, क्योंकि उन्होंने बहुत बड़े कवियों को विचाराय रखा था। उनका इतिहास भी विवरणात्मक इतिहास नहीं है।

इसके परचात द्विवेदी जी का इतिहास आता है। यह आकार में सबसे छोटा है। इसमें विद्यार्थियों की सीमाओं का भी ध्यान रखा गया है जिसके कारण इस इतिहास ग्रन्थ में शोध सम्बन्धी विवचनात्मक पक्ष या निष्ठा त निरूपण सम्बन्धी शास्त्रीय विचार अधिक नहीं आ सके हैं क्योंकि एक विशय प्रयोजन से लिखा हुआ यह एक धारावाहिक इतिहास ग्रन्थ है।

## इतिहास लेखन शैली

इतिहास लेखन की आश प्रणाली क्या हो सकती है इस विषय में हम अग्रणी साहित्य के आधुनिक इतिहास ग्रन्थों पर दृष्टिपात करें। पन्नी बात उनका यही लक्ष्य युगों की कल्पना नहीं की गई जस अदन वहाँ भक्ति युग ३०० वर्षों एक रीतिकाल २०० वर्षों जैसे लक्ष्य अर्थात् युग नहीं रखे गये हैं जिसके कारण युगीन प्रवृत्तियों का एक मोटा परिचय दिया जाता है। बीरगाथाकाल, (आदिकाल) ३०० वर्षों तक बढ़ने वाली धारा का जो सामान्य परिचय है युग के साथ नहीं किसी भी युग की साहित्य की प्रवृत्तियाँ विकसमान हैं तो इतनी समझ नहीं हो सकती। आदिकाल में जैसे बौद्धों का रहस्यवाद अपभ्रंश भाषा में लौकिक काव्य जिसमें बीरगाथा की रचनाएँ, जैनो का धार्मिक सिद्ध साहित्य एक ही युग में समानांतर दिखाई पड़ते हैं। इसलिए युगों की दीघता का निरूपण हिन्दी के इतिहास में चलता आ रहा है वह सदिग्ध उपनम बन गया है। वास्तव में यूरोपीय इतिहास में कोई युग ५०-६० वर्षों से अधिक नहीं होता तब भिन्न भिन्न स्थिति को उपरिष्ठत करन में ज्यादा अवकाश रहता है। नामकरण की समस्या में कठिनाई नहीं होती है। एक ही युग में चलने वाली प्रवृत्ति का स्वतन्त्र रूप से निरूपण कर सकते हैं। यूरोपीय इतिहासकार काव्य शैली एवं काव्यरूपों को दूसरा समाज दते हैं। युग निरूपण के बदि काव्य रूपों को जैसे

प्रथम काव्य, नाट्य साहित्य, गद्य साहित्य को अलग अलग दृष्टते हैं इस तरह विभिन्न साहित्य रूपों का युग आता है उसका युगीन काव्य म किम प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं, प्रवृत्तियाँ म क्या आण है सबका एक चित्र सम्मूत मा जाता है। इतिहास को फलावदार होने व लिये अब हम समय की मात्रा, काव्यरूपों की प्रगल्भता का विवेचन और भिन्न भिन्न काव्य रूपों, काव्यशैली को लेते हैं तब हमारा सीधा सम्बन्ध कवि म हो जाता है। प्रवृत्त कवियों एव प्रगीत कवियों की युग के भीतर परिमित सख्या रहती है। अलग-अलग काव्य एव काव्यरूपों का बटवारा हो जाने पर कवियों की श्रुति को वाच्यपारा क साथ जोड़ने म अधिक सुगमता हो जाती है इस तरह समरसता का इतिहास लिखना सुतम हो जाता है। हिन्दी इतिहास लेखन म अन्तर्निहित एक असामञ्जस्य दिखाई दे रहा है जिसम कवियों की गणना के साथ युग का आकलन जुड़ नहीं पाता इस असामञ्जस्य को दूर करने क लिए हम अग्रजी इतिहासकारों की पद्धतियों स सहायता ले सकते हैं। हम उसका आधार ले लेना चाहिए। इस तरह कहा जा सकता है, प्रथमतः कवि को ही या कवियों क समुदाय को काव्य रूप में ढालकर का प्ररूपों के समुच्चय को समग्र युगीन इकाई म ढालें और तब हम निष्कप के रूप म आदि मध्य युग का सामान्य परिचय दें। यदि हम काव्य रूपों को बता सकें साथ ही कवियों की अपनी अपनी विशेषताओं को दूसरी तरह प्रकाश म ला सकें, तुलनात्मक उदभासित कर सकें तो अधिक ससगत एव साहित्यिक कहा जा सकता है।

## द्विवेदीजी की इतिहास लेखन शैली की विशेषता व आदर्श

‘हिन्दी साहित्य इसका आधार सीमित है और गुवन जी की इतिहास की अपक्षा इसम कवियों की और प्रवृत्तियों की चर्चा संक्षेप म दी गई है।

द्विवेदीजी की इतिहासलेखन की स्वच्छन्दशली है। विद्यार्थियों के लिये गए इस पुस्तक म धारावाहिक शली के प्रवाह को अपनाया गया है। सास्त्रीय विवेचन के शब्द बहुत कम मिलते हैं। सामान्य पाठक को, कलात्मक समीक्षा का ज्यादा प्रयोजन नहीं है एस लागे को दृष्टि म रखकर ही इस पुस्तक को असास्त्रीय बनाने का प्रयत्न किया है। साहित्य विवेचन से सास्त्रीय तत्व में बाधा पड़ती है। पारिभाषिक शब्दों के प्रथम म सास्त्रीयता आती है पर साथ जनिक प्राण्यता नहीं आती। मध्यभाग का अनुसरण कर उर्होंने कोरा साहित्य नहीं पर विशेष रूप स सामान्य पाठक की दृष्टि से इतिहास प्रथम लिखा है। ऐसा करत हुए भी काव्य की अधिकांश बातें, कवियों के सम्बन्ध में

केन्द्रीय विचार को प्रातिन पद्धति से मूल विशेषताओं का उल्लेख करते चले गए हैं।

सबसे बड़ी विशेषता इनकी यह है कि इन्होंने इतिहास लेखन में भी मानवतावादी दृष्टिकोण को सामने रखकर इतिहास लिखा है।

द्विवेदीजी अग्य इतिहास लेखकों से एक कदम आगे बढ़ गये हैं। इतिहासात्मकता को छाँट दिया है, हटा दिया है। कवियों के साथ युगीन प्रवृत्तियों का सामंजस्य ला सकें हैं। लेकिन साथ ही इस इतिहास में समग्रता या लक्षकों या कवियों की सहूलता नहीं मिलती अधिक विस्तृत और बड़ा इतिहास लिखने के लिये यदि यह प्रणाली अपनाई जाय जिस सशुद्ध रूप में द्विवेदी जी ने कार्यनिष्ठ किया है तो हम इतिहास लेखन में अधिक सफलता पा सकेंगे।

अग्य एक और विशेषता ध्यान देने योग्य है। आधुनिक खंड में प्रायः १०० पन्नों के अन्तर्गत संपूर्ण आधुनिक साहित्य का एक धारावाहिक चित्र उपस्थित किया है लोगों को इस पर शिकायत हो सकती है। इसमें बहुत से कवियों का विवेचन नहीं हुआ है। घुने हुए कवियों को विचारामय ले लिया गया है। जितनी धारा को लिया, वही एक उत्पान बनाय उनका स्वरूपगत परिचय व्यवस्थित रूप से आ गया है। इतिहास लेखन की मूल कठिनाई है कि वह धाराओं का उल्लेख करे और दूसरी आर कवियों के वसिष्ठ्य का परिचय दे, इस द्विविधात्मक काय के लिए सबसे अच्छी प्रणाली अपनायी जा सकती थी उसे द्विवेदी जी ने अपनाया है।

विभिन्न युगों का नामकरण विभाजन उन युगों की सामाजिक पृष्ठभूमि और साहित्यिक प्रवृत्तियों की समानता के आधार पर किया है। इसके पश्चात् इन विभिन्न युगों की उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर युगों का नामकरण किया है। इसके पश्चात् इन विभिन्न युगों की उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर मुख्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है और उन प्रवृत्तियों के परिचायक प्रमुख कवियों का समीक्षारमक परिचय दिया गया है। इस प्रकार अखिल की दृष्टि से द्विवेदी का इतिहास अधिक सुसम्बद्ध कहा जा सकता है। घुबल जी द्वारा युगीन प्रवृत्तियों का निरूपण और युगीन कवियों की विवेचना उतनी सबद्ध नहीं है, अलग अलग लिखा जाता है। आधुनिक धारणा के अनुसार इतिहास की सबद्धता के लिए प्रवृत्तियों और कवियों की वाक्य रचना अधिक समीप पहुँचनी चाहिए और दोनों का अन्तर मिट जाना चाहिए। घुबल जी इस अन्तर को इसी तरह न मिटा सके

क्योंकि उनका मिश्रबन्धुओ का इतिवत्तात्मक उपलब्ध था, कवि चर्चा उपलब्ध थी, जिनकी चर्चा अपन डग स करना था। उसके सामने शिवमिहें सेंगर 'सरोज' उपलब्ध था। इनका उपयोग करने के लक्ष्य से गुक्लजी न कवियों का इतिवत्तात्मक परिचय तिथिया और उनके वाक्य, रचनाओं के नाम, विषयवस्तु और उनके विशिष्ट्य का भी विवेचन किया है परन्तु इस वस्तुमूलक विरचन के साथ वे प्रवृत्तिमूलक विवेचन को समाहित नहीं कर सकें। एक आई बनी रही है। द्विवेदीजी का लक्ष्य इतिहास की इतिवत्तात्मकता नहीं था। कतिपय प्रतिनिधि कवियों के नामोल्लेख एवं विवेचन में ही काम चलाया। यथासंभव जीवनी एवं तिथियों से विरक्त रहे हैं। अतएव युगोत्तम प्रवृत्तियों के साथ कवियों लक्षकों का चरित्रचित्रण सतुलन करने में अधिक सफल हुए हैं। इनके समस्त आदिकान की समग्र अधिक विस्तृत रूप में उपस्थित थी। अतएव वे हिन्दी साहित्य के आदि काल को कई शाखाओं एवं प्रशाखाओं में विभक्त कर सके जबकि गुक्लजी ने अपन न काल की स्वतंत्र स्थिति मानकर हिन्दी साहित्य के इतिहास में केवल पूर्वपीठिका के रूप में उन कृतियों को दिया है। अपन न क विकसित रूप में हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक कार्य को समाहित करने में द्विवेदीजी अधिक सफल हुए हैं।

द्विवेदीजी ने इतिहासलेखन शैली में शास्त्रीय पद्धति को अपनाकर सीधे सम्पक की शैली को अपनाया है अपन विचारों को किसी विंग रूप से न लेकर प्रमुख कवियों की के द्वीय आधार को विवेचन बनाकर लिखा है। उनकी इतिहास सम्बन्धी मायता साहित्य के परवर्ती इतिहासकारों अथवा इतिहास शास्त्र के अध्यापकों की मायता से बिल्कुल भिन्न है। इतिहास को वे गडामुदा या विंग तथ्यों का ब्योरा नहीं मानते, बल्कि उसे एक जीवन शक्ति मानते हैं जिसे वे इतिहास विधाता या इतिहास देवता कहते हैं। अतः उनके अनुसार मनुष्य ही इतिहास को नहीं बनाता बल्कि इतिहास ही मनुष्य को बनाता है। इस प्रकार इतिहास सामाजिक जीवनधारा का प्रवाह जो एक ओर व्यक्ति को समाहित में डुबोता रहता है। इस प्रकार इतिहास ने द्विवेदीजी को सांस्कृतिक नरतय का वह अमोघ अस्त्र प्रदान किया है जिसके कारण आदिकालीन और मध्य-कालीन हिन्दी साहित्य में उनका प्रवेश सहज और सुकर हो सका है। इनके दृष्टिकोण की विशिष्टता यह है कि भारतीय साहित्य का इकाई रूप में मान हिन्दी को उसका अग्र माना है। द्विवेदीजी की इतिहासलेखन शैली आधुनिकता को लिए हुए हैं।

### गुक्लजी का आदर्श

गुक्लजी का दृष्टिकोण शास्त्रीय है। साथ ही वे लोकमंगलवादी और

रसवानी आलोचक भी थे। इन दोनों कारणों से साहित्य के प्रति उनकी एक विशेष धारणा थी जिनका आदर्श रूप उन्हें तुलसी में प्राप्त हुआ था। इसी पूर्वाग्रह के साथ उन्होंने प्रत्येक कवि और प्रत्येक युग के साहित्य पर विचार किया है। इतिहास के लिए जो मानदण्ड गुकलजी ने स्थिर किया था उससे द्विवेदीजी का मानदण्ड बिल्कुल भिन्न है। वस्तुतः ये दोनों आचार्य साहित्य को दो शिखाया और दो भिन्न दृष्टियों से देखते हैं। गुकलजी ने अपनी तक शैली की निपुणता विचारों की अविधि और दृढ़ता तथा सूक्ष्म साहित्यिक दृष्टि के बावजूद भी उन तमाम स्रोतों और प्रभावों की उपमा की है जिसका सम्यक उद्घाटन और विवेचन द्विवेदी जी ने किया है। गुकलजी न यदि हिन्दी साहित्य को उसका इतिहास लिया है तो द्विवेदीजी न सचमुच उस साहित्य की भूमिका प्रस्तुत की है और इस तरह उनके अंधूरे काय को पूरा किया है। वस्तुतः ये दोनों व्यक्तित्व एक दूसरे के पूरक हैं प्रतिद्वन्द्वी नहीं।

## युगों के नामकरण का प्रश्न

नामकरण की प्रणाली यूरोपीय साहित्य में भारतीय साहित्य की तरह नहीं है, वहाँ कभी-कभी राजाओं के नाम पर रखे गये हैं। वहाँ के लोगों में कोई एक समरस आधार नहीं है बल्कि सहसा किसी युग की प्रवृत्तियों की जो केन्द्रीय शक्ति है उसके नाम पर साहित्यिक युग का भी नामकरण कर दिया गया है। इसका कारण यह है कि पश्चिमी साहित्यिक प्रवृत्तियों या शैलियों का थोड़े समय में परिवर्तन हुआ है और इतिहास लेखक दशकों भागों में इतिहास को बाँटते हैं। इससे उनकी जागरूकता छोटे छोटे भेदों को पहचानने की शक्ति का परिचय मिलता है। हिन्दी साहित्य में जो तीन या चार भाग रख दिये गये हैं इससे तीन चार भागों के ही नाम याद रखना पड़ता है परन्तु इससे इतिहास की प्रवृत्तियाँ आधरण में डबी रह जाती हैं और साहित्य के इतिहास की सूक्ष्मतरंग विपुलताएँ प्रकाश में नहीं आतीं। इसमें एक और नुकसान हुआ है, वह यह कि बहुत सी प्रवृत्तियाँ जो मूल प्रवृत्तियों से पृथक् हैं, उनका निरूपण छूट जाता है। भक्तिकाल में अकबर के दरबारी कवि भी हुए, जिनमें दरबार की शालीनता है, राजनीति से सम्बन्धित या समाज से सम्बन्धित समस्याओं का समाधान भी है उनका शोधकर्ताओं को तो पान ही जाना है अर्थ को नहीं। इन प्रवृत्तियों को इतिहास के छोटे स्वरूप में परिवर्तित कर चलता कर देते हैं। इसी प्रकार आदिपुग में विद्यापति को रखने का प्रयत्न किया गया है जिसकी स० १००० से १३७५ तक की अवधि है। विद्यापति का काव्य चारणकाल के



काव्य से बहुत भिन्न है। वे पठित कवि थे उन्हें संस्कृत परम्परा और विशेषकर प्रगीत की परम्परा का बोध था उम्हें इस काव्य में ढालने से उनकी विशेष परंपरा का विस्तारपूर्वक परिचय नहीं मिलता। इस तरह के अभावों और अपवातों को दूर करने का प्रयत्न यदि इतिहासकार को करना है तो इतिहास को अधिक भागों में बाँटना पड़ेगा। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं। यह प्रवृत्तियों के निरूपण की प्रणाली भी बहुत समीचीन नहीं है वीरगाथाकाल के काव्य का अन्त १३७५ में ही नहीं हो गया था। वह एक पूर्व निणय से प्रभावित है। प्रवृत्तियों के आधार पर जो साहित्यिक युगों का विभाजन किया गया वह साहित्यिक रचनाओं के अनकविद स्वरूपों को समझने में बाधा डालता है। अनेक धाराओं और विशेषताओं का ज्ञान नहीं होता। प्रवृत्तिमलक विभाजन मोटा विभाजन कहा जायगा।

शीलीगत विभाजन ज्यादा उपयुक्त विभाजन कहा जायगा। भक्तियुग में जहाँ प्रगीत की शैली थी वहाँ प्रबंधों की भी रचना है। उपशासनक रचनाओं की अलग शैली है। दरवारी रचनाओं की अलग शैली है। एक ही युग में जब इतनी शैली मिलती है तो ऐसा विभाजन क्यों न करें कि जिसमें शैलियों के आधार पर उसकी विशेषताओं को सामने लायें। विभिन्न शैलियों और साहित्य रूपों के आधार पर इतिहास का अध्ययन आवश्यक है। ऐसा होने पर एक ओर बड़ी दृष्टि साहित्यिक इतिहास में हो गई है कि कवियों के विभाजन और प्रवृत्तियों की विशेषता का समझन नहीं हो पाता। इसमें इतिहास लेखक दूसरी प्रणाली का उपयोग करते हैं अर्थात् प्रवृत्तियों का व्यापक रूप से वर्णन के साथ विशिष्ट कवियों के विवरण में सामंजस्य नहीं बँठा पाते। प्रवृत्तियों को साधारण और समस्त रूप में रख देते हैं। काव्य को केन्द्र में न रखकर प्रवृत्ति को केन्द्र में रखने की प्रणाली उत्कृष्ट नहीं उसमें प्रवृत्ति और काव्य रचना का सामंजस्य नहीं बन पाता। पहले कवियों का वर्णन, फिर उनकी विभिन्न शैलियाँ फिर शैलियाँ का वर्गीकरण और अन्त में मुख्य प्रवृत्तियों का वर्णन होना चाहिए। ऐसा न होने पर इतिहासकार साहित्यकार साहित्यपर विषयों पर चले जायेंगे और कवियों से समीप नहीं रहेंगे। प्रवृत्ति का वर्णन अतः होने से हम साहित्य का सम्बन्ध रख सकेंगे। साहित्य का इतिहास कवि की इकाइयों पर लिखा जा सकता है युगीन प्रवृत्तियों के आधार पर नहीं। सबसे उत्तम इतिहास वह होगा जिसमें युग की समस्त शैलियों, काव्यरूपों आदि को लेकर सूक्ष्म विभाग करते हुए बहतर भाग करते चलें। इतिहास लेखन की प्रक्रिया और कवि और काव्य पर आधिपत्य होना चाहिए न कि अन्य किसी आधार पर।

रीतिकाल का भी अन्तर्काल आदि नाम देने का प्रधान कारण यह है

कि रीतिकालीन काव्य विशेषताओं के विभिन्न भेदों को लोगो ने ठीक से ग्रहण नहीं किया। इस काव्य में रसवादी, अलंकारवादी और वक्रोक्ति आदि कई प्रकार के कवि हैं लेकिन रीतिकालीन रसयोजना का स्वरूप अलंकार योजना का स्वरूप, वक्रोक्ति का स्वरूप ये सभी एक ही प्रवृत्ति के हैं वह प्रवृत्ति है शास्त्रीय भूमिका पर काव्य रचना की प्रवृत्ति, बाह्य प्रधान काव्य रचना की प्रवृत्ति। थङ्गारकाल के कवियों ने भी श्रम रस को रीतिवद्ध रूप में लिया है। अय का नाम रीति शब्द की व्यापकता, उसमें अलंकार रस आदि के आधारों को ठीक से समझने के कारण ही इतने नाम आए हैं।

क्या वह थङ्गार की रीतिवद्धता नहीं है। रीति की प्रधानता नहीं है? रीति शब्द में य सब छोटे छोटे विभाग समाहित हो जाते हैं। ता रीतिकाल की शाखा के रूप में हम अलंकारिक शास्त्र, रसशास्त्र वक्रोक्ति आदि नाम दे सकते हैं। लेकिन उस काल को य नाम देने से उचित न होगा। इन कारणों से, इस प्रकार यदि रीतिकाल के साहित्य का पहले कवि, फिर काव्यरूप, विषय भेद से अनेक भेद कर उनकी मुख्य विशेषताओं का निरूपण किया जाय फिर समग्र रूप से तो यह काव्य रीति की सीमा के अंतर्गत आता है।

## कालविभाजन और उसके औचित्य पर विचार

नामकरण और कालविभाजन हिंदी साहित्य के इतिहास के विद्यास्पद प्रश्नों में एक प्रमुख प्रश्न है। रीतिकालीन काव्य के काल नाम हिंदी साहित्य के अनुसार थङ्गारकाल, अनंवारकाल या रीतिकाल रखा जाय? यह मूल समस्या ही हिंदी साहित्य के कालविभाजन की समस्या है। अनेक इतिहास लेखकों ने भिन्न भिन्न नामों से भिन्न भिन्न कालों का निर्देश किया है जैसे हिंदी के प्रारम्भिक युग के भी कई नाम लोगो ने सुनाए हैं। आचार्य रामचंद्र गुवल का नामकरण है धीरगायाकाल। कुछ लोग आदिकाल, कृद्य लोग सिद्ध सामंत काल और कुछ लोग अपभ्रंशकाल भी कहते हैं। यहाँ समस्या आती है कि किसी युग का नामकरण करने की कौटुंबिक सत्ता या तत्त्व कौन सा होगा?

नामकरण चूंकि साहित्यिक इतिहास का है इसलिए नाम भी साहित्यिक भूमिका पर होना चाहिए। सिद्ध सामंत युग नाम साहित्यिक नहीं है। सामाजिक भूमिका पर है। इसी तरह आदिकाल शब्द किसी वस्तु विशेष, साहित्यिक प्रवृत्ति विशेष या धारा विशेष का सूचक नहीं कालविशेष का सूचक है तो हिंदी के साहित्य का विभाजन काल के आधार पर हो यह तक सम्मत नहीं है। इस

पक्ष के लोगो का कहना है कि इस युग की समस्त रचनायें उपलब्ध नहीं हो पाती हैं या तब तक नाम भी यही होना चाहिए जब रचनायें अनिणयामक हैं य नाम भी अनिणयामक होता चाहिए परन्तु यह तक उचिन नहीं। क्याकि यह काल अचकार काल तो नहीं था कुछ विशेष प्रकार की रचनायें उस समय हुई थी यह तो प्रमाणित हो जाता है भले ही उनकी सम्पूर्ण प्रामाणिकता पर मन्हे हो। १०० से १३०० तक की प्रधान प्रवृत्तियाँ क्या थी, उस समय की सामाजिक परिस्थिति में किस प्रकार की रचनायें सम्भव रही होगी इसका विचारानुमान हम कर सकते हैं। उस समय की सामाजिक सामयिक भूमि सघप की भूमि थी विदेशी आक्रमणों के विरुद्ध म भारतीय राजाआ महाराजाआ के यद्ध की थी। प्रमुख प्रवृत्ति या धारा निश्चय ही युद्ध से मघटित धारा रही होगी। क्याकि साहित्य सामाजिक भूमिका से असंपक्त नहीं रह सकता।

दूसरी प्रवृत्ति धार्मिक कही जा सकती है। क्योंकि भारत में धर्म का बहुत पुराना इतिहास मिलता है और धर्म के आधार पर प्रत्येक काल में रचना हुई है तो धार्मिक काव्य भी उस युग में बना है। इस समय के साहित्य में जन लोगो का साहित्य है। जनो के कारण प्राकृत और अपभ्रंश में प्रचुर साहित्य निर्माण की परम्परा मिलती है पर यह साहित्य विद्युद्ध साहित्य नहीं साम्प्रदायिक है। अधिकतर उपदेशात्मक है इस धार्मिक साहित्य की दूसरी धारा वह है जिसे हम सिद्ध कविया की धारा कहते हैं य भी मुख्य रूप से अपभ्रंश में रचना कर रहे थे और पुरानी हिन्दी का उस समय आरम्भ नो रहा था। कुछ समय के पश्चात् नायसप्रदाय का अम्युदय हुआ, वे रचनायें भी इसी युग में आनी हैं। हिन्दी के आदिकाल में वीरगाथाकाल जन का य सिद्ध सप्रदाय का काव्य और नायसप्रदाय चार धाराआ का काव्य आता है। इनमें युग की प्रतिनिधि धारा कौन सी थी? माटे तौर पर इन चारों धाराआ के लौकिक जिसमें युद्ध और राजाआ के वणन ही हैं और दूसरे अलौकिक जिनमें सिद्ध सप्रदाय की अध्यात्मिक रहस्यवादी विचार हैं इसे दो भागों में बाट सकते हैं। प्रश्न यह है कि उस युग में जब सारा देश अशांति के बीच गुजर रहा था अतर्देशीय कलह छाया था तो उस समय की रचना क्या पारलौकिक हो सकती है? जो प्रतिनिधि रचना कही जाती है ऐसी रचना से जो पुरानी परम्परा का अनुकरण करती है इनमें जीवनी शक्ति बहुत कुछ क्षीण होती है क्योंकि परम्परापालन की पद्धतियाँ में बहुत कुछ साहित्यिक, युगीन उत्कल्प नहीं आ सकता। इसलिए हम इस निष्कप पर पहुँच सकते हैं कि हिन्दी के आदिकाल की परिस्थितियाँ जिन प्रकार सघपमय अशांति पूर्ण थी उस काल में धार्मिक उत्कल्प सम्भव नहीं था यदि था तो पुराना अनुकरण का और युग की चेतना के अनुरूप भी नहीं था उस समय राष्ट्रीय काव्य की

प्रावश्यकता थी और चारणों का काल राष्ट्रीय कहा जा सकता है यद्यपि उसे 'राष्ट्रीय' संज्ञा अथ म कहा जायगा । इस आधार पर युगीन प्रतिनिधित्व और सामयिकता का निकप लेकर कह सकते हैं कि हम परिणाम म चाहे वीरगाथा की रचनायें कम मिल रहीं हो लेकिन परिवर्ती सम्मिश्रण बड़ी मात्रा म हो गया था । उनकी भाषा चाहे १५वीं शती की हो लेकिन मूल रूप म कतिपय य य चारण कविया द्वारा अवश्य लिखे गये थे और वे ग्रंथ अपनी साहित्यधारा के प्रमुख प्रतिनिधि थे इसलिये शुक्ल जी का निष्पत्त सारपूर्ण है साहित्य इतिहास का प्रतिनिधित्व और युग का प्रतिनिधित्व करने पर ही साहित्य युग का नामकरण किया जा सकता है ।

काल विभाजन व नामकरण क सम्बन्ध म दूसरा विवादपूर्ण प्रश्न रीति काल के सम्बन्ध म है । हिन्दी साहित्य के कुछ विद्वानों ने रीतिकाल को अलकरण काल या अलकत काल, कलाकाल तथा श्रृङ्गार काल के नामों स अभिहित किया है । इन नामों के औचित्य एवं अनौचित्य पर विचार करने के लिए रीतिकाल तक पहुँचते पहुँचते रीति शब्द, अलकार व श्रृङ्गार शब्द के अर्थ क्या हैं और कौन सा नाम सर्वोपयुक्त है और क्यों, समझ लेना आवश्यक है ।

रीति शब्द का अर्थ यहाँ पर रीति संप्रदाय म प्रयुक्त अर्थ नहीं है । वेदार्थी गौड़ो पाचाली आदि रीतिशा से अभिप्राय नहीं है । या एक प्रकार से य रीतियाँ ही नामकरण के मूल म नहीं । हिन्दी म रीति शब्द का अर्थ एक अर्थ प्रकार से होने लगा, वह है काव्य रचना पद्धति तथा उसका निर्देशक शास्त्र । रीतिकाल म इस अर्थ म अर्थ भी बहुत से शब्द प्रयुक्त हुए जैसे कवित्त रीति, कवि रीति, काव्य रीति, छन्द रीति, अलकार रीति, मुक्तक रीति आदि । अत रीतिकाल तक आते आते रीति शब्द का अर्थ रस, अलकार, शब्द शक्ति छन्द, काव्यांगों का निरूपण ही रह गया । हिन्दी म रीति शब्द का एक विशिष्ट अर्थ लगाया गया है । लक्षणों के साथ अथवा अकेले उनके आधार पर लिखा गया काव्य । इसी आधार पर इस काल के कविया को तीन वर्गों म विभाजित किया है । (१) रीतिबद्ध (२) रीतिशिद्ध (३) और रीतिमुक्त ( इस प्रकार रीति परम्परा का प्रभाव प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप म सभी पर है । रीति शब्द का विशिष्ट अर्थ है विशिष्ट पद रचना तथा लक्षण म य । रीतिबद्ध कविया ने अपने लक्षण ग्रंथों म साक्षात् रूप स रीति परम्परा का निर्वाह किया है, रीतिशिद्ध कविया की रचनाओं की पृष्ठभूमि म भी अप्रत्यक्ष रूप से रीति परिपाटी काम कर रही है और रीतिमुक्त कविता म एक प्रकार की कवित्वपूर्ण पद रचना का विशिष्ट पाया जाता है । आचार्य शुक्ल जी का मतव्य था जिसन लक्षण

प्रथम रचा हो केवल वह ही रीति कवि नहीं है बल्कि जिसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण रीतिबद्ध है वह भी रीति कवि है।

श्रृङ्गार शब्द रस विशेष है जो रम्य राज है। श्रृङ्गार का विस्तार कालिदास या लकर ससृष्ट के अनेकानेक काव्यों में है। जयदेव का गीतगावित्त भी श्रृङ्गार प्रधान है। वीरगाथाकाल में श्रृङ्गार की प्रधानता है। मूर में भी श्रृङ्गार की प्रधानता है। एक एक पापक शब्द को जो प्रारम्भ में आज तक कम या अधिक मात्रा में चला आ रहा है किसी युग के नामकरण का आधार कैसे बन सकता है? श्रृङ्गार के उदात्त अनुदात्त, वासनामय, परिप्लुत अनेकानेक भेद हैं जबकि इस तथाकथित काल में एक विशेष ढंग से श्रृङ्गार की रचना हुई है। फिर इसका नाम श्रृङ्गारकाल कहने से अर्थ कालों के विषय में क्या होगा? इसलिये इसे मानने में अत्याप्ति दोष है। अतः हम इस काल को श्रृङ्गार काल तो नहीं कह सकते।

अब विचारणीय प्रश्न यह उठता है कि रीतिकाल को अलङ्कृतकाल या कला काल कहना कहीं तक उपयुक्त है? इन दोनों नामों में विवेच्य काल की सामान्य प्रवृत्ति का बोध नहीं हो पाता है। रीतिकाल की सर्वप्रमुख प्रवृत्ति रीति परम्परा है। उक्त दोनों नामों से उसकी सर्वथा उपेक्षा हो जाती है। फिर यहाँ अलङ्कृत या अलङ्करण शब्दों से क्या समझा जाय? अलङ्कार संप्रदाय वास्तव में एक ऐसा संप्रदाय है जिसमें अलङ्कार को काव्य की आत्मा माना गया है। यदि हम इस काल को अलङ्कार काल कहते हैं तो यह भी सोचना पड़गा कि क्या सभी कवियों की दृष्टि काव्य को अलङ्कार प्रधान मानने की थी। उस समय के रीतिग्रहों के पढ़ने पर यह निश्चित जान पड़ता है कि काव्य की आत्मा रस है या अलङ्कार। यहाँ अलङ्कार का सीमित अर्थ है। व्यापक अर्थ में जितनी उक्ति चमत्कार प्रधान वचिष्य की सृष्टियाँ हैं वे आलङ्कारिक कही जायेगी यह बात उस युग में ही अलङ्कार शब्द की अत्याप्ति रीति शब्द की तुलना में सीमित हो गई रचनायें रीतिबद्ध तो हैं पर अलङ्कार मुक्त नहीं। इस युग के कवियों ने अलङ्कार या चमत्कार को प्रधानता दी है पर यहाँ अलङ्कार तो रीति का एक अंग है अतः यह नाम कहीं तक सगत है यह सोचना होगा बहुत सी ऐसी रचनायें हैं जो रीतिमय तो हैं पर अलङ्कारमय नहीं हैं। यहाँ अलङ्कार रीति के एक अंग के रूप में आता है। दरबारी कविता का काव्य, लौकिक काव्य था इसमें अधिकांश कवि किसी न किसी दरबार के आश्रित थे। दरबारी कविता तो कालिदास और चण्डबरदाई की भी थी। ता दरबारी काव्य का कोई एक निर्धारित स्वरूप नहीं कहा जा सकता। यदि यह स्वीकार कर लिया जाये कि प्रस्तुत काल में अलङ्कारो

का नश्वणोदाहरण रूप में निरूपण हुआ अतः इस अलकृत काल की सजा से अभिहित किया जाय तो भी संगत नहीं क्योंकि अलकारा के साथ साथ काव्य के अथ अगो का भी तो इस काल में निरूपण हुआ। और फिर रीतिकालीन कवि कविता का बाह्य अलकरण में उलथा रहा हो ऐसी धारणा भी नहीं क्योंकि रीतिकालीन साहित्य में उस समय के कवि का भाव प्रवण हृदय के सरस और मनोरम भावस्वरूप भी तो प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। अलकृत काल और शृङ्गारकाल नाम उनकी आन्तरिक प्रवृत्ति का ठीक तरह से प्रतिनिधित्व नहीं करते।

साहित्य के इतिहास का कालविभाजन कृति, कर्ता, पद्धति और विषय की दृष्टि से किया जा सकता है। कभी कभी नामकरण के किसी दृढ़ आधार के उपलब्ध न होने पर उस काल के किसी अत्यन्त प्रभावशाली साहित्यकार के नाम पर ही उस काल का नामकरण कर दिया जाता है जैसे भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग आदि। कभी कभी साहित्य सृजन की शैलियों के आधार पर काल विभाजन कर दिया जाता है जैसे छायावादी युग, प्रगतिवादी युग आदि। पर शुक्ल जी के नामकरण का प्रमुख आधार तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियाँ हैं। शुक्ल जी के काल विभाजन का दो आधार हैं मानव मनोविज्ञान तथा तत्कालीन प्रमुख प्रवृत्ति। रीतिकाल का नामकरण व काल विभाजन में शुक्लजी एवं द्विवेदी जी का मत एक ही है पर आदिकाल के नामकरण में दोनों का मत भिन्न है।

द्विवेदी जी वीरगाथाकाल का आदिकाल नाम देना ज्यादा उचित समझते रहे—यह प्रवृत्तियाँ किसी युग के काव्य में हों तो वे द्रौपदी प्रवृत्ति क्या है, इसका निणय करने के लिए हम प्रयत्न करना चाहिए। मान लिया रहस्यवादी, साहित्य प्रगतिशील, सामाजिक जीवन की अनुरूपता कई परिस्थितियाँ थीं उसका सीधा सम्बन्ध किस काल से है वे द्रवर्ती प्रवृत्ति कौन सी है बहुत सी प्रवृत्तियाँ ऐसी हों या अतीतियों तक चलते चलत निर्जाँव भी हो जाती हैं अच्छे परिमाण निर्णयन न होगा बरिक्त समसामयिक के द्रौपदी युगों सामाजिक प्रवृत्तियों के आधार पर काल युग का नामकरण करना अधिक उचित होगा।

शुक्ल जी के इतिहास से द्विवेदी जी के इतिहास में मतभेद स्थल

प्राचीन साहित्य की विवेचना में शुक्ल जी के इतिहास से भिन्न दो विशेषताएँ द्विवेदी ने दिखाई हैं—वीरगाथाकाल, अपभ्रंशकाल का भेद जसा शुक्ल जी ने किया है द्विवेदीजी ने नहीं माना है। उसका कहना है

हिंदी साहित्य में प्रायः पूरी परम्परायें ज्यों की त्यों सुरक्षित हैं। शायद ही किसी प्राचीन साहित्य में यों सारी की सारी विदापतायें इनकी मात्रा में और इस रूप में सुरक्षित हों। यह सब देखकर यदि हिंदी साहित्य का अपभ्रंश साहित्य से अभिन्न समझा जाता है तो इस अनुचित नहीं कहा जा सकता।<sup>१</sup> इस बात पर विचार करते हुए आगे और भी कहा है कि प्रकृति यही है कि इन सब साम्यों को देखकर यदि हिंदी साहित्य के इतिहास लेखकों ने अपभ्रंश साहित्य का हिंदी साहित्य का मूल रूप समझा तो ठीक किया है।<sup>२</sup> वंशभाषा की रचनाओं को भी आदिकाल के अंतर्गत मानते हैं। आदिकाल के विवेचन से जन तथा जनेतर काय और अय रचनायें तथा राजस्थानी में उपलब्ध नयी खोजों से प्राप्त बहुत सी सामग्री द्विवेदी जी के विवेचन में आयी है वह स्पष्ट है कि शुक्ल जी के सामन नहीं थी। द्विवेदी जी ने उसका भरपूर उपयोग किया है। राहुल जी द्वारा संपादित 'हिंदी काव्य धारा' के सिद्धोक्त पद, कुवलयमाला कथायाम चंद्रधरगुलरी तथा रायबहादुर हीरालाल जी के लेखों के प्रमाण, शिलालेखों के प्रमाण आदि इस समय उपलब्ध संपूर्ण अपभ्रंश साहित्य की चर्चा करके द्विवेदी जी उस काल की सामाजिक धार्मिक तथा राजनतिक तथा अय परिस्थितियों की विशद विवेचना करते हैं। इस तरह द्विवेदी जी अपभ्रंश काव्य परम्परा को परिवर्ती साहित्य से सम्बद्ध करने में एक कदम आगे बढ़े हैं इसके पढ़ने से यह मालूम होता है कि हिंदी साहित्य के प्राचीन परम्पराओं का किस प्रकार पालन किया है

एक विशेषता इनकी यह है अब्दुल रहमान के संदेश रासक का भी उल्लेख किया है 'हिंदी साहित्य में' इसका उल्लेख शायद अय हिंदी इतिहास ग्रंथों में नहीं है। इसी अपभ्रंश के सहारे जन कवियों का भी इसमें कुछ विशेष उल्लेख हुआ है। सबसे बड़ा मतभेद तो नामकरण में ही पाया जाता है। शुक्ल जी नामकरण का प्रमुख आधार तत्कालीन सामाजिक या लोकजीवन की साहित्यिक प्रवृत्तियों को मानते हैं जबकि द्विवेदी जी ने प्रस्तुत काल के साहित्य की अंतर्विरोधों का साहित्य कहा है। उन्होंने किसी एक साहित्यिक प्रवृत्ति के आधार पर इस काल के नामकरण को अनुपपुक्त ठहराया है अतः उन्होंने इस काल को आदिकाल के नाम से पुकारा है।

काल विभाजन में भी किंचित मतभेद का दखन होता है शुक्ल जी जबकि आदिकाल का समय सवत् १०५० से १३५० तक मानते हैं तो द्विवेदी जी

दशवीं शताब्दी से १४ वीं शताब्दी तक मानत है।

शोध के आधार पर द्विवेदी जी ने पञ्चवीं शताब्दी की प्रामाणिक अंगी का पता लगाया है तदनुसार उनका कहना है 'वीर रम की प्रधानता होने के कारण चन्द न छप्पय छंदों का अधिक प्रयोग किया या इस दृष्टि से विचार करने पर रातो के निम्नलिखित प्रसंग प्रामाणिक जान पड़ते हैं। (१) आरम्भिक अक्षर (१) इच्छिनी विवाह (२) शशिप्रता का गंधर्व विवाह (३) तोमर पहार का शहाबुद्दीन का पकड़ना (४) सयोगिता का जन्म विवाह तथा इच्छिनी और सयोगिता की प्रतिद्वन्द्विता और समझौता साथ में इन अर्थों की विशेषता भी बतायी है। पर सुबल जी ने समीक्षात्मक ढंग से इतिहास लिखा है अतः इस कारण पञ्चवीं शताब्दी के प्रामाणिक अप्रामाणिक अक्षर का अलग से निर्देश नहीं किया।

इस आदिकाल का राहुल सास्त्रव्यापन ने सिद्ध सामान्य युग के नाम से अभिहित किया है। प्रो० शिवकुमारशर्मा ने कहा है, उन्हें इस काल के साहित्य में जो प्रमुख प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हुई हैं सिद्धों की वाणी और नामांतों की स्तुति। राहुलजी के इस नामकरण से लौकिक रस के अनुप्राणित अत्यंत महत्वपूर्ण रचनाओं का कुछ भी आभास नहीं मिलता है। इस नामकरण के विवेचकाल के साहित्य की समूची प्रवृत्तियाँ का बोध नहीं हो सकता। सादेश्वरसक, विद्यापति की पदावली, पउमचरित इत्यादि अनेक रचनायें जिनकी प्रवृत्तियाँ का परवर्ती साहित्य में विकास हुआ, उपेक्षित रह जाती हैं। सास्त्रव्यापन जी का यह नामकरण भाषाशास्त्रीय दृष्टि से असंगत है। उस काल का अपमश भाषा का पूर्ण यौवन काल कहा जा सकता है। इसमें हिंदी का कोई निश्चित रूप नहीं मिलता है। राहुल जी के पुरानी हिंदी और अपमश को एक ही कह दिया है जो भ्रांति के विषय और कुछ नहीं।

आदिकाल का प्रकरण में द्विवेदीजी ने एक जगह लिखा है 'वस्तुतः हिंदी का आदिकाल' शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और योना क चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम मनाभावका पक्ष परम्परा विनियुक्त वा-परुद्धियों से अछूते साहित्य का काल है। यह ठीक



नहीं है ।<sup>१</sup> यह काल बहुत अधिक परम्परा प्रेमी, स्त्रियस्त, सजग और सचन कविया का काल है । अतः यह भी कहा है कि प्रति पाठक इस धारणा से सावधान रहें तो यह नाम बुरा नहीं है ।<sup>२</sup> इस पर अपना अभिमत देने हुए प्राध्यापक शिवकुमार वर्मा कहते हैं—द्विवेदीजी के उक्त शब्दों से स्पष्ट है कि आदिकाल नाम भी उस समूह के साहित्य के लिए सर्वथा निर्धारित एवं निश्चित उपयुक्त नहीं है । उनके बुरा नहीं है तथा म अद्ध स्वीकृति ध्वनि होती है ।<sup>३</sup> फिर भी वे अपनी ओर से इस काल को आदिकाल नाम देना ही पसन्द करते हैं कारण वे किसी एक साहित्यिक प्रवृत्ति के आधार पर नामकरण की प्रवृत्ति को अनुपयुक्त समझते हैं । घूम फिर कर हम काल की आदिकाल के नाम से पुकारा है । इसी नाम को मिथवाच्युजी ने प्रतिपादित किया था । डॉ० राजकुमार वर्मा ने वीरगाथाकाल को चारण काल कहा है । यह धारणा सगत नहीं कही जा सकती । तत्त्वानीन साहित्य में चारण प्रवृत्ति आशिक रूप से भल ही हो परन्तु उसकी प्रमुखता नहीं है । जिसमें आधार पर इस युग के साहित्य का नामकरण किया जा सक ।

भक्ति युग की विभिन्न साधनाओं को और दाशनि क आधारों को द्विवेदी जी ने अधिक समर्पित रूप दिया है । जबकि गुबल जी ने अपन इतिहास में सामाजिक ऐतिहासिक धार्मिक और अ य सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों को अपेक्षाकृत कम महत्व तो दिया ही है विभिन्न कालों के साहित्य मूल्यांकन में तटस्थता नहीं बरती है । उदाहरणार्थ भक्तिकाल में उद्दोहन सगुणमाग की रामभक्ति शाखा और निगुणमाग की प्रेमाश्रयी शाखा के विवेचन में जितना रस लिया और उनकी जितनी विगल विवेचना की है उतनी नानाश्रयी शाखा और कृष्ण भक्ति शाखा की नहीं । अपभ्रंश के कवियों के सम्बन्ध में भी उनकी यही धारणा थी । उनके अनुसार निगुण सत और सिद्ध कवि साम्प्रदायिक और धर्मचालित अधिक थे । उनके ही शब्दों में 'सिद्धों और योगियों की रचनायें तान्त्रिक विधान, योग साधना, आत्मनिग्रह श्वासनिराध भीतरी चक्रों और नाडियों की स्थिति, अत्रमुक्त साधना के महत्व इत्यादि की साम्प्रदायिक गिन्यामान है, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतिया और दशाशा से उनका कोई सम्बन्ध नहीं । अतः वे गुद्ध साहित्य के अंतर्गत नहीं आती ।'<sup>४</sup> दूसरी बात है साम्प्रदायिक प्रवृत्ति और उसके संस्कार

१—द्विवेदी साहित्य पृ० ७३ ।

२—वही पृ० ८३ ।

३—द्विवेदी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ पृ० ७ ।

४—द्विवेदी साहित्य का इतिहास पृ० १८-१९ ।

की परम्परा।<sup>१</sup> वे साम्प्रदायिक गिना मात्र हैं उन गुढ़ माहि न की कोटि मे नही आ सकती। उन रचनाओं की परम्परा को हम का न या साहित्य की कोटि धारा नहीं कह सकते।<sup>२</sup>

इस विषय में गुकनजी न मध्यकाल के जित लोचधम की बात कही है वस्तुतः व लोचधम नही, हिन्दू ममात्र क सबण वग के विशिष्ट लोका का धम था। वस्तुतः लोचधम ता उम बिगान जनसमुदाय का वह आचार विचार और विश्वास था जो निश्चिन, जितिन और विनिष्ट हिन्दू जनता के धर्म आचार में बहुत कुछ भिन्न था। अतः अपभ्रंश क सिद्ध कवियों, जैन कवियों और बाद के सन्तों ने जिन धर्म विश्वास की अभिव्यक्ति की है वही सत्कालीन लोचधर्म और लोकविश्वासों का मन्त्रा रूप है। इस दृष्टि में सत्कालीन सभ्यता के स्वरूप, उम काल की सामाजिक धार्मिक परिस्थितियों का पना लगान के लिए निगुण-धारा के कवियों पर विशेष रूप से विचार होना चाहिए था। यह काम द्विवेदी जी न सफलता पूर्वक किया है। जिन कविता का गुकनजी न जनधम के उपदेश विषय या लोचधर्म विरोधी या साम्प्रदायिक या गुक नानापदेश कहा है उन्हीं क सम्बन्ध में द्विवेदी जी कहते हैं—उनमें कई रचनायें ऐसी हैं जो धार्मिक ता हैं किन्तु साहित्यिक सरमता बनाय रखने का पूरा प्रयास है, धम कहा केवल कवि की प्रेरणा दे रहा है। आगे और भी विवेचन करत हुए कहते हैं, इधर कुछ ऐसी मनोभावना लिखाई पडने लगी है कि धार्मिक रचनायें साहित्य में विवेच्य नहीं है। कभी गुकनजी के मन की भी इस मत के समर्थन में उद्वेग किया जाता है। द्विवेदीजी क मतानुसार यह उचित नहीं मालम देती। उनका कहना है धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्य की कोटि में अनग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जान लगा तो तुलसीदास का रामचरितमानस भी साहित्य क्षेत्र में अविवेच्य हा जायगा और जायसी का पद्मावन भी साहित्य मीमा क भीतर नहीं घुस मकेगा।<sup>३</sup> शुक्लजी की समवाद की दृष्टि से ही साहित्य की देखा जायगा ता साहित्य की मीमा प्रहृण सकीण हा जायगी।

गुकनजी के लाजादशकाल को ब्रह्मण विचारधारा अथवा वर्णाश्रम धर्मी विचारधारा का पयाप पाकर द्विवेदीजी एक बहुतरतीक धम की चचा

१—हिन्दू साहित्य का इतिहास पृ० १६।

२—वही पृ० २०।

३—हिन्दू साहित्य का आन्विकाल प० ११।

करने हैं जिसमें आह्वानेतर और किसी अंग तक निम्न समझे जाने वाली जानियों एवं वर्गों की अपनी सस्कृति विचारधारा का व निरूपण करते हैं। इस प्रकार द्विवेदीजी का लोकानुवाद अधिक मानवतावादी ठहरता है, जबकि गुबलजी का लोकानुवाद भारतीय इतिहास की गहरी परम्पराओं के अधिक अनुकूल है। अत्यजो और गिरी हुई जातियों के प्रतिनिधि कवियों का महत्त्व का निरूपण द्विवेदीजी की एक बड़ी विशेषता है। इसका कारण साहित्यिक मानदण्डों को भी उन्हीं नय सिरे से देखना पड़ा है और कला तथा साहित्य सम्बन्धी गिहट मानदण्डों की अपेक्षा जीवन में संपृक्त मानवतावादी मानदण्ड को उन्हीं प्रमुखता दी है।

इस इतिहास की एक अन्य विशेषता यह भी है कि इसका परिपक्व हिन्दी साहित्य तक ही सीमित न रहकर भारतीय साहित्य की समग्र विकास आत्मक भूमियों से संपृक्त है। हिन्दी के युग विंग के कवि किसी एक प्रादेशिक स्तर पर नहीं देखे जा सकते। उनकी सम्यक पीठिका तब तयार होगी जब समस्त भारतीय साहित्यिक विकास की एक शाखा के रूप में हिन्दी साहित्य को देखा जाय। यह दृष्टि भी द्विवेदीजी ने अपने इतिहास में व्यवहृत की है जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी साहित्य के इतिहास के साथ साथ अन्य भारतीय भाषाओं के समान भूमिकाएँ प्रकाश में आने लगती हैं।

गुबलजी के इतिहास में विभिन्न धार्मिक संप्रदायों का उल्लेख तो है परन्तु उन्होंने हिन्दी साहित्य को एक स्वतंत्र इकाई देने का प्रयत्न किया है, इसका कारण इनका इतिहास हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण स्वरूप को अधिक समता के साथ प्रस्तुत करता है परन्तु सावदेशिक दृष्टि का उसमें विंग नही है। गुबलजी की ऐतिहासिक कवि समीक्षा शास्त्रीय प्रतिमानों पर सस्थित है। वे भाषा तथा अभिव्यक्ति सम्बन्धी कलात्मक सौंदर्य और सौष्ठव पर अधिक बल देते हैं। द्विवेदी जी की कवि शास्त्रीय समीक्षा कला पक्ष अपेक्षाकृत कम है परन्तु इसकी पूर्ति उन्होंने भारतीय जनसमाज के उत्थान में इन कवियों के सहयोग का पक्षों का निरूपण करने की है। द्विवेदी जी की साहित्य सम्बन्धी धारणा साहित्यिक और शास्त्रीय पक्षों का अतिव्रमण कर गई है। और वे जनवादी पक्ष को प्रमुखता देने लगे हैं। इस दृष्टि से उनके इतिहास में कलात्मक पक्ष की अपेक्षा सामाजिक पक्ष प्रमुख हो गया है।

प्रेमकथानकों के साहित्य को कालक्रम से स्थान न देकर, महत्त्व क्रम से उन्हें धा और किसी क्रम से, रामकथानक के पश्चात् स्थान दिया है। रीति काव्य के प्रादुर्भाव के कारणों के साथ कृष्ण काव्य को अधिक महत्त्व दिया गया है।

अमीर खुसरो का चलते चलते जरा सा जिज्ञ है। जायसी तीन पृष्ठ में समाप्त और दक्षिण भारत के कई वजही हिंदी उद्ग कविया का उल्लेख भी नहीं है।

शुक्लजी के रीतिकाल के नामकरण में द्विवेदी जी को किसी प्रकार का विरोध नहीं है। रीतिकालीन कवियों की विवचना करते हुए द्विवेदीजी ने अधिक स्वतंत्रता से काम लिया है। उन्होंने एक ही प्रवाह में विहारी दस, मतिराम और पद्माकर जैसे विशिष्ट कवियों को लेकर उनका काव्य की मूलवर्ती विशेषताओं पर लक्ष्य किया है और इस प्रकार प्रकारांतर से तुलना भी उपस्थित कर दी है। विहारी में काव्य कौशल और चमत्कार का पक्ष प्रधान बताकर मतिराम में स्वाभाविक चित्रण के पक्ष का विहारी की अपेक्षा अधिक चर्चित माना है। देव के छंदों के विस्तार को उन्होंने उत्तम काव्य रचना में बाधा स्वरूप स्वीकार किया है। इस प्रकार रीतिकाल के प्रमुख कवियों की केंद्रीय विशेषताओं के निरूपण में द्विवेदीजी दक्षिण हैं। इसमें विभिन्न काव्य शैलियों, और छंद योजनाओं तथा लक्षणग्रथों के निर्माण के सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने विशेष ध्यान नहीं दिया। कुछ थोड़े से कवियों को विचाराय लेने के कारण रीतिकाल सम्बन्धी उनका ऐतिहासिक विवचन मार्मिक तथ्यों की खोज में अधिक सफल हुआ है परन्तु गुप्तजी की समग्रता उनमें नहीं है। शुक्लजी की ही भाँति द्विवेदी जी ने रीतिकाल में रीतिमुक्त कवियों की भी कल्पना की है और उन पर एक अध्याय लिखा है। साहित्यिक इतिहास लेखकों के समस्त रीतिबद्ध और रीतिमुक्त कवियों की विवेचना एक असमाधान का ही विषय रही है। संपूर्ण रीतियुग कला की वृद्धि, खना का, शैली प्रमाण का वक्तव्य और चमत्कार का युग कहा जा सकता है। इस युग में तथाकथित रीतिमुक्त कवियों की खोज करना एक सद हास्य काय है। जहाँकि इस युग की भक्तिपरक रचनाओं में भी एक प्रकार की ऐकानिकता और रीतिप्रवणता आ गई थी तब लौकिक और गार्हिक कवियों में रीतिमुक्त आधारों का दृढ़ता बढ़ा कुछ निष्पन्न प्रयास है। पर द्विवेदीजी ने यहाँ प्रमाणों परीक्षा की ही अनुकरण किया है। इस पर स्वतंत्र विचार देने की स्थिति में वे नहीं पहुँचे।

आधुनिक युग के साहित्यिक विकास को द्विवेदीजी ने उही उत्पानों में विभक्त किया है जिन उत्पानों में शुक्लजी ने किया है। परन्तु सम्मतियाँ इन और विवेचना करते समय द्विवेदीजी ने अधिक खोजना वरती है। रामचंद्र गुप्त के इतिहास में सबसे १९०६ में १९८० तक के कालखंड को ३१६ पृष्ठ

वाराणसी टाउप म लिए गये हैं जबकि द्विवेदीजी का कवित्वास म १९०० से १९५२ ई० तक का आधुनिक काल १४८ पृष्ठा म समाप्त कर दिया गया है। इस इतिहास के वतमान या आधुनिक युग क सम्बन्ध म द्विवेदीजी ने अधिक सतुलन का ध्यान नहीं रखा है। कुछ लेखकों पर लगभग चौड़े लेख दिये हैं और कुछ अथवा का एक एक वाक्य म निपटा लिया है। इसका कारण क्याचित म है कि यह इतिहास ग्रन्थ कुछ जल्दी म तयार किया गया ह और इसम द्विवेदीजी की पुरानी सामग्री (निबन्धा) जादि का उपयोग भी हुआ है।

जब हम आधुनिक युग क भारत-दु का उदय और प्रभाव नामक अध्याय पर दृष्टिपात करें। यद्यपि यह प्रकरण छोटा है फिर भी प्रधान विशय तायें जा इस युग का है आ गई हैं। भारत-दु जी की विशयताआ का वर्णन करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है 'उनका समूचा काय मूर्तिमात्र प्राणधारा का उच्छल वेग है। इस जीवनधारा ने ही उनकी समस्त रचनाओं को उपादेय और नवयुग का माग खालने वाला बना दिया है।' इसका कारण स्पष्ट करते हुए वे बतलाते हैं— 'उनकी यह जीवन धारा अपूर्ण दानशीलता एवं सृजक महान व्यक्तित्व इन तीनों मन्त्रगुणा ने भारते-दु को अपने युग का महान नेता बना दिया। इनकी प्रेरणा से ही हिन्दी जनभाषा बनी। इहाने अपने सहयोगियों को निर्बाध विकसित होने का माग प्रदर्शित किया। राष्ट्रीय भावनाओं से भरे नाटकों की रचना हुई, उन्के विरोध म संघर्ष चला। इस प्रकार यह प्रकरण संक्षेप होत हुए भी भारते-दु युग की प्रवृत्तियाँ रचनाओं शैलियों का ज्ञान कराने म पर्याप्त है।

तत्पश्चात् साहित्य की बहुमुखी उन्नति का काल नामक शीर्षक म द्विवेदी युग पर विचार किया गया है। सभी वर्णन 'गुलजरी क जैसे होते हुए भी एक विशयता उनको अपनी है, वह है 'वगला उपयास' पर विचार। यथायथा रोमांसवाद, प्रकृतिवाद आदि पर भी संक्षेप म प्रकाश डाला गया है। तथा मानवतावादी दृष्टि पर विचार करते हुए कहा है 'प्रेमचन्द सुदर्शन और कौशिक की कहानियों म यह मानवतावादी स्वर मिलता है।' आधुनिक युग म सबप्रथम स्थान द्विवेदीजी ने प्रेमचन्द का दिया है। कारण वे साधारण जनता के लेखक थे और सामान्य जनता के सुख दुःख के सहभागी रहे हैं इसीलिए वे उनको महत्व दते हैं। दूसरी बात वे 'गताश्रित्यो स पददलित अपमानित और निष्पोषित कृषकों की आवाज के पदों में कद पद पद पर ललित और असहाय नारी जाति

की महिमा के जवरदस्त वकील थे, गरीबा और बेवसों के महत्व के प्रचारक थे ।<sup>१</sup>

इसके बाद छायावाद युग आता है जिसमें द्विवेदीजी न प्रधानतः प्राण-वत् कवि प्रसाद, पत, निराला और महादबी वर्मा का प्रमुखता दी है। इन चारों की समानता बनाते हुए कहते हैं 'इन चारों की कविताओं में चित्तगत उमत्तता बतमान है, चारा में वैयक्तिक आवगों की आयासहीन अभिव्यक्ति है, चारा की कविताओं में कल्पना के अविरल प्रवाह से घन सश्लिष्ट आवगों की उमढती हुई भावधारा का प्राबल्य है। चारा ही मन्त छायावादी हैं। फिर भी चारों की प्रकृति में भेद है।'<sup>२</sup>

द्विवेदीजी छायावाद और रहस्यवाद की अलग अलग प्रकृति मानते हैं। उन्होंने रहस्यवाद का छायावाद की शक्तीमात्र नहीं माना है। रहस्यवाद में एक परास्पर असीम के प्रति आस्था का आवश्यक बतलाया है। उन्होंने आधुनिक रहस्यवाद का दो धारों में बँटा दिया है। एक चित्तगत प्रधान जिसका प्रतिनिधित्व प्रसाद करते हैं, और दूसरी भावना और अनुभूतिप्रधान जिसका प्रतिनिधित्व महादबी वर्मा करती हैं। रहस्यवाद में इन्हीं दो कवियों का प्रमुखता दी गई है। छायावाद रहस्यवाद का पथवकरण करने में उन्होंने अधिक विचारपूर्ण टिप्पणियाँ लिखी हैं। गुलजी न आधुनिक वादा की चर्चा में अपनी सहानुभूति नवकवियों का नहीं दी। उनमें स्थल स्थल पर उन्हें उचित वचित्रवाद दिखाई दिया और उनके प्रिय लोकमन की मर्यादा प्रतिष्ठा को उममें ठेस लगती सी जान पड़ी। पर द्विवेदीजी नूतन का स्वागत उदार हृदय से करते हैं।

छायावाद के सम्बन्ध में उनके लेखकों ने अपनी अपनी परिभाषायें दी हैं। उनसे द्विवेदीजी की परिभाषा में क्या भिन्नता है इस पर हम विचार करेंगे।

छायावाद के सम्बन्ध में गुलजी अपना विचार प्रकट करते हुए कहते हैं - 'छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में सम्भूतना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में वहाँ उसका सम्बन्ध काव्य वस्तु से होना है अर्थात् जहाँ कवि उम अनन्त और अज्ञात प्रियतम का आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनक प्रचार से व्यञ्जना करता है। छायावाद का दूसरा प्रयोग काव्य शैली या पद्धति विधि के व्यापक अर्थ में है।'<sup>३</sup>

आचार्य नन्दलाल बाबूपतीजी के अनुसार 'मानव अथवा प्रकृति के

१— हिन्दी साहित्य पृ० ४३५।

२— वही पृ० ४६३।

३— वही पृ० ६१५।

## द्विवेदी जी के इतिहास की उपलब्धियाँ और प्रदेय

इतिहास लेखन कायम द्विवेदीजी न जा शैली अपनायी है वह समग्रता की शैली कही जा सकती है। आचार्य रामचन्द्र गुक्कन की शैली विवरणपूर्ण है और दो भागों में बँटी हुई है। एक भाग में गुक्कन जा पठभूमि और प्रवृत्तियाँ का उल्लेख करते हैं। दूसरे भाग में कवि चर्चा या काय चर्चा करते हैं। द्विवेदीजी न इस द्विविधात्मकता को कम करने का प्रयास किया है, बहुत कुछ सफ़ा भी हुए हैं परन्तु इससे उनका इतिहास में मरिप्नता आ गई है। फिर भी द्विवेदीजी न धारावाहिक रूप का अपनाकर समग्र इतिहास का एक समन्वित रूप देने का प्रयास किया है। उनकी दूसरी विवेचना इतिहास को राष्ट्रीय भूमिका पर रखने का प्रयत्न है। इसलिए द्विवेदीजी अपने इतिहास में साहित्य की ऐतिहासिक परम्पराओं का अधिक विशद रूप में उल्लेख करते हैं। उन्होंने भारतीय साहित्य को इकाई मानकर अपने विवेचन प्रस्तुत किये हैं। गुक्कनजी न हिन्दी साहित्य की इकाई स्वरूप से स्वीकार की है। साहित्यिक परम्पराओं का जैसा स्वरूप एक विस्तृत आधार भूमि रखकर द्विवेदीजी न प्रस्तुत किया है गुक्कनजी में इस प्रकार का आयोजन कम है।

द्विवेदीजी की तीसरी विशेषता साहित्यिक इतिहास और परम्परा के भीतर से विविधकाय रूढ़ि और अभिप्रायों के प्रदर्शन की भी रही है। इसका द्वारा कवियों की मौलिकता और उनकी अनुकरणशीलता का निर्देश अधिक अच्छे ढंग से हो सका है। द्विवेदीजी के मत में हिन्दी का आत्मीय पुरानी परम्पराओं का एक परिणत रूप है। उसमें नवीनता के तत्व अधिक नहीं हैं। इस प्रकार हिन्दी के प्रथम उत्थान काल का परम्परा पोषित बनाकर द्विवेदी जी न इतिहास की नई धारणा प्रस्तुत की है जो साहित्य के विचारियों के लिए नया दृष्टिकोण देती है। द्विवेदीजी न धार्मिक और साम्प्रदायिक ग्रन्थों को ही साहित्यिक विवेचन में सम्मिलित किया है जबकि गुक्कनजी न साहित्य को साम्प्रदायिकता से अलग रखने की चेष्टा की है। उन उभयविध प्रणालियों में कौन सी प्रणाली साहित्यिक इतिहास लेखन के लिए अधिक उपादेय है यह बताना कठिन है। आधुनिक इतिहास लेखन प्रायः साहित्य का धार्मिक और साम्प्रदायिक रूढ़ियों में अलग रखना चाहते हैं परन्तु द्विवेदी जी का इतिहास सामाजिक मास्कुलियर पीठिकाओं को अधिक महत्त्व देना है। अन्यथा केवल साहित्यिक भूमिका पर उमसा मूल्यांकन करना उचित नहीं होगा।

द्विवेदीजी के समस्त इतिहास में उनकी मानवतावादी दृष्टि का विशेष

योग है। वे शास्त्रीय साहित्य की अपेक्षा जनसाहित्य के इतिहास लेखन की ओर अधिक उन्मुख हैं। यह भी एक कारण है कि द्विवेदी जी अपने इतिहास में साहित्यिक विशेषताओं की अपेक्षा जनजीवन की प्रगतिमुखी विशेषताओं पर अधिक ध्यानस्य हैं।

एक नये आदर्श और एक नयी पद्धति का विन्यास की साहित्यिक इतिहास लिखने का द्विवेदीजी का वाय अभिनन्दनीय है। विभिन्न आदर्शों और प्रणालियों से लिखे गये इतिहास की हिन्दी साहित्य की आवश्यकता है। द्विवेदीजी उसकी पूर्ति कर सके हैं।



## आचार्य द्विवेदी

### आचार्य का स्वरूप एव उपकरण

आचार्य शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त होता है। अगर हम व्युत्पत्त्य की दृष्टि से देखें तो आचार्य शब्द का अर्थ आचरणीय होता है अर्थात् जिसका कार्य अनुकरणीय हो। अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि हम किसका अनुकरण करें—महान पुरुष जो कथनीय करणीय में एक हो नतक दृष्टि से साधारण जनता की दृष्टि में बहुत उच्च स्थान रखते हों, शांत, उदार सहिष्णु हों, सत्य की मूर्ति हों अर्थात् जिनकी एक झलक पाने से ही अमिट चिह्न दशनों पर पड़ता हो ऐसे चरित्रवान् नतक गुणों से सहित महापुरुष आचार्य कहलाते हैं। प्राचीनकाल में ऐसे गुणों से परिपूर्ण त्यागी महात्माओं को ही यह आचार्य पद दिया जाता था। उदाहरणार्थ मुनिराज भी एक आचार्यदेव होते थे, जिनका आश रूप होता था, उनके अनुरूप अन्य शिष्यगणों को चलना पड़ता था तथा इन मुनियों के आचरण, आहार तप आदि में प्रमाद व गल्ती होने पर वे आचार्य द्वारा दंडित किये जाते थे। इस प्रकार प्राचीन समय से आज तक इस शब्द का एक गहन अर्थ होता आया है। और आज तक भी यह शब्द अपने में सारपूर्ण है। यह तो हुआ चरित्रपक्ष की दृष्टि से।

अगर हम पांडित्यपक्ष की दृष्टि से विचार करें तो इस शब्द का प्रयोग विद्या के क्षेत्र में भी होने लगा है, होता रहा है और अब भी हो रहा है। विद्या के क्षेत्र में हम उन्हीं को आचार्यत्व की पदवी से विभूषित कर सकते हैं जो सभी विषयों का ज्ञान रखते हों उनके विचार मौलिक हों, उसमें समग्रता हो, नयी शिखाओं को साधन बनाने की प्रवृत्ति हो, नये आदर्श की रचना में तत्परता हो,

अपने ज्ञान के भण्डार से दूसरों को प्रभावित कर सकें और अपने भाग में निर्भीक हो, आगे बढ़ने में समय हों, अपने विचारों में दृढ़ हों, अधिक से अधिक अपने मौलिक विचारों और भावों आदर्शों द्वारा दूसरों को प्रभावित कर सकें, ऐसे पुण्या का ही आचार्य की पदवी प्रदान की जाती थी। यह दाना दृष्टि सैद्धांतिक भूमिका पर आ जाती है जिससे आचार्यत्व का निदर्शन कराया जाता है।

इस शब्द को अगर हम व्यक्तित्व पक्ष की दृष्टि में देखें तो आकष्य व्यक्तित्व रखनेवाला होना चाहिए। वह सहज ही दूसरों को अपने पांडित्य एवं शांत मुद्रा आदि अथवा गुणों से आकृष्ट करे, प्रभावशाली मुद्रा हो जो एक ही दृष्टि में दशक को प्रभावित करे, गंभीर वक्तृता, धोलने मात्र से उनके पांडित्य की झलक दिखाई पड़े, सघटन की शक्ति हो जो आजकल जनतंत्र की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व रखती है, जिस गुण के बिना मनुष्य एकांगी रह जाता है, अनर सामाजिक गुणों को सीखने से भी वंचित रह जाता है। ऐसे सघटन शक्ति का संचालन करनेवाला हो, इस शक्ति के साथ वह अपने व्यक्तित्व के द्वारा अपने युग पर प्रभाव डालने की क्षमता रखता हो। जैसे गांधी जी, उनमें दूसरों को प्रभावित करने की अपूर्व शक्ति थी, उनमें वह आत्मबल एवं विश्वास था जिससे इतने बड़े देश को गुलामी से मुक्त कर सका। ब्रह्म बड़ा सघटन था जिससे उनकी हर पल, हरक्षण सहायता मिलने की पूर्ण आशा थी और उ होना अपने युग को अपने सिद्धांतों जैसे अहिंसा, सत्य आदि से प्रभावित तो किया ही साथ ही अपने व्यक्तित्व से भी कुछ कम प्रभावित नहीं किया। सीधे सादे चरित्रों कातने वाले सिद्धांत से कितने लोगों का जीवन नये साँचे में ढाल दिया होगा, कितने लोगों का जीवनोद्धार किया होगा। इस प्रकार व्यक्तित्व पक्ष प्रबल होने पर भी आचार्यत्व की पदवी दी जाती है। यह पक्ष सामाजिक पक्ष कहला सकता है।

उपयुक्त पक्षों के अतिरिक्त और भी एक पक्ष है—जो नेतृत्व का पक्ष है जो साहित्य के अत्यंत नेतृत्व की क्षमता रखता हो। इसमें एक ओर सघटन शक्ति की आवश्यकता है तो दूसरी ओर सुमन आदर्शों के समाहार का साथ ही साथ नयी दिशाएँ देने की योग्यता रखता हो। नेतृत्व का पक्ष प्रबल हो जाता है—इन सब पक्षों के कारण आचार्यत्व की पदवी किसी भी व्यक्ति विशेष को दी जाती है जो इनका अधिकारी एवं सुयोग्य हो। यह आवश्यक नहीं है कि उपयुक्त सभी पक्ष जब किसी व्यक्ति में पाए जायें सभी आचार्य पदवी दी जाती हो, कभी कभी किसी एक पक्ष की प्रधानता हान पर भी इस पदवी का अधिकारी हो सकता

हैं। पर समग्र विवेकताओं का संयोजन एवं समाहार किसी एक ही व्यक्ति में हो तो वह श्लाघनीय है — सभी में सब गुणों का होना संभव नहीं अतः कोई व्यक्ति चरित्र का नतत्व करता हो, या केवल पांडित्य का नतत्व करता हो, इससे जो व्यक्तित्व बनता है उससे भी आचार्यत्व की पदवी से विभूषित किया जा सकता है।

## आचार्यत्व की प्राचीन परम्परा

यह आचार्य परम्परा आज की नहीं अपितु शंकराचार्य से अविरल रूप धारण कर किसी न किसी रूप में परम्परा को अविच्छिन्न रूप में ला रही है। इस परम्परा का अभ्युदय दशम के श्रेष्ठ से माना जाता है और प्रमुख दार्शनिक शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, बल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य से अपने अपने सिद्धांतों में पारगत एवं नयी दिशा प्रवृत्तन के कारण आचार्य कहलाए। इसीलिए इतिहास में आचार्य के नाम से प्रतिष्ठित हुए। इनमें से प्रत्येक न नये दर्शन की उदभावनता की। जगत्प्रसिद्ध स्वामी शंकराचार्य ने निगुण को ही ब्रह्म का परमार्थिक या असली रूप कहा था और सगुण को 'यावहारिक या मायिक अर्थात् उ होने अद्वैतवाद का निरूपण किया था। रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार यह बतलाया कि चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म के ही अंग जगत के सारे प्राणी हैं जो उसी से उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन होते हैं। अतः इन जीवों के लिए उद्धार का माग यही, कि वे भक्तिद्वारा उस अंगी का समीप्य लाभ करने का यत्न करें। बल्लभाचार्यजी ने सारी सृष्टि को लीला के लिए ब्रह्म की आत्मकति कहा, अर्थात् शंकराचार्य के सिद्धांत को बदल कर सगुण रूप को बदल कर सगुण रूप को असली परमार्थिक रूप बताया और निगुण को उसका अशत तिरोहित रूप कहा। उ होने पुष्टिमाग का प्रवृत्तन किया और निम्बार्काचार्य के निम्बार्कमत की प्रतिष्ठा की इस प्रकार इनमें से प्रत्येक नये दर्शन की प्रतिष्ठा की ओर अपने पीठ या सम्प्रदाय स्थापित किये और खडनमडन द्वारा अपनी सर्वोपरि योग्यता को सिद्ध किया। इसीलिए ये लोग आचार्य कहलाए। ये प्राचीन आचार्यों की श्रृंखला है।

आधुनिक युग में महात्मा गांधीजी ने स्वराज्य आन्दोलन के अवसर पर आचार्य नरेन्द्रदेव, आचार्य कपलानी आदि की शिक्षा के श्रेष्ठ में महान् काय करने के लिए प्रेरित किया और उपयुक्त लोगों ने इतने सु-यवस्थित एवं सुनियमित रूप से काम किया इसी कारण इन लोगों को आचार्यत्व की पदवी प्रदान की गई थी। इ होने भारतवर्ष में काशी विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ आदि के निर्माण और संचालन काय में कुशलता का परिचय दिया, अध्ययन और अध्यापन

के क्षेत्र में जिन आदर्शों का निर्माण किया वे आगे चल कर बड़े उपयोगी सिद्ध हुए। इन्हीं आदर्शों, लक्ष्यों एवं कृशन्ता आदि के निर्माण एवं प्रदर्शन के कारण वे आचार्य पद पर आसीन कराए गए।

यों कालेज अध्यापक लाग भी आचार्य कहलाते हैं पर वह सीमित अर्थ में है। पर इस आचार्यत्व में राष्ट्रीय स्वीकृति हानी चाहिए, देश राष्ट्र और समग्र समाज में उनका व्यक्तित्व स्वीकृत हो जाय और उनके कार्य की सराहना मुक्तकंठ से की जाय तो उस आचार्यत्व पर 'सीन' लग जाती है अर्थात् उनमें परिनिष्ठता आ जाती है। साहित्यिक क्षेत्र में नवीन वस्तु की प्रतिष्ठा करने के लिए भी आचार्यत्व की स्वीकृति दी जाती है।

## आधुनिक हिन्दी साहित्य में आचार्यत्व की परम्परा आचार्यत्व के उपकरण

आधुनिक हिन्दी साहित्य में सबसे पहले आचार्य शब्द का प्रयोग पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के लिए किया गया था। जिनका नाम पर युग का नाम द्विवेदी युग रखा गया। युग का नामकरण का पक्ष नेतृत्व के पक्ष से प्रधान हो जाता है। गांधी युग में गांधी की ही प्रधानता है। नेतृत्व का गुण किन आधारों पर विकसित होता है उसे कन्द्रीय बिन्दु बना हम आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को सिलसिले में युगीन नेतृत्व के आधार बना हैं, इस पर विचार करेंगे।

इसमें पहला कार्य उन्होंने प्रतिनिधि पत्रिका 'सरस्वती' का सम्पादन किया था जो आरम्भ से ही विविध विषयों की पत्रिका थी और निकलते ही वह लोकप्रिय पत्रिका बन गयी। द्विवेदीजी जब उसके सम्पादक हुए तब उन्होंने समाज की बहुमुखी आकाशाओं के अनुरूप विविध विषयों के विभिन्न लेखक तैयार किये। उन्हें हिन्दी में लिखन की प्रेरणा दी। उनकी हिन्दी का सुधार सवार कर प्रकाशित किया। आज उनमें से कतिपय लेखक इन प्रान्तों के प्रसिद्ध पंडित, अध्यापक और विचारकर्ता माने जाते हैं। द्विवेदीजी के सरस्वती छापन पर बहुत से लेखकों ने हिन्दी में लिखना बंद कर दिया उनका ऐसा पारम्परिक सम्बन्ध था। तीसरी चीज विविधता है अर्थात् युग के प्रतिनिधि हान के लिए विभिन्न रुचियों एवं प्रयत्नों के समाधान की आवश्यकता पड़ती है, नेतृत्व का यह पक्ष महावीर प्रसाद द्विवेदीजी की बहुश्रुता में देखा जाता है। वे अपने अल्प वसाय के द्वारा विविध सामग्रियों का समीकरण कर सके थे। उनमें सबसे बड़ा गुण संगठन शक्ति का था। इसी संगठन शक्ति के द्वारा वे हिन्दी साहित्य को

एक नयी दिशा प्रदान कर सके थे। उनका अध्ययन क्षत्र बहुत विस्तृत था। उन्होंने सस्कृत साहित्य, प्राचीन अनुसंधान, इतिहास, जीवन चरित्र, यात्राविवरण नवीन अभ्युद्यान का परिचय, हिंदी का प्रचार आदि विषयों से सरस्वती को विभूषित किया। प्रचलित साहित्य और सामयिक पुस्तकों पर भी टिप्पणियाँ रहीं थी। इस प्रकार सरस्वती अपने समय की हिंदी जनता की विद्या बुद्धि को मापरेखा थी और वह अपने देश की अग्र भाषाओं की पत्रिकाओं से हीन नहीं थी। परिचयात्मक सामग्री देने में तो द्विवेदी जी की वृत्तता अद्वितीय थी। वह उनसे उत्कृष्ट अध्ययन और चयन शक्ति का ध्यान करना है। वे मराठी, गुजराती, उर्दू बंगला और अंग्रेजी पत्रों की उल्लेखनाय टिप्पणियाँ सरस्वती में उद्धृत करते थे। इस तरह द्विवेदीजी न अनेक वर्षों तक सरस्वती की सेवा करते हुए हिंदी के बहुजन समाज का साहित्यिक अनुशासन किया बहुत दिनों से वह हिंदी के प्रमुख आचार्य मान जाते हैं। इसके अतिरिक्त काशी नागरी प्रचारिणी सभा को द्विवेदी जी का बहुमूल्य सहयोग भाति भाति से प्राप्त हुआ है। सभा को अपने विद्या धर्म और काय की सहायता देने के अतिरिक्त उन्होंने उसे अपनी कठिन कमाई की जमूल्य संपत्ति सहस्रो पुस्तकों और 'द्विवेदी पदम' की निधि के रूप में प्रदान की है। इसके अतिरिक्त कवियों के वर्गों का मार्गदर्शन कराने की क्षमता द्विवेदीजी में थी। मैथिलीशरण गुप्तसे लेकर कामताप्रसाद गुप्त राम चरित उपाध्याय आदि के रचनाओं के विषय बनाना रचनाओं को सुधारना, उनकी भाषा को ठीक करना, उनके साहित्य के नेतृत्व का अर्थ पहलू है। और स्वयं युगीन भाषा या गद्य की शैली का निर्माण करने में द्विवेदीजी का प्रमुख स्थान रहा है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का गद्य उस युग के अग्र गद्य लेखकों से कहीं अधिक व्यवस्थित सज्ज और प्रभावशाली है। इन रचनाओं से महावीरप्रसाद द्विवेदी जी का काय उनके नेतृत्व का आधार बना रहा है इसीलिए उनकी आचार्य सत्ता मूलतः युगीन नेतृत्व पर अवलम्बित है।

इसके पश्चात् गुवलजी का आचार्यत्व विशुद्ध रूप से उनके शास्त्रीय ज्ञान पर आधारित है। स्वयं गुवलजी न किसी पत्र पत्रिका का संपादन नहीं किया, नेतृत्व करने की स्थिति न थी। वे एक पंडित के रूप में, शास्त्रज्ञ के रूप में हमारे सामने आते हैं। एक शास्त्रीय समीक्षा के प्रवर्तन के रूप में उनका आचार्यत्व स्वीकृत है यह दूसरे प्रकार का आचार्यत्व है।

आचार्य नन्दुनारे वाजपेई जी के ज्ञानों में जिस नीतिवाद, व्यवहारवाद अथवा आदर्शात्मक बुद्धिवाद का द्विवेदी युग प्रतीक है उसे पराकाष्ठा पर

## आचार्य द्विवेदी

पहुँचा देने का श्रेय युवज्जी को प्राप्त है। युवज्जी ने अपनी साहित्यिक आलोचनाओं में तो उन्हें अपनाया ही, साथ ही साथ उनके लिए एक दार्शनिक नींव भी तैयार की जिसमें हिंदी में नये युग का प्रवेश हुआ।<sup>१</sup>

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिंदी आलोचना के लिये युगप्रवर्तक काय कर गये हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय तक हिंदी आलोचना नये रूप में अवतरित नहीं हुई थी, लक्षण ग्रंथों में रसो, अलंकारों, नायको और विशेष कर नायि काओं को सूची मात्र बनी हुई थी। आलोचना के जो प्रधानसूत्र हैं लक्षण ग्रंथों में उनका अभाव था। हरिश्चन्द्र के पूर्व साहित्य एवं लक्षण ग्रंथ दोनों सस्कारहीन परम्पराबद्ध और अन्तर्दृष्टि रहित हो रहे थे। यद्यपि उस समय तक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा एवं आचार्य श्यामसुंदरदास जी जैसे आलोचकों एवं विद्वानों का प्रभाव हिंदी साहित्य पर पड़ा। हिंदी आलोचना की इसी आरम्भिक किन्तु नवचेतन अवस्था में प० रामचन्द्र शुक्ल का आगमन हुआ। उन्होंने रस और अलंकार में नवीन मनोवैज्ञानिक दृष्टि दी और उन्हें ऊँची मानसिक भूमिका पर ला विठाया और इस प्रकार रस और अलंकार को हिंदी समीक्षा से बहिष्कृत होना स बचाया। यही नहीं उन्होंने इस सचे के लिए यह दावा भी किया कि भविष्य की साहित्य समीक्षा का निर्माण इसी के आधार पर होना चाहिए। इस प्रकार वह कर युवज्जी ने अपने दृढ़ आत्मविश्वास और समत विवेक का परिचय दिया।

जहाँ तक व्यावहारिक आलोचना का प्रश्न है उन्होंने तुलसी और जायसी अथ उच्चतर कवियों को चुना और ऊँचे वाक्य सौंदर्य के साथ रस और अलंकार का विकास करके रमणदृष्टि को अपूर्व गौरव प्रदान किया और साथ ही उन्होंने वाक्य की स्थापना ऐसी ऊँची मानसिक संवेदना के स्तर पर की कि लोग भ्रून गए कि रसा और अलंकार का दुष्प्रयोग भी हो सकता है। वे स्वतः तुलसी, मूर और जायसी जैसे कवियों की ही प्रयोगात्मक समीक्षा में प्रवृत्त हुए, जिससे उनकी आलोचना के पैमाने आप ही आप स्थानित होना से बचे रहे।<sup>१</sup> युवज्जी ने रम मीमांसा नामक ग्रंथ में भारतीय साहित्य सिद्धांतों का नवीन वेगमूला देकर प्रस्तुत किया है। उनके समय मीमांसा काय में उनकी मौनिक और निजी दृष्टि का भी योग है।

१—हिंदी साहित्य की गवर्नी शताब्दी पृ० ७१।

२—वही पृ० ५६।

३—वही पृ० ५६।

एक नयी दिशा प्रदान कर सके थे। उनका अध्ययन क्षेत्र बहुत विस्तृत था। उन्होंने संस्कृत साहित्य, प्राचीन अनुसंधान, इतिहास, जीवन चरित्र, यात्राविवरण नवीन अभ्युद्यान का परिचय हिंदी का प्रचार आदि विषयों में सरस्वती को विभूषित किया। प्रचलित साहित्य और सामयिक पुस्तकों पर भी टिप्पणियाँ रहती थीं। इस प्रकार सरस्वती अपने समय की हिंदी जनता की विद्या बुद्धि की मापरेखा थी और वह अपने देश की अग्र भाषाओं की पत्रिकाओं में ही नहीं थी। परिचयात्मक सामग्री देने में तो द्विवेदी जी की कुशलता अद्वितीय थी। वह उनके उत्कृष्ट अध्ययन और चयन शक्ति का चोखन करना है। वे मराठी, गुजराती, उर्दू बंगला और अंग्रेजी पत्रों की उल्लेखनाय टिप्पणियाँ सरस्वती में उद्धृत करते थे। इस तरह द्विवेदीजी न अनेक वर्षों तक सरस्वती की सेवा करते हुए हिंदी के बहुजन समाज का साहित्यिक अनुशासन किया बहुत दिनों से वे हिंदी के प्रमुख आचार्य मान जाते हैं। इसके अतिरिक्त काशी नागरी प्रचारिणी सभा की द्विवेदी जी का बहुमूल्य सहयोग भाति भाति से प्राप्त हुआ है। सभा को अपने विद्या बभ्रव और काय की सहायता देने के अतिरिक्त उन्होंने उसे अपनी कठिन कमाई की अमूल्य संपत्ति सहस्रो पुस्तकें और द्विवेदी पदम' की निधि के रूप में प्रदान की है। इसके अतिरिक्त कवियों के वर्गों का मागदर्शन कराने की क्षमता द्विवेदीजी में थी। मयिलीशरण गुप्तसे लेकर कामनाप्रसाद गुरू राम चरित उपाध्याय आदि के रचनाओं के विषय बताना रचनाओं को सुधारना, उनकी भाषा को ठीक करना, उनके साहित्य के नेतृत्व का अर्थ पहलू है। और स्वतः युगीन भाषा या गद्य की शैली का निर्माण करने में द्विवेदीजी का प्रमुख स्थान रहा है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का गद्य उस युग के अग्र गद्य लेखकों से कहीं अधिक अवस्थित संपन्न और प्रभावशाली है। इन दिशाओं में महावीरप्रसाद द्विवेदी जी का काय उनके नेतृत्व का आधार बना रहा है इसीलिए उनकी आचार्य सजा मूलतः युगीन नेतृत्व पर अवलम्बित है।

इसके पश्चात् गुलजी का आचार्यत्व विगुद्ध रूप से उनके शास्त्रीय ज्ञान पर आधारित है। स्वयं गुलजी ने किसी पत्र पत्रिका का संपादन नहीं किया नेतृत्व करने की स्थिति नहीं थी। वे एक पंडित के रूप में, शास्त्रज्ञ के रूप में हमारे सामने आते हैं। एक शास्त्रीय समीक्षा के प्रवक्तृ के रूप में उनका आचार्यत्व स्वीकृत है यह दूसरे प्रकार का आचार्यत्व है।

आचार्य न दुलारे वाजपेई जी के ज्ञान में जिस नीतिवाद, व्यवहारवाद अथवा आदर्शात्मक बुद्धिवाद का द्विवेदी युग प्रतीक है उसे पराक्रान्ता पर

पहुँचा देने का श्रेय शुक्लजी को प्राप्त है। शुक्लजी ने अपनी साहित्यिक आलोचनाओं में तो उन्हें अपनाया ही, साथ ही साथ उनके लिए एक दार्शनिक नींव भी तैयार की जिसमें हिन्दी में नये युग का प्रवेश हुआ।<sup>१</sup>

आचार्य रामचन्द्र गुप्त हिन्दी आलोचना के लिये युगप्रवर्तक कार्य कर गये हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय तक हिन्दी आलोचना नये रूप में अवतरित नहीं हुई थी, लक्षण ग्रंथों में रमों, अलंकारों, नायका और विशेष कर नायिकाओं की सूची मात्र धनी हुई थी। आलोचना के जो प्रधानसूत्र हैं लक्षण ग्रंथों में उनका अभाव था। हरिश्चन्द्र के पूर्व साहित्य एवं लक्षण ग्रंथ दोनों सस्कारहीन परम्पराबद्ध और अतद्दृष्टि रहित हो रहे थे। यद्यपि उस समय तक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, पदमसिंह वर्मा एवं आचार्य श्यामसुन्दरदास जी जैसे आलोचकों एवं विद्वानों का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पड़ा। हिन्दी आलोचना की इसी आरम्भिक किन्तु नवचेतन अवस्था में प० रामचन्द्र गुप्त का आगमन हुआ। उन्होंने रस और अलंकार में नवीन मनोवैज्ञानिक दीप्ति दी और उन्हें ऊँची मानसिक भूमिका पर ला जिठाया और इस प्रकार रस और अलंकार को हिन्दी समीक्षा में बहिष्कृत होने से बचाया। यही नहीं उन्होंने इस सचे के लिए यह दावा भी किया कि भविष्य की साहित्य समीक्षा का निमाण इसी के आधार पर होना चाहिए। इस प्रकार कह कर शुक्लजी ने अपने दृढ़ आत्मविश्वास और सतत विवेक का परिचय दिया।

जहाँ तक व्यावहारिक आलोचना का प्रश्न है उन्होंने तुलसी और जायसी अथ उच्चतर कवियों को चुना और ऊँचे काव्य सौन्दर्य के साथ रस और अलंकार का विनाश करने रसपद्धति को अपूर्व गौरव प्रदान किया और साथ ही उन्होंने काव्य की स्थापना ऐसी ऊँची मानसिक संवेदना के स्तर पर की कि लोग भूत गए कि रसों और अलंकारों का दुरुपयोग भी हो सकता है।<sup>२</sup> वे स्वतः तुलसी, मूर और जायसी जैसे कवियों की ही प्रयोगात्मक समीक्षा में प्रवृत्त हुए जिसमें उनकी आलोचना के पैमाने आप ही आप स्थलित होने से बचे रहें।<sup>३</sup> शुक्लजी ने रस मीमांसा नामक ग्रंथ में भारतीय साहित्य सिद्धांतों का नवीन वैशम्यपूर्ण देकर प्रस्तुत किया है। उनके समग्र समीक्षा कार्य में उनकी मौनिक और निजी दृष्टि का भी योग है।

१—हिन्दी साहित्य योगवी चराम्नी प० ७१।

२—वही पृ० ५६।

३—वही प० ५६।



शुक्लजी की प्रथम प्रौढ़ आलोचनात्मक कृत 'गोस्वामी तुलसीदास' है। इसी से सबप्रथम शुक्लजी के पांडित्य का परिचय हिन्दी जगत को मिला। गुप्तजी लोकमगलवाणी आलोचक थे। अब तुलसीदास की कृतियों के सम्यक् अध्ययन के पश्चात् उनके लोकधर्म के स्वरूप को निरूपित किया है। शुक्लजी की आलोचना का मूल्यवान् अर्थ भावनिरूपण है। अब उन्होंने अपनी सूक्ष्म दृष्टि में मानस के भावपूर्ण एवं ममस्थला को परखा और चुना और अपने काव्य में उनकी मनोवैज्ञानिक ढंग से व्याख्या की। शुक्लजी के पूर्व समीक्षक मानस में पात्रों की प्रशंसा ही कर सके पर पात्रों के व्यक्तित्व का निरूपण नहीं कर सके। गुप्तजी ने इस कार्य को प्रथम बार कर दिखाया।

सूर साहित्य की आलोचना जमे गुप्तजी करना चाहते थे वसा न कर सके। प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा है कि व संपूर्ण सूरसागर की वसी ही आलोचना लिखना चाहते थे जमे जायसी के काव्य की ओर इसके लिए 'सूरसागर' के अनेक पन्ना पर विचार विमर्श के लिए टिप्पणियाँ भी जोड़ दी थी परन्तु वे अपने जीवन में उसे व्यवस्थित रूप न दे सके। फिर भी गुप्तजी की उसमें अपनी विशेषता है। जमे तुलसीदास में लोकमगल एवं लोक कल्याण के भाव दिखाई पड़े वसा सूर में वे न पा सके। यही कारण है कि सूर की विशेषताओं को निष्पक्ष होकर वे उमी प्रकार प्रशंसा न कर सके जिस प्रकार तुलसी की। सूर की आलोचना के रूप में हम 'भ्रमरगीतसार की भूमिका ही मिलती है उस प्रसंग में से ही उन्होंने सपाण विद्यावाक्य के उदाहरण भी दिए हैं। दूसरी बात है सूर के काव्य में आद्यत प्रेम के एक ही चीज का वर्णन मिलता है जबकि तुलसी में लोकमगल की भावना आद्यत मिलती है। उन्होंने सूर साहित्य को लोकमगल की सिद्धावस्था का निरूपक बतलाया है इसलिए उसका मूल प्रेरक भाव कल्याण न होकर प्रेम है। वे मानते हैं 'लोक सधप से उत्पन्न विविध व्यापारों की योजना सूर का उद्देश्य नहीं है इसीलिए जीवन की समस्याओं का उल्लेख सूर साहित्य में नहीं है।

उनकी तीसरी आलोचनात्मक पुस्तक के रूप में 'जायसी ग्रंथावली' की भूमिका है। शुक्लजी के पूर्व जायसी का महत्व उनका नहीं था वे प्रकाश में न आ सक थे उनकी रचनाओं से हिन्दी जनता अपरिचित थी। उनको प्रकाश में ला, हिन्दी साहित्य में एक प्रतिष्ठित स्थान प्रदान करने का श्रेय आचार्य शुक्लजी को है। गुप्तजी ने जितनी तमयता लगन एवं निष्ठा के साथ जायसी की भूमिका लिखी उतनी तमयता से अन्य कविता की नहीं। शुक्लजी ने कुछ लिखा है वह आज तक सबमाय है। इसी से हम उनकी पांडित्य एवं आलोचक

व्यक्तित्व को जान सकत हैं। काव्य के रूप और वस्तुपथ की इतनी बारीक छानबीन हुई है कि यह भूमिका हिंदी आलोचना का उत्कृष्टतम प्रमाण बन गई है। शुक्लजी की आलोचना का पूरा वैभव उस भूमिका में दिखाई पड़ता है।

इन आलोचनात्मक ग्रंथों के अतिरिक्त शुक्लजी ने हिंदी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास भी लिखा है। इसमें उनको अनेक प्रकार के कवियों में संपृक्त होना पड़ा है। हिंदी साहित्य को साहित्यिक रूप देने का काय शुक्लजी ने किया था। इसमें उनका विशुद्ध पांडित्य प्रतिप्रबिन् है।

सगठन के क्षेत्र में आचार्य श्यामसुंदरदास जी का नाम आना है उन्होंने न तो महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाँति दूसरों की भाषा शैली का, सम्भार करने का काय ही किया और न शुक्लजी की भाँति एक विशुद्ध पांडित्य की भूमिका पर साहित्य समीक्षा ही की पर उतना आचार्यत्व एक महान सगठन कर्त्ता, नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापक के रूप में प्रकट हुआ है। हिंदी के विकास के लिए, जो संस्थागत आयोजन ही सकता है, उसका सर्वप्रथम काय अपन हाथों में लाने के कारण बाबू श्यामसुंदरदास आचार्य श्यामसुंदरदास कहलाये।

यदि महावीरप्रसाद द्विवेदी जी और शुक्लजी वैयक्तिक भूमिका पर आचार्य हैं तो श्यामसुंदरदास समष्टिगत सयोजना की भूमि पर आचार्य हैं। यदि उन्होंने बस सगठन का काय ही किया होता तो भी आचार्यत्व की पदवी मिलती। उन्होंने साहित्यिक क्षेत्र में रचनात्मक काम भी किया जो अनिमित्त माना गया, जैसे भाषाविज्ञान, साहित्यालोचना आदि। वे आचार्य पदवी के स्वयं योग्य सिद्ध होते हैं परंतु इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्य महत्वपूर्ण काय भी किये हैं।

जब महात्मता मालवीयजी ने उनकी काशी विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया और उच्चतम बर्णाओं तथा हिन्दी के पाठ्यक्रम के निर्माण की समस्या आई तब श्यामसुंदरदास जी ने इस क्षेत्र में न केवल प्राचीन ग्रंथों के मुद्रादिख संस्करण तैयार कराय बल्कि उन पर विशद विवचन भी प्रस्तुत कराया। इस काय में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सबसे अधिक सहयोग दिया। लाला भगवानदीन ने केशवदास की रामचंद्रिका का संपादन किया और उन पर टीका लिखी। दीनजी ने बिहारो सतसई पर भी एक सटिप्पण संस्करण प्रस्तुत किया। आचार्य शुक्ल ने तुलसी धीर जायसी पर गम्भीर विवचनपूर्ण ग्रंथ प्रस्तुत किये और तुलसी प्रदावली तथा काव्यी प्रयासों का

संपादन किया। कुछ समय के पश्चात् गुकनजी ने भ्रमरगीतसार का अपना प्रसिद्ध संस्करण भी प्रस्तुत किया और अन्ततः हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा। यह मन्व काय बाबू श्यामसुन्दरदासजी के निश्चयन से और उन्हीं की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से संपन्न किये गये। इनमें से गुकनजी के प्रायः सभी ग्रन्थ नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुए थे।

पाठ्यक्रम की समस्या हल करने में श्यामसुन्दरदासजी ने स्वयं भी कम उद्योग नहीं किये। उन्होंने साहित्यालोचन नामक समीक्षा सिद्धान्त पर एक ग्रन्थ लिखा जिसमें पहली बार भारतीय और पश्चिमी काय रूपों पर और काय सिद्धान्त पर व्यवस्थित विवेचन किया गया। इस पुस्तक के अभाव में विश्व-विद्यालयों में समीक्षा शास्त्र का पढाया जाना उस समय असंभव ही था। भाषाओं के वैज्ञानिक विवेचन और हिन्दी भाषा के विकास तथा हिन्दी की सहायक भाषाओं और बोलियों का श्यामसुन्दरदासजी ने भाषा विज्ञान शीघ्रक ग्रन्थ लिखा जो आगे चलकर भाषा रहस्य के नाम से प्रचलित हुआ। बाबू साहब ने स्वतः हिन्दी भाषा और साहित्य नामक एक इतिहास ग्रन्थ भी लिखा जिसके प्रथम भाग में हिन्दी भाषा का विवेचन है। उसके द्वितीय भाग में हिन्दी साहित्य का इतिहास है। साहित्य के इतिहास में बाबू साहब ने उन-उन युगों की चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला और संगीतकला आदि का भी संक्षिप्त विवेचन किया है। इस प्रकार का विशाल विवेचन शुक्लजी के विद्याल इतिहास में भी प्राप्त नहीं होता।

नागरी प्रचारिणी सभा के माध्यम से आचार्य श्यामसुन्दरदास ने पृथ्वी राजरासो, बीसन्देवरासो तथा अन्य अनेकानेक प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन कराया जिसकी अन्तिम कड़ी में महाकवि सूरदास जी के सूरसागर का सम्पादन भी सम्मिलित है। हिन्दी साहित्य के आरम्भिक विकासकाल में इस प्रकार का महत्वपूर्ण कार्य दूसरे किसी व्यक्ति ने नहीं किया था। अतएव बाबू श्यामसुन्दरदास जी के लिए आचार्य सना सर्वथा संगत है।

## द्विवेदीजी के आचार्यत्व के उपकरण

हिन्दी के इन आचार्यों की परम्परा में आचार्य हजारोप्रसाद द्विवेदी जी भी परिगणित हुए हैं। यह उपाधि उन्हें किसी सभा या समारोह में नहीं दी गई थी वरन् हिन्दी के पाठकों ने और विश्वविद्यालयों के स्नातकों ने उन्हें स्वभावतः और अनापाम यह उपाधि प्रदान की है। मन्व पूछा जाय तो पूर्ववर्ती इन आचार्यों

## आचार्य द्विवेदी

को भी इसी त्रय में आचार्यत्व की उपाधि मिलनी होगी। यद्यपि इनमें से प्रत्येक का आचार्यत्व भिन्न भिन्न और स्वतंत्र आधारों पर निर्भर हुआ था। यहाँ हम आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के आचार्यत्व के उपकरणों का सक्षेप में उल्लेख करेंगे।

यदि हम द्विवेदीजी के आचार्यत्व की मूल भूमिका का शोध करना चाहें तो यह कहा जा सकेगा कि उनका आचार्यत्व प्रमुखतः उनके पाठ्य से सम्बन्धित है। मग्न १९३१-३२ में उन्होंने हिन्दी साहित्य की भूमिका लिखकर एक नया विचार प्रवर्तन किया था। इस पुस्तक में उन्होंने कई ऐसी बातों की घोषणा की थी और उन पर प्रकाश डाला था जिनके विषय में हिन्दी पाठकों और विद्यार्थियों को कोई विनिष्ट जानकारी नहीं थी। हम यह भी कह सकते हैं कि अथ भाषाओं में उन विषयों पर विचार किया जा चुका था। जिन्हें द्विवेदीजी ने हिन्दी साहित्य की भूमिका में अवतरित किया था परन्तु जहाँ तक हिन्दी की इकाई का संबंध है यह भूमिका एकदम नयी थी और इससे हिन्दी समाज का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया परन्तु द्विवेदीजी इस क्षेत्र में यही तक आकर स्थिर नहीं हो गए बल्कि उन्होंने उस बाय को ओर भी आगे बढ़ाया। उनका यह बाय यद्यपि उनके अनेकानेक ग्रन्थों में व्याप्त है परन्तु उनकी कबीर, मध्य कालीन धर्मसाधना, नायसप्रदाय, हिन्दी साहित्य का आदिकाल नामक पुस्तकों में विशेष रूप से पाया जाता है। इन समस्त शोधकार्यों को हम एक शब्द में मध्यकालीन सृष्टि का जनजीवन की भूमिका पर किया गया साहित्यिक बाध काय कह सकते हैं। मध्यकाल के साहित्य के इतिहास तो लिखे जा चुके थे परन्तु इसकी विशद भूमिका पर वे नहीं लिखे गए थे और सबसे बड़ी बात यह है कि इनमें लेखक का एक अपना दृष्टिकोण सम्मिलित है, जिस हिन्दी के विद्यार्थी मान्यतावादी दृष्टिकोण के नाम से जानते हैं। द्विवेदीजी का इन बाधों में उन्हें एक स्वतंत्र लेखक एवं विचारक की संपूर्ण भूमिका प्रदान की है। मध्यकालीन जीवन का सर्वांगीण इतिहासिकता, इसकी साहित्यिकता निवेश अपूर्णतया कहा जायगा। इसकी यह ऐतिहासिकता, इसकी साहित्यिकता और इसकी तथ्यात्मकता में चाहे दो या अनेक मत हों पर इसकी नवीनता और स्वतंत्र दृष्टि के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। हम इस सम्बन्ध में एक स्थान पर कह चुके हैं कि द्विवेदीजी का ध्यान इतिहास की बात प्रतिगत प्रामाणिकता पर बड़ा चुके हैं कि द्विवेदीजी का ध्यान इतिहास की बात प्रतिगत प्रामाणिकता पर बड़ा नहीं रहता और अनेक आलोचकों ने उनके निबंधों पर विरोधमूलक टिप्पणियाँ भी लिखी हैं। उदाहरणार्थ प० चंद्रबली पाठेय का द्विवेदी जी के नामादास व भक्तमाल के सम्बन्ध में किया गया विवेचन दृष्टव्य है। इसी

प्रकार द्विवेदीजी के आदिवात सम्बन्धी विवचन भी अनेक अनुमानों का संयोजन करके हुए भी किसी तथ्यात्मक निर्देश की उपलब्धि नहीं कराते। फिर भी यह कहना होगा कि एक नयी दिशा में एक नये प्रकार का मार्ग विशद रूप में बरके द्विवेदीजी ने साहित्यिक शोध के क्षेत्र में अनेक नये सूत्र दिये हैं। जिनके बल पर वे एक ऐतिहासिक सांस्कृतिक विचारक के दायित्व को पूरा कर सकें।

द्विवेदीजी ने साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में जिन प्रतिमानों का निरूपण किया है वे भी उनके अपने हैं। हम यह कह चुके हैं कि शास्त्रानुमोदित साहित्य समीक्षा उनकी नहीं है। परन्तु उनकी समस्त समीक्षाओं में उनका व्यक्तित्व और उनकी विचारधारा प्रतिफलित हुई है जिसके कारण वे एक मौलिक समीक्षक माने गये हैं। शास्त्रीय समीक्षा प्रणाली से अलग जाकर द्विवेदीजी ने भाषा और साहित्य सम्बन्धी जिन परम्परायुक्त पद्धतियों का तिरस्कार किया है उनके औचित्य अनौचित्य पर यहाँ कुछ भी कहना समतल होगा। जिस बात का निर्देश हम यहाँ कर रहे हैं, वह है द्विवेदीजी की स्वच्छन्दतावादी समीक्षा दृष्टि। स्वच्छन्दतावादी शैली के विचारक भी कई कोटियों में रक्षित जा सकते हैं। द्विवेदीजी की उनमें एक अलग काँटि है। मुख्य साहित्य सारिणी से अलग होकर मुख्य सामाजिक विचारधाराओं से सम्बन्ध तोड़कर द्विवेदीजी ने अक्षर युग के साहित्य पर विशेषकर जन साहित्य पर जो तीव्र प्रकाशपुञ्ज बहिर्मुख किया है उससे एक विशेष प्रकार के साहित्य पर आलोक डाला जा सका है। यूरॉप में भी साहित्यिक इतिहास के अंतर्गत एक अक्षर युग की चर्चा की जाती है। ईसा की तीसरी, चौथी शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी तक यूरोप में इस प्रकार के अक्षर युग की स्थिति बताई गई है। साहित्यिक समीक्षकों ने गिष्ट साहित्य के अंतर्गत इन शताब्दियों के ग्रंथों को अधिक महत्त्व नहीं दिया है। उसका कारण बताते हुए समीक्षकों ने लिखा है कि इन शताब्दियों में यूरोप की सभ्य सांस्कृतिक विद्वानों आश्रमणों से छिन्न-भिन्न हो गयी थी। साहित्यिक निमाण के परम्परागत क्षेत्र ध्वस्त हो गये थे। फलतः उन शताब्दियों में साहित्यिक परम्पराओं का लोप हो गया और जो कुछ लिखा जाता था वह या तो कतिपय धार्मिक क्षेत्रों में पात्रियों और सतों का साहित्य है अथवा वह विगुह रूप से लोक साहित्य है, जिनमें साहित्यिक गुणों का प्रायः अभाव है। उनकी भाषा ग्रामीण है और उनके भावों में अलकृति का भाव है। ऐसे साहित्य को यूरोप की साहित्यिक परम्परा में प्रथम श्रेणी का साहित्य कम स्वीकार किया जाता है। परन्तु यहाँ हम गिष्ट और शास्त्रानुमोदित साहित्य की बात कह रहे हैं। बहुत सम्भव है कि अनेक दृष्टियों से देखने पर इस साहित्य में मूल्यवान

वस्तु भी मिले परन्तु उनकी ओर दृष्टिपात करना नागरिक साहित्यका को अमीष्ट नहीं है।

द्विवेदीजी ने हिन्दी के वैसे ही जनसाहित्य का अपन विवेचन और मूल्यांकन का विषय बनाया है जिसकी तुलना यूरोप के अघकार युग के साहित्य से की जा सकती है। परन्तु द्विवेदीजी ने इस बात का ध्यान रखा है कि शिष्ट साहित्य से कुछ अलग रहकर भी इस प्रकार के साहित्य का एक सांस्कृतिक और दार्शनिक मूल्य है और उसी आधार पर उहान् इम युग के साहित्य का समीक्षण किया है। इसीलिए उन्हें समीक्षा के क्षेत्र में सांस्कृतिक और जनवादी समीक्षक की सजा दी जा सकती है।

इसका यह अर्थ नहीं कि द्विवेदीजी भारत के शिष्ट साहित्य से परिचित नहीं हैं या उनके प्रति रुचि नहीं रखते। उन्होंने प्राचीन भारत का कलाविलास जसी पुस्तकें भी लिखी हैं जिसे उनके संस्कृत साहित्य सम्बन्धी ज्ञान का पता चलता है, परन्तु यहाँ भी द्विवेदीजी की सामाजिक या सांस्कृतिक दृष्टि प्रमुख रूप में जापित हुई है। वे उस ऐतिहासिक परिवेश का रेखाचित्र देना चाहते हैं जिसमें संस्कृत के उत्तरकालीन कवियों के व्यक्तित्व और वृत्तित्व का निर्माण हुआ था। स्पष्ट है कि द्विवेदीजी की अभिरुचि विगुद्ध साहित्य के रूप में साहित्य को देखने की नहीं है बल्कि उम भिन्न-भिन्न युगों के परिवर्तन में रख कर उनकी गति विधि का निरीक्षण करने की है। अपने स्फुट निबन्धों में भी द्विवेदीजी ने जो समीक्षाएँ लिखी हैं वे इसी पक्ष को केन्द्र में रखकर प्रस्तुत हुई हैं किसी साहित्यिक रचना से उस समय की सामाजिक और मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति किस मात्रा में होती है यह उनका मुख्य दृष्टिकोण है।

इस प्रकार समीक्षा और शोध के क्षेत्रों में एक नयी दृष्टि की उदभासना करके और उसके अनुरूप अपरिचित और अपजान साहित्यधाराओं का विवेचन विमर्शण करके द्विवेदीजी आचार्यत्व की पहली और मुख्य भूमिका को आत्ममान किया था।

द्विवेदीजी के आचार्यत्व का दूसरा प्रमुख आधार उनका अध्यापन कार्य है। उनकी शिष्यमण्डल और उनके विद्यार्थियों का विशाल समूह है जिस उन्होंने पिछले ३० वर्षों से निरन्तर प्रेरणा और ज्ञान दिया है। सन् १९३० में वे शान्तिनिकेतन गये थे और तभी से उन्होंने अध्यापक का पद ग्रहण किया था। शान्तिनिकेतन की शिक्षा प्रणाली रविबाबू के जीवनकाल में सामान्य शिक्षा प्रणालियों से बहुत कुछ भिन्न थी। सामूहिक वादना और गायनों से आरम्भ होने वाली

अध्यापनचर्चा विद्यार्थी और अध्यापक के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने का निर्माण करती है। प्रकृति के सुन्दर प्रसार में वन्या के तल दी जाने वाली गिन्ना स्वभावन स्वच्छ और पुनीत विचारों का निर्माण करती थी। द्विवेदीजी के अध्ययन सबंधी आदर्श इन्हीं भूमिकाओं पर निर्मित हुए हैं। कुछ समय पश्चात् यह वही शान्ति निकेतन से काशी विश्वविद्यालय में आये तब भी वे अपनी पुरानी विधि का पालन करते रहे। उनके घर पर विद्यार्थियों का अभाव प्रवृत्त रहा करता था और भिन्न भिन्न विषयों की चर्चा हानी रहती थी। उन्होंने अपने सरक्षण में जो कविपत्र 'गोघ-काय' अपने विशिष्ट विद्यार्थियों को वितरित किए थे उनमें द्विवेदीजी का निर्देशन बहुत कुछ स्पष्ट दिखलाई देता है। यही नहीं उठते कुछ प्रयास का संपादन भी अपने विद्यार्थियों के सहयोग से किया है। स्पष्ट है कि द्विवेदीजी के व्यक्तित्व का प्रभाव तो इन विशिष्ट विद्यार्थियों पर पड़ा ही उनकी आत्मीयता और श्रद्धा भी उन्हें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हुई। इस प्रकार द्विवेदीजी ने अपने चतुर्दिक कृत्र प्रतिभाशाली विद्यार्थियों का एक ऐसा मण्डल बनाया जिससे उनके विचारों के प्रचार प्रसार और विशदीकरण में पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। द्विवेदीजी जहाँ जाते हैं वही अपने अनुरूप विषयों और विचारों के विद्यार्थियों को निर्मित कर लेते हैं। उनके अध्यापक व्यक्तित्व में भावुकता राष्ट्रीय चेतना और सांस्कृतिक तत्त्वा और तथ्यों का अच्छा योग दिखाई पड़ता है। विद्यार्थियों से काम लेने में वे पर्याप्त सफल हुए हैं और इस प्रकार पिछले ३०-४० वर्षों में उन्होंने अपनी एक शिष्य परम्परा निर्मित की है। उनकी यह विशेषता भी क्या वगिष्ठय देती है और उनकी आचार्य सत्ता को पुष्ट करती है।

विवेचनात्मक प्रयोगों के प्रणयन और हिन्दी के इतिहास लेखन के अतिरिक्त द्विवेदीजी ने कुछ स्वतन्त्र पुस्तकें उपन्यास और निबंध आदि लिखे हैं जो उनके वचारिक लेखन काय को और भी दीप्ति दे सके हैं। जब कभी हिन्दी में व्यक्तिक निबंधों के निर्माण और विकास का विचार होता है तब आधुनिक युग के साहित्यिकों में द्विवेदी का नाम प्रथम श्रेणी में लिया जाता है। उनके इन निबंधों में मनोरञ्जन और विचारात्सेजना के समन्वयपूर्ण समाहित हैं। केवल इधर उधर की बातें करना अथवा असम्बद्ध वतावटों को एकत्र कर देना द्विवेदीजी के व्यक्तिक निबंधों की विशेषता रही है। वे रह रह कर किसी छोटी घटना या वस्तु के आधार पर मद्दवपूर्ण जीवन समस्याओं का स्पष्ट करते हैं। इस प्रकार रावकता और गम्भीरता के विषय तत्त्व उनके निबंध साहित्य में सन्निविष्ट हो गये हैं। ऐसे निबंध केवल विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों के बीच में हीन ही सामान्य हिन्दी पाठकों में भी लोकप्रिय हुए हैं। बल्कि कहा जा सकता है कि

द्विवेचात्मक समीक्षात्मक निबन्धों की तुलना में द्विवेदी जी के ये वैयक्तिक निबन्ध अधिक आकर्षक हैं। इसका कारण यह है कि द्विवेदीजी मूलरूप में एक भावात्मक लेखक हैं और वस्तुमुखा समीक्षा करने की अपेक्षा स्वच्छन्द और बहुबस्तु स्पर्शित भावधारार्यों और विचारधारार्यों की सृष्टि करने में अधिक रुचि रखते हैं।

वाणभट्ट की चात्मकथा नामक उपन्यास के प्रकाशित हान पर द्विवेदीजी की ख्याति एक रचनात्मक साहित्यकार के रूप में दूर दूर तक फैली और हिन्दी संसार में इसका उच्च स्थायित्व किया गया। इसकी भूमिका में द्विवेदीजी ने कुछ ऐसा निष्पत्ति किया था जैसे यह आत्मकथा उनकी लिखी न होकर किसी अग्रज महिला की लिखी हुई है परंतु इसमें निर्देश की गई है। इस निर्देश के जोष परदे की निश्चल पर हिन्दी पाठकों ने वस्तु मध्य को जानने का धीरे द्विवेदीजी की एक महान उपन्यासकार का पद ग्रहण किया। इस उपन्यास में द्विवेदीजी ने हयवातीन भारत की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का बहुत ही पान वषक विवरण दिया है और साथ ही निपुणिका जैसे जीवन्त चरित्र का उदघाटन कर दिया है। हिन्दी में थोड़े ही ऐसे उपन्यास हैं जो ऐतिहासिक और साम्बन्धिक भूमिका का इतनी स्पष्टता और तटस्पता में उल्लेख करते हैं। इस उपन्यास में द्विवेदीजी की भाषा कही तरह एक प्रवाहपूर्ण कहीं मरत और स्वाभाविक और चित्रोपम धन पनी है। कहीं कहीं वे वाणभट्ट की पाद दिशा में बानी गुम्फित भाषा का भी प्रयोग करते हैं। इन सब विशेषताओं के कारण उनका यह एक महत्वपूर्ण विवेचन के रूप में एक सजनात्मक और इतिहासगत कलाकार के रूप में पत्र सरा है। हमारे विचार में द्विवेदी जी के आचार्य पद का एक नया शीघ्र गोमा देन में उनकी य रचना भी कम सहायक नहीं है।

### साहित्येतर विषयों में प्रवेश

जिस प्रकार आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी केवल साहित्यिक विषयों में ही रुचि न रखते थे वरन् देश और काल की विविध गतिविधियाँ से भी संपर्क रखते हुए मरम्बनी के माध्यम से उनका भी प्रयागन किया करते थे। उसी प्रकार हज़ारीप्रसाद द्विवेदी साहित्येतर विषयों में काफी दिलचस्पी दिखाई है और उन्होंने अपने अनेक निबन्धों और लेखों में इन रुचि और अभिप्राय का अनेक परिचय दिया है। उन युग की सांस्कृतिक समस्याएँ क्या हैं, गांधी जी का राष्ट्रीय प्रदय क्या है ? राष्ट्रभाषा की समस्याएँ क्या हैं, समाजवाद क्या है और उसके प्रति हमारी दृष्टि क्या हो, ऐसे अनेक सामयिक प्रश्नों का द्विवेदीजी ने समय-समय पर विचार किया है और उन पर लेख आदि लिखे हैं। हमारे



न्यतम साहित्यिक किस दिशा में जा रहे है। मनोविज्ञान का साहित्य में कितना और कौसा स्थान है आदि प्रश्नों पर उनके प्रकीर्णक विचार उनकी पुस्तक में पाये जाते हैं। साहित्य से दूर का सम्बन्ध रखने वाले और बहुत कुछ स्वतन्त्र लेख भाषायें द्विवेदीजी के व्यक्तित्व को एक अभीप्सित विस्तार देने में सहायक हुई हैं। इन सब विचारों के मूल में द्विवेदीजी की युगीन अभिज्ञता एक दायित्व पूर्ण लेखक की योग्यता उन्हें प्रदान करती है। नयी साहित्यिक समस्याओं पर और साहित्येतर समस्याओं पर उनके विचार एक मार्गो निर्देशक के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। इनमें द्विवेदीजी के व्यक्तित्व का एक अत्यन्त प्रकट हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं द्विवेदीजी के समस्त साहित्य में अनेकमुखी विशेषताएँ आई हैं और वे सब मिलाकर द्विवेदीजी की एक युगीन साहित्यकार की गौरवपूर्ण स्थिति प्रदान करती हैं। यह सब वैविध्य और विस्तार द्विवेदीजी के आचार्यत्व के सहायक साधन बन सके हैं।

## व्यक्तित्व के कतिपय गुण

यद्यपि पाण्डित्य और उसके ऊपर विवेचित विविध अंगों और उपागों के आधार पर द्विवेदीजी आचार्यत्व का अधिकारी हो सकते थे परन्तु बिना व्यक्तित्व योग के उनका आचार्यत्व कदाचित् पूर्ण विकसित नहीं हो पाता। जसा कि हम ऊपर देख चुके हैं पाण्डित्य के अतिरिक्त सक्रियता का योग किसी प्राचीन आचार्यों में सदैव रहा है। अपने पाण्डित्य का प्रसार और उसकी व्यापक स्वीकृति के लिए प्राचीन आचार्य देश के विविध भागों में यात्रायें करते थे और वहाँ पढ़ितों से मिलकर अपनी विद्येय विद्या का समुदाहर कराने में समर्थ होते थे। वर्तमान समय में पुस्तक प्रकाशन के व्यवसाय के चल पडने से इस प्रकार की यात्रायें बहुत कुछ अनावश्यक हो गई हैं। पर धर धर ही पाठकों विद्यार्थियों और विद्वानों का समुदाय किसी ग्रन्थ की विद्येयता और उसके गुणों का परिचय प्राप्त कर सकता है और ऐसे ग्रन्थ को स्वमायता दे सकता है। परन्तु फिर भी आधुनिक युग में प्रचार और प्रसार का कार्य अपेक्षित बना हुआ है। इसके लिए सक्रिय व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है। द्विवेदीजी का व्यक्तित्व यथेष्ट मात्रा में सक्रिय है। यह देश के भिन्न भिन्न भागों से आवश्यकतानुसार जाते रहते हैं और अपने विचारों की प्रभावशाली रूप में उपस्थित करते हैं। नागरिक समाज का समर्थन और प्रशंसा प्राप्त करते रहें हैं। इस सक्रियता का एक विशेष अंग उनकी भाषण क्षमता है।

आचार्य गुप्त और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी भाषण कला में इतने

निपुण नहीं थे जिनसे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं। इनकी वक्तव्याओं में धारा वाहिकता, ओजस्विता और भावाद्भेग के उपकरण रत्न करते हैं। ज्या ज्यों हिन्दी साहित्य प्रजातांत्रिक स्तर पर आता जा रहा है त्यों त्या साहित्यिकों के लिए अच्छा वक्ता होना भी आवश्यक हो गया है। लोग दूर से देखकर या कितारों पढ़कर ही सतोप नहीं करते। पंडितों को, जिनका व सम्मान करते हैं साकार और सशरीर दखन के भी इच्छुक होते हैं और यदि ऐम पंडित अच्छे वक्ता भी हा तब तो बहना ही क्या है? भिन्न-भिन्न उत्सवों, जयंतियों और साहित्यिक समारोहों में ऐम व्यक्तियों की बड़ी पूछ होता है। इस प्रकार वक्तव्या के माध्यम से उस व्यक्ति व यश और प्रसिद्धि का विस्तार हाता है।

यहाँ हमने द्विवेदीजी के वक्तव्यकला में भावात्मकता की चर्चा की है। भाषण अनेक प्रकार के हो सकते हैं। कुछ भाषणकर्ता अपनी बात को सीधे सादे शब्दा में एक अनुक्रम के साथ कह डालते हैं। उनका मुख्य लक्ष्य विषय के स्पष्टीकरण का रहा करना है। उनको इतने ही स सतोप हो जाता है कि उनकी बात दूसरा तक पहुँच गई।

दूसरे प्रकार के भाषणकर्ता व हात हैं जो विषय व स्पष्टीकरण के साथ प्रभावशीलता व पक्ष को भी ध्यान में रखते हैं ऐमे लोग विषय के साथ भाषा के सौंदर्य और उसके प्रवाह का भी प्रदर्शित करते रहते हैं। परन्तु फिर भी उनमें तारकालिक प्रभावोत्पादन की उतनी क्षमता नहीं हाती जितनी भावात्मक वक्तव्या के द्वारा हो सकती है।

द्विवेदीजी की वक्तव्या मुख्यतः भावात्मक होना है। वे अपने विषय को विचारमूलक न बनाकर, आनुक्रमिकता का अधिक ध्यान न रखकर विगुह भावो-मय की सृष्टि करने का प्रयत्न करने हैं और वे इस काय में पर्याप्त मात्रा में सफल भी होते हैं। जिस भाषण के बीच बीच में तालियाँ न बजाई जाय वह भाषण असामाय नहीं कहा जा सकता और यह अगामायता श्रोताओं के मानस में भावाद्भलन करने की क्षमता पर आश्रित है। वक्तव्यकाल में जबकि बुद्धिवाद का मूल्य बढ़ रहा है विद्वानों में विवचन मूलक वक्तव्याएँ भी पसंद की जाती हैं। परन्तु भारतवर्ष में अब भी भावात्मककारक भाषणों का महत्व बना हुआ है। यों तो प्रत्येक समय में और प्रत्येक दशक में कुछ वक्ता ऐम हात हैं जो श्रोताओं को अपने साथ बड़ा ल जान में समय हात हैं विशयवर राजनीतिक क्षेत्र की वक्तव्याएँ इस प्रकार की होती हैं और राजनीतिक भाषणकर्ताओं के लिये जन समाज को आदारित करने की क्षमता आवश्यक मानी जाती है। फिर भी वक्तव्यकाल में कोई उतनेत्रात्मक वक्तव्याएँ महत्वपूर्ण नहीं मानी जानीं।

राजनीतिक क्षेत्र में भी अब भी विचारों का महत्व बढ़ता जा रहा है आज वे वक्ताओं के लिए प्रमाण और प्रमेय का परिचय देना आवश्यक हो गया है फिर भी नयी सूझों, नये आरोंपों और नवीन व्यंग्यों के क्षेत्र का प्रचलन समाप्त नहीं हुआ है। साहित्यिक भाषणों में यदि भावात्मकता के साथ सुन्दर भाषा, आकर्षक शब्दविन्यास और प्रभावकारी शैली हो और इनके साथ ही वचारिक भूमिका भी पुष्ट और प्रौढ़ हो तो वह वक्ता सर्वाधिक प्रभावकारी होनी है। द्विवेदीजी के भाषणों में भावात्मकता के साथ विचार पक्ष का भी सम्पन्न सहयोग रहा करता है।

आरम्भ में मन्द गति और धीमे स्वर में अपनी वक्ताता को आगे बढ़ाते हुए प्रमत्त गति को तीव्र और स्वर को उदात्त बनाते हुये और साथ ही अपनी वक्तव्य वस्तु को अनेक चरम सीमाओं पर पहुँचाते हुए भाषण देने में द्विवेदीजी की निपुणता देखी जाती है। आवश्यकतानुसार छोटे बूटकुले मुहूर्त्त के स्मरण और हल्के विनोदात्मक प्रकरण जोड़ते हुये द्विवेदीजी अपने भाषणों में आगे बढ़ते हैं और जब श्रान्ता उनकी ओर आकृष्ट होने लगते हैं तब वे भावात्मक प्रकरणों को जोड़कर उल्लासपूर्ण वातावरण का निर्माण कर देते हैं। द्विवेदीजी की भाषणकला और उनके साहित्यिक वक्तव्य हिन्दी के साहित्यिक क्षेत्रों में अच्छी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। इस प्रकार सावजनिक प्रशंसा का क्षेत्र द्विवेदीजी ने पर्याप्त विकसित कर लिया है। हम कह सकते हैं कि उनके भाषणों से उनकी ख्याति ही नहीं बढ़ी है उनके आचायत्व को भी सशक्तता प्राप्त हुई है।

### मिलनसार स्वभाव

वर्तमान युग में प्रजातांत्रिक भावना के विकास के साथ मिलनसारता एक आवश्यक गुण है। प्राचीन समय में पंडितों के लिए यह गुण अधिक अपेक्षित नहीं था, बल्कि कई बार किसी पंडित का अधिक मिलनसार होना एक अवगुण ही माना जाता था, क्योंकि ऐसा करने पर एक तो उसकी शक्ति अनेक ढंगों में घट जाती थी। दूसरे साधारण लोगों के संपर्क से उसकी असामान्यता भी बाधित होती थी। परन्तु वर्तमान समय में जब तक विभिन्न क्षेत्रों के लोगों से मिलकर मंत्रों न स्थापित की जाय तब तक व्यक्ति लोकप्रिय नहीं हो पाता और उसके बहुत से काम अटक जाते हैं। ऐसा करने पर उसके समय और शक्ति का अपव्यय भी होना है परन्तु चुन हुए लोगों से सम्पर्क और सौहास्य रखना आवश्यक होता है। द्विवेदीजी इस दिशा में पर्याप्त सीमा तक सफल हुए हैं। उनका परिचय क्षेत्र ही काफी व्यापक और विस्तृत ही नहीं बल्कि अंतरंग मित्रों की सह्या

भी काफी बड़ी है। इस विषय का विस्तृत विवरण हम 'व्यक्तित्व वाले अध्याय' में दे चुके हैं। यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि अपने मिलनसार स्वभाव के कारण द्विवेदीजी अनेक सावजनिक क्षेत्रों में अपने और मित्रों परिचितों का एक समुदाय एकत्रित कर चुके हैं।

यह मिलनसारता एक उस व्यक्तित्व की माँग करती है जो सबको प्रसन्न रख सके और किसी के विरोध में न आये। किसी साहित्यिक के लिए जो समीक्षक का काय भी कर रहा हो इस प्रकार का मैत्री और अद्वेषभाव कभी कभी कुछ कठिनाइयाँ भी लाता है। जब हम किसी कवि या लेखक की किसी रचना या कृति पर अपने विचार व्यक्त करने होते हैं तब हम इस बात का ध्यान नहीं रख सकते कि उन स्पष्ट विचारों को पढ़कर वह लेखक या कवि हमसे अप्रसन्न हो जायेगा। यहाँ पर प्रश्न कृतव्यपालन और सवतोभ्रद धनन की चेष्टा के बीच एक सपप या द्विविधात्मकता का आ जाता है। यदि हम सबको खुश रखना चाहते हैं तो शायद व्यक्तित्व भूमिका पर हम किसी का विरोध नहीं कर सकते परन्तु समीक्षक के लिए तथ्यपूर्ण बात का कहना आवश्यक है भले ही वह किसी को बुरी लगे। वहाँ पर समीक्षक किसी का व्यक्तिगत विरोध नहीं करता बरन भरसक अपने विचारों को सत्य और शिष्टभाषा में उपस्थित करता है। वही स्थिति में यदि कोई व्यक्ति समीक्षक के आशय और उद्देश्य को न समझकर उसे अपनी कृति का कटु आलोचक मान लें तो इसमें समीक्षक का क्या दोष है? साहित्य के क्षेत्र में व्यक्तिगत मन्त्री के नाम पर तथ्यपूर्ण वक्तव्या का न लिखा जाना एक दोष ही माना जायगा।

द्विवेदीजी के व्यक्तित्व में किसी का विरोध न करने की एक मूलभूत विशेषता विद्यमान है। इसलिए अक्सर वे अपनी समीक्षाओं में किसी व्यक्ति विशेष का नाम न लेकर या तो साहित्यिक प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में अपने विरोधी विचार प्रकट करते हैं या फिर वे अक्सर मौन भी रह जाते हैं। द्विवेदीजी ने आधुनिक साहित्य और साहित्यिकों पर कम ही लिखा है और जो लिखा भी है वह अधिकतर प्रशंसारमय है। सामयिक साहित्यिक गतिविधियों पर उनके विचार सब जगह अनुकूल नहीं हैं परन्तु ऐसी अवसरों पर वे किसी व्यक्ति का नाम न लेकर सामान्य रूप में अपना मत प्रकट करते हैं। द्विवेदीजी की यह वृत्ति उनके विचारों के प्रकाशन में कभी अवरोध भी लानी है या नहीं यह कहना कठिन है, परन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि द्विवेदीजी के वक्तव्यों में प्रशंसारमकता का सर्व अधिक रस्य करना है। उनकी समीक्षाएँ विवेचन और विश्लेषण की उच्च भूमियों पर जाती हैं जिनमें किसी लेखक या कवि पर अनुरूप निष्कर्ष दे

सकें अथवा व प्रायः सामान्य जीवन से मतोप कर लते हैं। हिन्दी के समीक्षकों में यदि एक ओर द्विवेदी जी का रना जाय और दूसरी ओर रामत्रिलोक शर्मा को तो दया जा सकता है दोनों समीक्षकों का अतिवादी छारा पर सन्धित है। एक की समीक्षाओं में विरोध का तत्व प्रधान है और दूसरी की समीक्षाओं में या तो प्रशंसा का तत्व प्रधान है या सामान्य बचन का। हम यह नहीं कहते कि दोनों समीक्षकों अपनी विरोधात्मक या प्रशंसात्मक समीक्षाओं के द्वारा साहित्य का हित नहीं करते। हमारे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि ये समीक्षक समीक्षा के मध्यमार्ग से एक सीमा तक हटे हुए हैं। जहाँ तक द्विवेदीजी का सम्बन्ध है उनकी समीक्षाओं और टिप्पणियों में लक्षक या कवि के सत्पक्ष पर अधिक ध्यान दिया गया है और असत पक्ष की उपेक्षा की गई है। यह द्विवेदीजी की मन्त्री भावना का ही परिणाम है जिसका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं।

### कतिपय चारित्रिक विशेषतायें

द्विवेदीजी के ग्रन्थलेखन उनके पाठित्य और व्यक्तित्व की कतिपय विशेषताओं पर विचार करने के पश्चात् अब हम उनके चारित्रिक गुणों पर भी दृष्टिपात करना चाहेंगे। क्योंकि आचार्यत्व के मूल में चरित्र की सत्ता भी रहा करती है। कहना तो यह चाहिए कि प्राचीन समय में आचार्यत्व का मूल आधार चरित्र ही था। क्योंकि आचार्य शब्द जैसा कि ऊपर कह चुके हैं उस चरित्रात्मक विशेषता का द्योतक है जो अर्थ लोगों के लिए आचरणीय है। आचार्य द्विवेदी अपनी विनयशीलता, मधुरभाषिता आदि गुणों के कारण अधिक लोकप्रिय हो सके हैं परन्तु इन सब गुणों के रहन हुए चरित्र की दृष्टता और उसकी निष्कलुपता भी आवश्यक होती हैं। आचरणीय चरित्र वही होना है जिसमें सत्य की प्रवृत्ति अपने विचारों के प्रति निष्ठा और उच्चकोटि की चारित्रिक विशेषता पाई जाये। आचार्य द्विवेदीजी ने अत्यन्त सामान्य जीवनस्थितियों से अपने व्यक्तित्व का विकास किया है। इन्होंने कठिन परिस्थितियों में शिक्षा पाई है, विश्वविद्यालयों की आधुनिक शिक्षा इन्हें आशिक रूप से ही मिली। उसकी पूर्ति इन्होंने अपने निजी अध्ययन से की है। जो उनकी व्यक्तित्व साधना ही कही जायगी। ऐसी परिस्थितियों से आगे बढ़ने वाले व्यक्ति का चरित्र स्वभावतः इतना सुदृढ हो जाता है कि संसार के प्रलाभ और मरीचिकायें उसके मार्ग में बाधा नहीं डाल सकती। द्विवेदीजी यद्यपि विनयशील और मिलनसार हैं पर इसका यह अर्थ नहीं कि उनकी विनयशीलता उनके विचारों को स्पष्टता और निर्भीकता देने के बाधक है। विनयशीलता उनका पारमार्थिक गुण है परन्तु इसका अनिश्चित उनका दायित्व सामाजिक

और वचारिक जगत के प्रति भी है। यदि वे एक को आवश्यकता से अधिक महत्व दे दते तो कदाचित् उन मृत्युमान विचारों को न रख सकते जो उनके चरित्र क मर्मभोर गुणों से समावित है। मिलनसारिता भी मनुष्य में कम जोरियाँ ला सकती है और मनुष्य बाजारू बन सकता है। पर तु द्विवेदीजी की मिलनसारिता इस कोटि की नहीं है। उनके व्यक्तित्व में चाग्निक विशेषतायें सतुलित रूप में उदभासित हुई हैं और वे परस्पर विरोधी दिखने वाले गुणों को समावित करके एक एसी इकाई का निर्माण कर सके है जिससे उनकी चार्ित्रिक विशेषतायें समग्र हा सकी है। उनमें कतिपय पंडिता की जैसी उग्रता, असहिष्णुता आदि क भाव नहीं हैं बल्कि एक ऐसी उदारता है जो दूसरों के प्रति उपेक्षा नहीं आने दती। द्विवेदीजी में आत्मप्रचार और आत्मप्रसार का दुगुण भी अपवारित हो चुका है। हम कह सकते हैं कि उनका व्यक्तित्व सामाजिक चार्ित्र्य सकोणता और अनुदारता के समस्त दोषों से रहित है।

## जीवन दृष्टि की विशालता

जब हम समय रूप से आचार्य द्विवेदी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर दृष्टिपान करते हैं और उनके आचार्यत्व के उपादानों का परिचय प्राप्त करते हैं तब उनकी कदाचित् सबसे बड़ी विशेषता उनका मानवतावादी विचार दशन दिखाई देता है जो आधुनिक युग के अत्यधिक अनुरूप है। उन्होंने अपने सपूर्ण साहित्य में समाज के उस उपेक्षित और किसी सीमा तक अपमानित मानववय का साथ दिया है जो अम्यथा हिन्दी साहित्य में बहुत कुछ लक्षित बना रहा है। उनके इस दृष्टिकोण के साहित्यिक महत्व पर हम ऊपर कुछ निर्देश कर चुके हैं। यह स्वीकार करने में हमें आपत्ति नहीं कि द्विवेदीजी का यह दृष्टिकोण समुद्र साहित्यिक विकास के सवथा अनुरूप नहीं है। साहित्यिक प्रतिमानों का निरूपण सिष्ट साहित्य की भूमिका पर ही हुआ करता है। द्विवेदीजी उस मार्ग को छोड़कर एक दूसरे ही साहित्यिक आदश का निर्देश कर सके हैं। आचार्य शुक्ल जो अपने नियन्त्रण में सजे हुए गुलामों की अपेक्षा खिले हुए उपवन या चाटिका के सौन्दर्य का अधिक सुन्दर वतलाते हैं किन्तु चाटिका उपवन की अपेक्षा वे बनो और बान्सारों के सौन्दर्य को उच्चतर ठहराते हैं क्योंकि उनमें आदि मानवता का साहचर्य विद्यमान है। मनुष्य उन्हीं बनो स निकल कर नगरों में आया है। व्यक्तित्व रीति स सम्पत्तीका का पक्षपात करते हुए भी शुक्लजी अपने साहित्यिक विवेचनो में अधिक नागरिक हैं। उन्होंने साहित्य की सिष्ट परम्परा का सदैव समर्थन किया है। इसके साथ ही उन्होंने मर्यादा और समय के तरबा का आग्रह

किया है। तुलसी साहित्य पर उनकी विशेष आस्था गोस्वामी तुलसीदास की सामाजिक दृष्टि पर आश्रित है। इस प्रकार गुकलजी के व्यक्तिक आश्यों, व्यक्तिक रुचियों और उनकी साहित्यिक निर्देशों में एक व्यवधान बना हुआ है। पंडितों के शास्त्रीय विवेचना को छाड़कर कबीरनाम अभिहितों के समूह में अपनी अटपटी बाणी का प्रसार करना चाहते थे। इसलिए शिष्ट साहित्य की सीमा में गुकलजी ने कबीर को बहुत हिचकत हुए एक सीमित स्थान दिया है।

इसमें भिन्न आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रकृति के व्यक्तिक और आदिम सोदय की कोई विशेष चर्चा नहीं करते बल्कि वे शान्तिनिकेतन की सुदृष्टिसंपन्न वातावरण के परिवेग में रहे हैं। कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि में शान्तिनिकेतन की सोदयवादी सस्था सक्रिय रही होगी। परन्तु जब वे साहित्य की चर्चा और विवेचन में प्रवृत्त होते हैं तब वे सौन्दर्य दृष्टि को अलग रखकर उन ग्रामीण और अशास्त्रीय लोक कवियों का स्मरण करते हैं जिनका शिष्ट साहित्यिक नाम भी नहीं जानते। नाथ सिद्ध और योगियों के संप्रदाय बंगाल के बाउल और ऐसे ही अन्य लोकजीवन प्रतिनिधियों की ओर उनकी दृष्टि जितनी गई है उतनी शंकराचार्य रामानुज और रामानन्द जैसे महान आचार्यों के प्रति नहीं। यह एक आश्चर्यजनक विरोधाभास है कि रवीन्द्रनाथ के अत्यंत आधुनिक व्यक्तित्व के सम्पर्क में रहकर द्विवेदीजी साहित्यिक और दार्शनिक भूमिका पर उन लोगों का उन्मत्तन करते हैं जो किसी सीमा तक असाहित्यिक ही कहे जा सकते हैं। परन्तु इस विरोधाभास के मूल में वास्तविक विरोध नहीं है। स्वयं रवीन्द्रनाथ कबीर से प्रभावित नहीं हैं उनके काव्य विकास में वृष्णव कवियों की भावधारा का एक प्रमुख स्थान है। साथ ही रहस्यवादी निगुणिया सत्तो के सम्बंध में उन्हें विशेष जिज्ञासा थी। आधुनिक सभ्यता की भौतिकवादी कृत्रिमता और शिष्टाचार तथा स्वाधपराता से विरक्त होकर रवीन्द्रनाथ ने उन सत्तों की काव्य रचना में ऐसे तत्व पाये हैं जो शालीन और नागरिक कवियों में नहीं मिलते। इसमें आश्चर्य नहीं यदि रवीन्द्रनाथ और क्षितिमोहन सेन जैसे यक्षिण्या के साहचर्य में आकर आचार्य द्विवेदीजी ने काव्य और साहित्य के आसकारिक और सुविद्यस्त स्वरूपा को छाड़कर उन भौतिक मानवीय भावधाराओं के समीप जान और उनमें निमग्न होना का प्रयास किया जिनकी आर सामाजिक लागी की दृष्टि नहीं जाती। जितनी ही नागरिकता और भौतिकता की अभिवृद्धि होगी उतना ही मानव हृदय सकीर्ण और कृत्रिम ही जाने का भय रहेगा। इस शंकास्पद स्थिति में देश और राष्ट्र की रक्षा करने का एक उपाय यह है कि हम उस आदिम और

मूलवर्ती मानवतावादी दृष्टि का साहचर्य प्राप्त करें जो नये युग में औपधि का काम कर सकती है। पश्चिम में टाल्स्टाय और पूव में रवीन्द्रनाथ और गांधी ने आधुनिक सस्कृति के भौतिक अभियान को रोकने और उसमें मानवीय तथ्यों की गहराई की योजना करने का न केवल सदेश दिया है बल्कि सम्पूर्ण प्रयत्नो द्वारा स्थिति में सामञ्जस्य लाने का प्रयत्न किया है। आचार्य द्विवेदीजी उसी आदर्शो-मुख विचारधारा के अनुयायी हैं और अपने ममस्त साहित्य में उ होन इसी लक्ष्य की पूर्ति का अविरल उद्योग किया है। प्रचलित साहित्यिक गतिविधियों और उसकी सौंदर्यमूलक साधनाओं के प्रति द्विवेदीजी की उतनी अभिरुचि नहीं जितनी मानवीय उदारता, अहिंसा, और शांति के उन प्रयत्नों की ओर वे आधुनिक समाज को अतिवाद की ओर जाने से मुरक्षित रखने की है। यही सुरक्षा का प्रयत्न द्विवेदीजी का साहित्य और उनके विचार करते रहे हैं। कतिपय साहित्यिक युगों में ऐसे लेखकों और आचार्यों की भी आवश्यकता पड़ती है जो साहित्य के वर्तमान से दृष्टि हटाकर उसके उन शाश्वत तत्वों की ओर दृष्टि निक्षेप करते हैं जो ऊपरी दृष्टि से अशुभ हैं और अनलकृत हाता हुआ भी मानवत्व की मम्भीरता का स्पर्श करता है। मानव सम्मता के दीर्घ अभियान में आलोक नक्षत्र का काम देता है। आचार्य द्विवेदीजी इसी पथ के पथिक हैं। उनकी साहित्यिक समीक्षा और गोष जिनके आधार पर उनका आचार्यत्व निर्मित है इसी मानववादी उद्देश्य की सिद्धि करते हैं। वर्तमान युग में हिंदी साहित्य की अनकानेक प्रवृत्तियों और विकास दिशाओं में एक विशेष दिशा का स्थायी और प्रभावपूर्ण सबत द्विवेदीजी के साहित्य में उपलब्ध होता है। उनकी यह जीवन दृष्टि ही उनके साहित्य प्रयासों के मूल में है और यही उनके आचार्यत्व की नियामिका शक्ति है।



## शैलीकार द्विवेदी

जब हम किसी गद्य लेखक को शैलीकारके नाम से अभिहित करते हैं तब हमारा प्रमुख लक्ष्य उस लेखक को उन विशेषताओं से होना है जिनके द्वारा वह अपने गद्यलेखन की एक इकाई निर्मित करता है। वह इकाई जहाँ उस एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करती है वहीं दूसरी ओर उस अग्य गद्य लेखकों से बहुत कुछ पयक कर देती है। यह तो स्पष्ट है कि प्रत्येक गद्यलेखक गद्य का शैलीकार नहीं होता, कई बार गद्यलेखन केवल वस्तु परिचय के निमित्त प्रयुक्त होता है। लेखन का उद्देश्य अपनी बात को किसी न किसी प्रकार अभिव्यक्त कर देना और पाठकों को उसका बाध करा देना हुआ करता है। ऐम गद्यलेखन में किसी शैली का प्रत्यय नहीं मिलता। कुछ अल्प गद्यलेखक अपनी स्वतन्त्र शैली का निर्माण कर किसी बड़े लेखक की शैली का अनुवर्तन करते हैं। यद्यपि उसमें थोड़ी बहुत मौलिकता भी हो सकती है परन्तु वह मौलिकता स्वतन्त्र शैली के स्तर पर नहीं पहुँचती। कुछ ही ऐसे लेखक हाते हैं जो अम्पासपूर्वक अपनी स्वतन्त्र शैली का निर्माण करते हैं और अपने व्यक्तित्व की छाप उस पर छोड़ जाते हैं। यह नहीं कहा जा सकता है कि इस प्रकार का प्रत्येक शैलीकार विषय वस्तु में भी कोई अपूर्व नवीनता ले ही आता है परन्तु यह कहा जा सकता है कि विषय वस्तु की नवीनता और स्वतन्त्र चिन्तन की प्रणाली अपने साथ प्रायः एक नयी शैली को जन्म देती है। जब तक लेखक के पास कुछ कहने को नहीं है और जब तक यह अपने कथन को किसी विशेष प्रणाली के माध्यम से प्रकट नहीं करता तब तक न तो कोई उत्कृष्ट शैली ही निर्मित हो सकती है और न लेखक की अपनी स्वतन्त्र

अभिव्यञ्जना पद्धति का ही विकास हा सकता है, अतएव हम कह सकते हैं कि शैली का निर्माण लेखन का विचारधारा वक्तव्य वस्तु और चिंतन या नियोजन प्रणाली का परिणाम है। जब तक उपयुक्त तथ्यों का एक साथ सयोग नहीं होता तब तक कोई भी लेखक शलीकार नहीं कहला सकता।

कभी कभी ऐसे लेखक भी दिखाई देते हैं जिनका वस्तुपक्ष या वक्तव्य का विषय अधिक सारवान नहीं होता फिर भी व वक्तव्य की ऐसी प्रणाली का निर्माण करते हैं, उसे ऐसी सज्जा देते हैं कि उसमें स्वतन्त्र शैली का भान होने लगता है पर तु यह द्वितीय श्रेणी के शैलीकार कहे जायेंगे। ऐसे शैलीकारों में चमत्कार का तत्व भाषा परिष्कार की विभूति और वक्तव्य का चटकीलापन रहा करता है किन्तु सच्चे अर्थों में ऐसे लेखक उत्तम शैलीकार नहीं कहे जा सकते। इस प्रकार हम देखते हैं कि शैली की विशिष्टता के लिए वक्तव्य की नवीनता, मौलिकता और चिंतन की सुव्यवस्थित पद्धति शैली के प्रमुख उदभावक गुण हैं।

शैली का सम्बन्ध जहाँ एक ओर विषयवस्तु से रहा करता है वही दूसरी ओर लेखक विशेष की विचार पद्धति से भी निमित्त होता है। शैली का तृतीय गुण लेखक का अपना व्यक्तित्व, उमक सस्कार, रुचि और अभ्यास आदि भी रहा करते हैं। विषय वस्तु से हमारा आशय लेखन विशेष के उस समग्र वक्तव्य से है जिस वह पाठक को हृदयगम कराना चाहता है। विचार या चिंतनप्रणाली से हमारा आशय उस नियोजना से है जिसके द्वारा विषय पूर्णतः अभिव्यक्त होता है। इसी प्रकार लेखक के व्यक्तित्व से हमारा आशय लेखक की उस वैयक्तिक अभिरुचि और प्रवृत्ति से है जो उस समस्त वक्तव्य का नियमन करती है।

साहित्य के इतिहास में गद्य के अनेक भेद भी पाये जाते हैं वे प्रायः साहित्यरूपों या साहित्य विधाओं से सम्बन्धित हैं। वर्तमान समय में नाटक एक गद्य रूप है इगो प्रकार उपन्यास और कहानी गद्य रूप हैं। निबंध और समीक्षा भी गद्य रूप हैं। और भी अनेकानेक गद्य रूप हैं और हो सकते हैं। स्वरूप भेद के कारण भी लेखकों की गद्य शैली अपना स्वरूप भेद माना करती है। नाटक एक दृश्यवाच्य है जिसका सम्बन्ध दर्शकों से भी होता है। उसके अपने कुछ नियम और बंधन हैं। वे उत्तम स्वरूप का निर्धारण करते हैं। नाटकों में वणनात्मक कोई वस्तु नहीं आ सकती, लेखक पात्रों के मुँह से ही सानुवाद कहलाना है। नाटक में कथनोपकथन पात्र और परिस्थिति के अनुसंधान होते हैं। कथानक या नाट्य व्यापार की गति-गोचर करने के लिए संवाशों की योजना होती है। चरित्रों की मनस्थिति और विचारों को भी ये संवाद प्रतिफलित करते हैं। स्पष्ट है कि नाटक

को गद्य शैली इन तथ्यों का ध्यान रने बिना एक पग भी आगे बढ़ नहीं सकती। उपन्यास का मुख्य लक्ष्य एक वृणनात्मक या साकेतिक कथानक के द्वारा पाठकों को मानव चरित्रों और मानव परिस्थितियों का बोध कराना रहा करता है। लेखक चाह तो एक-एक वस्तु की वृणना लम्बे-लम्बे अनुच्छेदों में कर सकता है। यह परिस्थिति के अनुरूप अपने वक्तव्य का मधुर या गत्वर बना सकता है। उपन्यासकार को अपनी शैली का निर्वाह करने में अधिक स्वतन्त्रता रहती है। अतएव शैली का वैविध्य उपन्यास के माध्यम से अधिक सुगमतापूर्वक प्रकट किया जा सकता है। इन दो उदाहरणों से ही हम यह समझ सकते हैं कि ऊपर शैली की जिन आधारभूत शैलियों का उल्लेख किया गया है वे इन विविध साहित्य रूपों का माध्यम ग्रहण करने पर अनेक रूपात्मक हो जाती हैं। तब हम गद्य की उन विभिन्न शैलियों का परिचय प्राप्त करते हैं जो मूलतः वक्तव्य वस्तु, नियोजन प्रणाली और लेखक के व्यक्तित्व से मिश्रित होकर भी व्यावहारिक रूप में विविध साहित्य रूपों की अनुवर्तिनी होकर प्रकट होती है। शैलियों का यह प्रायोगिक रूपों और इस रूप की सख्या या सीमा निर्धारित करना सम्भव नहीं है। तद्वत् शैली के तीन उपादान होते हुए भी व्यवहारतः उनकी सख्या अपरिमित हो जाती है। ऊपर हमने शैली के अन्तर्ग आधारी का निरूपण किया है। शैली के कुछ बहिरंग उपादान भी होते हैं। प्रत्येक शैली भाषा का परिच्छेद धारण करके ही प्रकट होती है अतएव भाषा शैली का बहिरंग उपादान है। भाषा का निर्माण अक्षरों या वर्णों, शब्दों या पदों, शब्द समुच्चयों, वाक्यावलियों, और वाक्य समुच्चयों अथवा अनुच्छेदों के रूप में देखा जाता है। ये सब भाषा के स्वरूप निर्माण के साधन हैं। परन्तु इनकी योजना अविचारित भी हो सकती है और सुविचारित भी। अविचारित योजना में भाषा के लिए उपकरण विभ्रंशित नहीं सुविचारित योजना में ये गद्य के अन्तर्गत ध्वनियाँ, लय और सगठन के ऐसे तथ्यों आनयन करते हुए या बहन करते हुए अपना अभीप्सित साहित्यिक प्रभाव उत्पन्न करने में सक्षम हो जाता है। एक गद्य लेखक शैली के इन उपकरणों के चयन में एकदम उपेक्षाशील होता है। दूसरा गद्य लेखक इनके चयन में अपनी सम्पूर्ण सौंदर्य चेतना को समुक्त कर देता है। पहला गद्यलेखक सामान्य बना लेता है जब कि दूसरा विशिष्ट बन जाता है।

पूछा जा सकता है कि शैली के इन उपकरणों का ऊपर उल्लिखित शैली के लक्षणों या उपादानों से किस प्रकार का सम्बन्ध है? लेखक की विषयवस्तु उसकी नियोजन पद्धति और उसका व्यक्तित्व एक ओर और दूसरी ओर भाषा के वृण शब्द, या वाक्य और अनुच्छेद परस्पर किस सम्बन्ध से अनुबद्ध रहते

है ? इस प्रश्न के उत्तर में हम यह कह सकते हैं शैली के उपादान या प्रेरक तत्व ही भाषा की इस समय यष्टि का निर्देश और निर्माण करते हैं । गद्य लेखक की वस्तु सब-धी चेतना ही उसकी शब्द सब धी चेतना में रूपायित होती है इस प्रकार लेखक की वस्तु चेतना ही शैली का मुख्य उपादान है । उसकी संयोजन शक्ति ही उसका सहकारी माधन है । लेखक का व्यक्तित्व ही उसका मद्दण्ड है और यही तत्व भाषा के स्वरूप संगठन प्रेरक और नियामक होते हैं । बिना वक्तव्य वस्तु के, बिना संयोजना शक्ति के, बिना लेखक के निजी व्यक्तित्व के भाषा निष्क्रिय रहती है । वह जब द्रव्य की भाँति लेखक के चिंतन और वैचारिक व्यक्तित्व से ही सजीव होती है, बारी भाषा अपने में गद्य लेखक के किसी काम की नहीं, वह शब्दों का अथहीन समवायमात्र है । वह शब्दकोष के निर्माण के लिए आधार बन सकती है किंतु गद्य शैली का सजन बिना विचार-तत्व के नहीं हो सकता । शब्द और अर्थ के संबंध में भारतीय मनोपियों ने बहुत कुछ कहा है । शब्द और अर्थ के माहिर्य से ही काव्य और कला की निष्पत्ति बटाई गई है । यह सच है कि बिना शब्द के वक्तव्य वस्तु निराधार रहती है । परन्तु यह भी सच है कि बिना वक्तव्य वस्तु के केवल शब्द निर्जीव और निष्प्राण रहता है ।

ऊपर के वक्तव्य के आधार पर हम किसी भी गद्य लेखक के वक्तव्य या वक्तव्य तत्व उसकी नियोजना पद्धति और उसकी वैयक्तिक अभिरूचियों के बीच एक सततलन देखना शैली का मूल आधार मान सकते हैं । इनमें भी वक्तव्य वस्तु की सर्वप्रमुख तत्व मानना हम अभीष्ट जान पड़ता है । यदि लेखक को कुछ कहना नहीं है तो वह बेकार बलम उठाना है, यदि कुछ कहना है तब उसकी विचार पद्धति, अनुक्रम, तक शैली, आदि का प्रश्न उठता है जिस हमने ऊपर निमोजन तत्व कहा है । अतः लेखक के व्यक्तित्व की बात उठती है और उसकी रुचियों और सस्कारों आदि की समस्या समुच्च आती है । हमारी दृष्टि में लेखक की व्यक्तित्वगत अभिरूचि और उसकी वैयक्तिक इच्छाओं और प्रवृत्तियों को सबसे अधिक गौणता देनी चाहिए यदि ऐसा नहीं किया जायगा तो लेखक अपने वस्तु का प्रस्थापन वस्तु के अनुरूप नहीं कर सकेगा वह भटक जायगा या वहक जायगा । इतिहास वास्तविक शैलीकार अपने वक्तव्य का ही निरंतर अनुगमन करते हैं और अपने व्यक्तित्व को पूर्णतः संपूर्ण करने का उद्योग करते हैं । जो वक्तव्य वस्तु है उसे अधिक में अधिक सशक्त और हृदयगम विस प्रकार बनाया जाय यह पूर्ण नियोजना का है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि महत्व की दृष्टि से प्रत्येक गद्य लेखक जो शैलीकार भी बनना चाहता है उपयुक्त क्रम

से ही अपने काय म सलग्न रहना चाहिए । यह शैलीकार की प्रथम और मौलिक भूमिका है ।

अब रहा प्रश्न वचनव्य वस्तु को विचार पद्धति को और वैयक्तिक प्रतिभा को शाब्दिक रूप देन का । यह एक विचित्र विरोधाभास है कि किसी लेखक की शैली को हम उसम शब्द वि पास शब्दों की अद्यगभता, उनकी लय, और उनकी प्रभविष्णुता क आधार पर परखने जात हैं जब कि मूलवस्तु कुछ और ही है । मूलवस्तु का सम्बन्ध तो लेखक की अतरंग चेतना और उसके बौद्धिक कौशलन आदि से है, परन्तु ये तब रूपायित होते हैं शब्दों का आधार लेकर । कदाचित इसीलिये हम शैली का अर्थ गन्तव्य और वाक्य विन्यास तक ही परिसीमित कर लेते हैं, पर वास्तविकता यह है कि जिस लेखन म वस्तु या वक्तव्य की प्रांजलता नहीं, जिसमे विचारों को सतुलित पद्धति मे व्यक्त करने का सामर्थ्य नहीं और जो अपने व्यक्तित्व की छाप अपनी वृत्ति पर नहीं डाल सकता वह शब्दों का व्यापार करके ही क्या लाभ उठायेगा ? हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि शैली की परीक्षा प्रमुखत लेखक के महत्वपूर्ण विचारों उसकी सूक्ष्म अवयवणा शक्ति और उसकी व्यक्तिगत महायता पर अवलंबित रहना चाहिए इसके पश्चात शैली का द्वितीय विवेचन गद्यलेखक के शब्द सामर्थ्य क वाक्य सौंदर्य के आधार पर किया जा सकता है । जसा कि हम कह चुके हैं यह द्वितीय प्रकार का शब्द गन या वाक्यगत सौंदर्य शैली के वास्तविक सौंदर्य की परख के लिए अपर्याप्त ही नहीं बरन अल्प मूल्य का भी है ।

## द्विवेदीजी की गद्य शैली

द्विवेदीजी प्रमुखत एक गद्यलेखक हैं । यद्यपि उनके गद्य का विस्तार अनेक दिशाओं म गतिगीत दिखाई देता है । सबप्रथम उनका रचनात्मक गद्य है जो उनकी 'वाणभट्ट की आत्मकथा' और उनके अनेकानेक निबन्धों मे परिलम्बित होता है । यहाँ मेरा आशय उनके स्वतंत्र निबन्धों से है । द्विवेदीजी के गद्य का दूसरा विस्तार उनके उन परिचयात्मक पुस्तकों म दिखाई पड़ता है जिनम प्राचीन भारतीय जीवन के विविध व्यापारों का उल्लेख करते हैं । इसे हम सक्षेप म गद्य नात्मक गद्य भी कह सकते हैं । द्विवेदीजी क गद्य की तीसरी दिशा उनकी समीक्षात्मक गद्य और उनके इतिहास पुस्तकों म दिखाई देती है, इमे हम सक्षेप में समीक्षात्मक गद्य कह सकते हैं । उनसे गद्य का चतुर्थ स्वरूप उनके शोधप्रयोगों में प्रदर्शित हुआ है जिम हम वचारिक गद्य कह सकते हैं । समीक्षात्मक गद्य

और वैचारिक गद्य शब्द यद्यपि परस्पर बहुत समीप प्रतीत होते हैं परन्तु इन्हें हमने दो पृथक् श्रेणियों में इसलिए रखा है कि समीक्षात्मक गद्य में वैयक्तिक दृष्टियों और विचारों का पक्ष अपेक्षाकृत अधिक रहा करता है जबकि विगुण वैचारिक गद्य में एक तटस्थता और वैज्ञानिकता अपेक्षित होती है। इस प्रकार द्विवेदीजी के गद्य की चार सरणिमा निर्धारित हो जाती हैं जो प्रथम रचनात्मक गद्य, वर्णनात्मक गद्य, समीक्षात्मक गद्य और वैचारिक गद्य के नाम से पहचाने जा सकते हैं।

यद्यपि इन चारों प्रकार के गद्यों के उदाहरण द्विवेदीजी की पुस्तकों में अनेकदा मिलते हैं। किसी लेखक में एक ही शैली प्रमुख होती है यद्यपि प्रायः शैलियों का अभ्यास भी वह करता रहता है। इस दृष्टि से देखने पर हम यह निश्चय करना पड़ेगा कि द्विवेदीजी के गद्य की मुख्य शैली कौन सी है और सहायक शैली में कौन है। द्विवेदीजी के समस्त गद्य साहित्य का पढ़ लेने पर यह आभासित होना लगता है कि इनकी मुख्य शैली भावात्मक और रचनात्मक हैं। इसके पश्चात् उनकी शैली का दूसरा स्वरूप उनके वर्णनात्मक प्रसंगों में दिखाई देता है। यही दो द्विवेदीजी की प्रमुख शैलियाँ हैं। जहाँ तक उनकी समीक्षात्मक शैली का प्रश्न है हम कह सकते हैं यद्यपि द्विवेदीजी एक विचारशील विद्वान हैं परन्तु उनकी समीक्षात्मक शैली में भावात्मक तत्त्व का कम सन्निवेश नहीं है। उनके हिन्दी साहित्य नामक इतिहास में इसी समीक्षात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। परन्तु उनकी यह शैली एकदम विवेचनात्मक भूमिका पर नहीं जा सकी है। वे बार-बार किसी वस्तु का स्थापन करते हैं और स्थापन कराने के पश्चात् उसकी दृष्टि के लिए प्रायः भावात्मक पद्धति का प्रयोग करते हैं। उनकी मूल चेतना में वैचारिक तथ्यों के लिए स्थान है परन्तु ये वैचारिक तथा तर्क और विश्लेषण प्रधान नहीं हैं बल्कि वे प्रायः उल्लास और उद्वेग प्रधान हैं। चाहे हम उनको आरम्भिक समीक्षात्मक गद्य साहित्य को देखें या उनके परवर्ती इतिहास को देखें सबसे प्रायः एक ही प्रवृत्ति दिखाई देती है। विवेचन और विश्लेषण की अपेक्षा वे प्रभावमूलक अभिव्यक्तियों पर अधिक विश्वास रखते हैं और यह एक मानवतावादी लेखक के लिए बहुत कुछ स्वाभाविक और अनिवार्य भी है फिर भी हिन्दी के इतिहास में समीक्षात्मक शैली की भाँति द्विवेदीजी मुमुग्घटित विवेचन की भूमि पर प्रायः कम ही गये हैं। इसका मुख्य कारण उनके व्यक्तित्व में देखा जा सकता है।

इसी प्रकार द्विवेदीजी के शोधप्रयोगों में भी भावात्मक पक्ष का प्राधान्य है। उनके समस्त ऐतिहासिक तथ्य भी रहते हैं और प्रचुर मात्रा में रहते हैं परन्तु उन तथ्यों को उपस्थापित करके ही समाप्त उन्हें सतोष नहीं हुआ और वे उन तथ्यों का आधार सत्तर अनुमानाश्रित निष्कर्ष देने लगते हैं जो किसी भी शोध

कर्त्ता के लिए यथेष्ट रूप में समीचीन नहीं कह जा सकत। यदि एक ओर हम पीतावरदत्त ब्रह्मचान की शोधात्मक शैली को लें और दूसरी ओर द्विवेदीजी की शैली को लें तो दोनों का अंतर स्पष्ट दिखाई देगा। एक में वस्तुमत्ता और तार्किक पद्धति का याग है तो दूसरे में वस्तुमत्ता हाते हुए भी उसका एकात्मिक प्रयाग नहीं दिखाई देता। सम्भवतः द्विवेदीजी का शोधकाय साहित्य की ऐसी धाराओं और व्यक्तित्वों से सम्बंधित हैं जिनको शिष्ट समाज में सम्पूर्ण स्वीकृति प्राप्त नहीं हुई। उनका पक्ष लत हुए द्विवेदीजी का बार-बार भावात्मकता का सहारा लेना पडा है। यह भी एक विचारणीय तथ्य है, द्विवेदीजी के पूर्व आचार्य रामचन्द्र गुकल ने समीक्षा और शोध की जो प्रणाली स्वीकार की थी वह वस्तुमूलक और तथ्यपरक है। उसमें अधिक भावात्मक या बौद्धिक चिन्तन के लिए स्थान नहीं। गुकलजी अपने तथ्यों का और विषयवस्तु का निरूपण और प्रतिपादन आद्यत तक और साक्षी की भूमिका पर किया करते थे। उनके गद्य लेखन में इसीलिये एक प्रकार की प्रामाणिकता संस्थित है, उनका विरोध तभी किया जा सकता है जब किसी नवीन तथ्य का परिचय हो जिसके आधार पर गुकलजी का निर्देश अधूरा या अपूण प्रतीत हो। द्विवेदीजी के सम्बंध में यह बात नहीं कही जा सकती, उनके बहुत से निर्देश हैं। उनकी निजी अभिरुचि अनुमान और कल्पना पर आश्रित है।

यहां हमारा मुख्य विवेच्य द्विवेदीजी की गद्य शैली है और जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं उनकी गद्य शैली में भावात्मक शैली की प्रमुखता है।

अब प्रश्न यह है कि जब द्विवेदी का मुख्य काय शोध और समीक्षा से सम्बंधित है तब इन्होंने अपने विषयानुरूप शैली का निर्माण क्यों नहीं किया। इसके उत्तर में हम कह सकत हैं कि द्विवेदीजी केवल समीक्षक और शोधकर्त्ता ही नहीं, उद्दान गोप को शाध और समीक्षा की समीक्षा मानकर काय नहीं किया, बल्कि वे मूलतः एक सांस्कृतिक लेखक और साहित्यसंस्था भी हैं। उनके ये पक्ष इतने प्रमुख हैं कि उनकी द्वाप उनकी गद्य शैली पर अविच्छेद्य रूप से पडी हुई है। उनकी प्रतिभा की मुख्य स्फूर्ति उनके वाणभट्ट की आत्मकथा तथा उनके निबंधों में देखी जाती है। प्राचीन भारतीय साहित्यिक और सांस्कृतिक गतिविधियों में उनका घनिष्ठ सम्बंध है। इसीलिए उनके परिचयात्मक निबंध भी जानकारियों से भरे हुए हैं। समीक्षा और शोधकाय तथा उनके आनुपगिक प्रयोगों, के प्रति उनकी दिलचस्पी भारतीय विचारधाराओं को देखने और परखने के फलस्वरूप है। इन समस्त साहित्यिक व उन अंशों पर विशेष आप्रह करने में उनकी दृष्टि मानवतावादा तत्त्व की पूर्ति करती रही है। यदि उन्होंने

हिंदी के अथ समीक्षकों की ओर विशेषकर गुवलजी की पद्धति को अपनी समीक्षा और शोधकाय में नहीं अपनाया तो इसका कारण स्पष्ट है। उनका लक्ष्य तक से किसी वस्तु को सिद्ध करने का नहीं है, बल्कि पाठकों को अधिकाधिक अपने विचारों की ओर आकृष्ट करने का है। कदाचित् इसीलिये उनका समस्त लेखन भाव प्रधान गद्य शैली का प्रतिमान बन गया है।

अब हमें द्विवेदीजी की गद्य कृतियों को लेकर शैली की दृष्टि से उनका परिचय देना चाहिए। निश्चय ही द्विवेदीजी की वास्तविक अभिरुचि और प्रतिभा उनके रचनात्मक साहित्य में देखी जाती है और उनमें भी 'बाणभट्ट' की आत्म कथा' शैली की दृष्टि से उनकी सबसे अधिक महत्वपूर्ण कृति सिद्ध होती है। स्वयं बाणभट्ट की गद्यशैली इतनी वाग्यात्मक और आलंकारिक रही है कि इसकी काल्पनिक आत्मकथा लिखते हुए उस अलंकृत शैली का आकषण छूट नहीं सका है। यद्यपि द्विवेदी जी ने अपने इस उपन्यास में कतिपय चरित्रों की भी नियोजना की है और बाणभट्ट के समकालीन भारतीय जीवन की ऐतिहासिक विशेषताओं को भी प्रकाश में लाये हैं। परन्तु यह सब काय उन्होंने एक ऐसी गद्यशैली के माध्यम से किया है जो स्वतः एक उल्लेखनीय वस्तु बन गई है। द्विवेदीजी की वक्तव्य वस्तु भले ही बाण के युग के साधनिक जीवन के निरूपण की रही हो परन्तु उन्होंने यह निरूपण स्वयं बाण की शैली को अपनाकर किया है। हम कह सकते हैं कि बाण की आत्मकथा का अर्थ ही है बाण द्वारा रचित आत्मकथा। द्विवेदीजी को अपने समस्त व्यक्तित्व को बाणभट्ट के साथ संयोजित कर देना पड़ा है और इसीलिए उन्होंने उस आलंकारिक और काव्यात्मक शैली का प्रयोग किया है जो बाणभट्ट के नाम से प्रसिद्ध हो चुकी है। अपनी इस पुस्तक में प्राचीन संस्कृत वाक्य के और विशेषकर बाणभट्ट की कृतियों के सदभोल्लेख किए हैं। वे भी इस बात की सूचना देते हैं कि द्विवेदीजी बाणभट्ट की शैली का ही नहीं, उनके उपमानों और उपमेया का, उनकी कल्पनाप्रवण भावुकता का तथा उनके वस्तुनिर्देशों का भी अनुसरण करते रहे हैं। परन्तु इन सब तथ्यों के रहते हुए भी द्विवेदीजी की वैयक्तिक अभिरुचि इस शैली में प्रतिफलित हुई है।

✓ इस उपन्यास में द्विवेदीजी की यह विशेषता भी देखी जाती है कि जहाँ वे विलक्षण वस्तुओं का वर्णन छोड़कर सामान्य दृश्य चित्रणों में आते हैं या पात्रों की क्रियाशीलता और उनकी दैनिक चर्या का वर्णन करते हैं वहाँ वे संस्कृत शब्दों का परिचय कर अनिश्चय सरल और बोलचाल की भाषा का प्रयोग करने लगते हैं। यद्यपि परस्पर विरोधी वाक्य संगति का प्रयोग करने में द्विवेदीजी एक मूलभूत कठिनाई का अनुभव कर सकते थे परन्तु उन्होंने इस प्रकार की कठिनाई का



अनुभव नहीं किया। उनके उपयास में जहाँ चमत्कार पूरा प्रसंगों के आलोकन में अलंकार बहुल सस्वनगन्धित भाषा का विन्यास है वहाँ सामान्य वस्तु वर्णन में उहोने ठेठ बोली का ही प्रयुक्त किया है। द्विवेदीजी की सामान्य गद्यशैली में पाठक को अपने साथ लेकर चलन का जो उद्देश्य रहता है इसके कारण वे अपने समीक्षात्मक और वार्तिक निबंधों में भी प्रायः ठेठ भाषा का अपनाते हैं। इस प्रकार उनके उपयास में जहाँ एक ओर आलंकारिक भाषा और अपरिचित शब्दावली का प्रयोजनपूर्ण उल्लेख है वहीं दूसरी ओर उनके अतिशय सरल और सीधी सादी चमत्की भाषा का पुट भी पूरी तरह मिला हुआ है। इस अंतर के द्वारा द्विवेदीजी ने अपने उपयास को शैली की दृष्टि से बहुत अधिक आकर्षक बना लिया है। हम यहाँ द्विवेदीजी की अलंकृत और सहज शैलियों के उदाहरण देंगे।

'भट्टिनी का मुखमण्डल प्रभातकालीन नवमल्लिका की भाँति खिल गया। समयमान मुख की कपोल पालि विकसित हो गई। नयन-कोरको में विक्रम आनन्द रेखा विद्युत् की भाँति खेल गयी। जलाटपण्ट की बलिया बिलीन हो गई और वह अष्टमी के चन्द्रमा के समान मनोहर हो गया। उनके अशोक किसलय के समान आताम्र अधरोष्ठ चञ्चल हो उठे। घोर प्रसन्न भाव से बोली— कौन कहता है भट्ट कि तुम कवि नहीं हो? शोक बनाना ही तो कविता नहीं है। निरंतर पवित्र चित्त के कारण तुम्हारा चित्त विगत कल्प हो गया है। तुम्हारे चरित्रपूत हृदय में सरस्वती का निवास है। तुम्हारे अधरो से विमलधारा की भाँति वाणी का स्रोत झरता रहता है। कौन कहता है कि तुम कवि नहीं हो? जिस दिन तुम्हारी शक्तिशालिनी वाकस्रोतस्विनी से इस धारा का कल्प धुल जायगा, उस दिन लोगों को सचमुच भाँति मिलेगी भट्ट, कविता शोक को नहीं कहते। हमारे यवन साहित्य में गद्य को वाय का 'निकप' कहा है। छन्द और अलंकार तो कविता के प्राण नहीं हैं। प्राण है रस, विन्दु सात्विक रस। तुम सच्चे कवि हो। मेरी बात गाठ बाध लो, तुम इस आर्षावत्त के द्वितीय कालिदास हो।'

अब सहज शैली का उदाहरण देखिए आय सभासदों, उत्तरपथ के लाख लाख नौजवानों ने क्या करण बल्य धारण किया है? क्या वे बड़ों और बालकों, बटियों और बहूओं दबमदिरों और बिहारों की रक्षा के लिए अपने

प्राण नहीं दे सकते ? क्या इस देश के विद्वानों में स्वतंत्र सचटन बुद्धि का विलोप हो गया है ? आचार्य सवपाद का पर्ण पढ़कर मेरा कंठ रोप और लज्जा से सूख जाता है । इस उत्तरापथ में लाख-लाख निरीह वटुओं और वेदियों के अपहरण और विषय का व्यवसाय क्या नहीं चल रहा है ? अगर दक्षिण तुवर मिलिंद का हृद्य थोड़ा भी सम्बेदनशील होता तो आज स बहुत पहले उन्हें मूर्च्छित होकर गिर पड़ना था, क्या निरीह प्रजा की वेदियाँ उनकी नयनतारा नहीं हुआ करती ? क्या राजा और सनापति की वेदियों का खो जाना ही मसार को दुघटनायें हैं ? ओर जाय सभापदों, मेरी ओर देखो । मैं तुम्हारे देश की लाख-लाख अवमानित, लाछित और अकारण दण्डित वेदियाँ में से एक हूँ ।<sup>१</sup> इन गम्भीर वाक्पाथली के पश्चात् सहज भाषा का प्रयोग उपयास में एक ईप्सित प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है । द्विवेदीजी यह अच्छी तरह समझते थे कि बाणभट्ट की अलकृत भाषा हिन्दी में बहुत दूर तक नहीं चल सकती है इसलिए उन्होंने धारी धारी से सहज और अलकृत भाषाओं का प्रयोग किया है । परन्तु भाषा चाहे जो हा द्विवेदीजी की भावनात्मक शैली दोनों में देखी जा सकती है । वे वस्तुओं का वर्णन यथासंभव या फोटोग्राफिक पद्धति से नहीं करते बल्कि चुनी हुई विशिष्ट वस्तुओं को लेकर अपना वाक्य निकाल लेते हैं ।

ऊपर उल्लेख की गई द्विवेदीजी की गद्य शैली में मिलती-जुलती उनके निबंधों की शैली है, अंतर है तो उतना ही कि जहाँ उपयास में बाण की भाषा और उनके युग की असाधारणता के अनुरूप द्विवेदीजी की अलकृत पदावली का प्रयोग करना पड़ा है वहाँ अपने नियमों में वे अधिक सरल और आरम्य हैं । यद्यपि व्यक्तिगत निबंधों में गम्भीर तथ्यों का भी आनयन हुआ है परन्तु अपनी व्यक्तिगत सहानुभूति, भावनात्मकता, छोटे छोटे घासघाना में काम की बातें कहने की प्रवृत्ति तथा अनन्य पाठकों को अपने समझाने रखकर प्रसन्न करने की भावना द्विवेदीजी के निबंधों का विशेष लक्ष्य बना देने हैं । निबंध के शेष में द्विवेदीजी आचार्य पुस्तक की मिलती हुई भिन्न दृष्टि लेकर चलते हैं जबकि आचार्य शुक्ल के निबंध विषय प्रनिपादन का लक्ष्य रखते हैं । द्विवेदीजी के निबंध एक सहज उल्लास और सांस्कृतिक चेतना के परिचायक हैं । शुक्लजी की शली बौद्धिक है, द्विवेदीजी की शली भावनात्मक है । यहाँ उनकी निबंधों में व्याप्त शली का एक उदाहरण देते हैं ।

“अच्छा समझिये या दूरा, मेरे अन्दर एक गुण है, जिसे आप बालू में से तेल निकालना समझ सकते हैं। मैं बालू में से तेल निकालने का सचमुच ही प्रयत्न करता हूँ, वशतः कि वह बालू मुझे अच्छी लग जाय और यह बात अगर छिपाऊँ भी तो कैसे छिप सकेगी कि मैं अपनी जन्मभूमि को प्यार करता हूँ।” नेह की कोई रहे सखि लाज सो ? कैसे बचे जल जाल के बाँध ?” मेरा विचार है कि साहित्य का इतिहास कुछ बड़े बड़े व्यक्तियों के उदभव और विलय के लेखे ओखे का नाम नहीं है। यह जीवन्त मनुष्य के धारावाहिक जीवन के सारभूत रस का प्रवाह है। मेरे गाँव में जो जातियाँ बसी हैं वे किसी उजड़े महल या गहरी हुई ईंटों से कम महत्वपूर्ण तो हैं ही नहीं, अधिक महत्वपूर्ण हैं। मेरे इस छोटे से गाँव में भारतवर्ष का बहुत बड़ा सांस्कृतिक इतिहास पढ़ा जा सकता है।”

इन स्वतन्त्र निबन्धों के अतिरिक्त ‘अशोक के फूल नाम की पुस्तक में कुछ साहित्य विषयक निबन्ध भी हैं जो समीक्षात्मक शैली में लिखे जाकर मुक्त शैली में लिखे गये हैं। इन निबन्धों में भी प्रायः वही विनोयतायें मिलती हैं जैसी द्विवेदीजी के वैयक्तिक निबन्धों में प्राप्त होती हैं। इनमें से जिन निबन्धों में द्विवेदीजी की दृष्टि आकलनात्मक है उनमें तो शाश्वत बहुत सी सामग्री मिल जाती है परन्तु जिनमें आकलन का पक्ष प्रधान नहीं है उनमें द्विवेदीजी की वही मुक्त आसक्त प्रणाली सवत्र प्रसारित है। इस प्रकार द्विवेदीजी के अधिकांश साहित्यिक निबन्ध प्रवाह मूलक ही हैं। उदाहरण के लिए ‘आलोचना का स्वतन्त्र मान’ शीर्षक निबन्ध में द्विवेदीजी की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं।” अध्यापक जीवन का एक बड़ा भारी अभिशाप यह है कि आपको ऐसी सफ़ाई बातों को पठना-सुनना पड़ेगा जिसे आप न तो हृदय से स्वीकार करते हैं और न साहित्य के लिए हितकर मानते हैं। यहाँ आदमी को आपा खोकर ही सफलता मिलती है। अगर आपने कहीं स्वतन्त्र मत प्रकट किया तो साथ ही विद्यार्थी की आगाह कर देना पड़ेगा कि देखो, अमुक आदमी जिसकी धार परीक्षाक मण्डली पर जमी हुई है ऐसा न मानकर ऐसा मानता है। प्रकृति प्रसंग यह है कि ऐसा न मानकर ऐसा मानने वालों की परस्पर विरोधी उक्तियों पर अगर कोई सचमुच गम्भीरतापूर्वक विचार करे तो उसके लिए शीघ्र आपके बगल में जो पागलखाना है उसमें शरण लेनी पड़ेगी। स्पष्ट है कि इस शीर्षक के समीक्षात्मक निबन्ध में इस प्रकार की स्वच्छन्द वार्तालाप की शैली के लिए हममें से शायद ही कोई तयार हो।

## उर्णनात्मक या परिचयात्मक या आकलनात्मक शैली

जिन निबन्धों में द्विवेदीजी ने विशुद्ध परिचयात्मक भूमिका ग्रहण की है, उन्हें अधिक सज्जत और वस्तुमुखी होना स्वाभाविक भी है क्योंकि वहाँ बहुत सी सामग्री को संक्षेप में रखने की आवश्यकता पड़ती है जिसके कारण लेखक अधिक विषयांतर नहीं कर सकता। उदाहरण के लिये 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में आये हुए संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त परिचय, बौद्ध साहित्य, बौद्ध संस्कृत साहित्य, जन साहित्य, कवि प्रसिद्धियाँ और स्त्रीरूप शीपक निबंध मुख्यतः आकलनात्मक हैं। एक निबंध की सीमा में समस्त बौद्ध साहित्य या सारी काव्य प्रसिद्धियों को रख सकना तभी संभव था जब द्विवेदीजी इन विषयों की उपलब्ध सामग्री को कस कर एक लेख में उपनिबद्ध करते। यही उन्होंने किया भी है। इसी प्रकार प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद शीपक पुस्तक में द्विवेदीजी ने भारतीय साहित्य में बिखरी हुई कलात्मक विनोद की सामग्री को एकत्र करने का प्रयास किया है। यह पुस्तक बहुत कुछ सग्रहमूलक है। यद्यपि इस सग्रह में भी लेखक का परिश्रम परिलक्षित होता है। ऐसे आकलनात्मक निबंधों से एक उद्धरण देकर हम द्विवेदीजी की इस द्वितीय शैली का स्वरूप उद्धृत करना चाहते हैं 'नागाजुन माध्यमिक सम्प्रदाय के आचार्य थे। उन्होंने अपनी माध्यमिक कारिका पर स्वयमेव अकुत्तीभया नामक टीका लिखी थी। भारतीय दार्शनिक और वैज्ञानिक साहित्य में यह प्रथा खूब लोकप्रिय हुई थी। कहते हैं नागाजुन ही इस प्रथा (कारिका और टीका दोनों लिखने की प्रथा) के आदि प्रवर्तक हैं। नागाजुन के दो और ग्रन्थ हैं, युक्तिपाष्टिका और श्रीलक्ष्मि। इतिहास ने दूसरे को भारतवर्ष में खूब प्रचलित देखा था। आयदेव नागाजुन के शिष्य थे। इन्हीं को वाणदेव भी कहते हैं। शायद इनकी एक आँख बानी थी।'

## समीक्षात्मक शैली

द्विवेदीजी की समीक्षात्मक शैली जैसा कि हम कह चुके हैं सामान्यतः उनके इतिहासग्रन्थ में और उनसे कतिपय निबंधों में प्राप्त होती है। इन्हें देखने से पता होता है कि जब तक द्विवेदीजी विवरण और विश्लेषण की भूमि पर रहते हैं (यद्यपि विश्लेषण कम ही मिलता है) तब तक उनकी समीक्षा सघट

रहती है। ऐसे निबन्धात्मक द्विवेदीजी प्रायः प्राचीन विचारा का सदम लेकर समीक्षा करते हैं। उदाहरण के लिए 'प्रसादजी' की कामायनी गीयक सख म उ होने राजशेखर के काव्य भीमासा प्रायः व प्रसंग को उठाया है। इसी प्रकार व यत्र तत्र एक अग्रेज समाचोचक न कहा या, वैसी वाग्यावली का प्रयोग करते हैं जिसमें कथ्य विषय का सामान्य उल्लेख होना है विशेष उल्लेख नहीं होना। द्विवेदीजी अपने समीक्षात्मक निष्कर्षों में अनेक बार बहुत ही सटीक निणय देते हैं। परन्तु विवेच्य विषय की समग्रता और विवेचन प्रणाली की आनुक्रमिकता द्विवेदीजी की प्रिय प्रणिया नहीं जान पड़ता है। कथाचित्र इसीलिए उनके समीक्षात्मक निबन्धों में समीक्षात्मक की अपेक्षा निबन्धमूलक अधिक हो गया है।

अपने इतिहास में द्विवेदीजी ने अनेक कविया पर विचार किया है परन्तु क्या गुकलजी की भांति उन्होंने सब कवियों की सुव्यवस्थित और समग्र विवचना की है। क्या उनका एक एक अनुच्छेद किसी आनुक्रमिक सूत्र से बंधे हुए है? हम इतिहास के विवेचन में इस बात का निर्देश कर चुके हैं कि विषयों और कविया के केन्द्रीय विशेषता के परिदर्शन में उनकी प्रतिभा स्फुरित रहती है। परन्तु किसी कवि या उसकी कृति के अन्तर्गत में प्रवेश कर समस्त विवरणों में उसकी विशेषता का उदघाटन करना द्विवेदीजी की रुचि और प्रवृत्ति के अनुरूप नहीं है। कभी कभी केन्द्रीय विशेषता का पकड़ में द्विवेदीजी यथेष्ट रूप से समर्थ नहीं होते। हम इसका उदाहरण भी दे चुके हैं। वचन जैसे कुण्डाओं से परिवर्द्ध कवि का मस्त्रमौला और कर्कश आदि विशेषण देकर द्विवेदीजी ने वचन के काव्य की मूल विशेषता पर यथेष्ट प्रकाश नहीं डाला। इसी प्रकार अथ अवसरो पर भी वे यत्र-तत्र अपन भावावग में अतिनिहित वस्तु की परख करन में दूरा नयी हो गए हैं। परन्तु अधिकतर उनके कवि और उसकी कृति की मूल विशेषता को पहचानने की बड़ी अच्छी गति है। द्विवेदीजी की इस समीक्षात्मक शली पर उसकी मूल प्रवृत्ति को देखते हुए हम प्रभावामिष्यजक शली भी कह सकते हैं। आचार्य गुकलजी ने इन पद्धति को समीक्षात्मक की मूल्य बात पद्धति नहीं मानी है। परन्तु किसी कवि के काव्य को पढ़ते हुए सहजभाव से उसके प्रभावों को ग्रहण करते जाना और उन ही सहजभाव से उसे शब्दों के साक्ष में ढाल देना एक विशेष प्रकार की प्रतिभा की अपेक्षा रखता है। वह प्रतिभा समीक्षात्मक की अपेक्षा सहृदयता-यथेष्ट अधिक होती है। यहाँ हम द्विवेदीजी के सामान्य समीक्षात्मक शली का एक उदाहरण देते हैं।

द्विवेदीजी जिस युग में लक्ष्मी चलाना शुरू कर रहे थे, उस युग का

व्यक्तित्व भी उनकी रचनाओं में स्पष्ट ही झीख जाता है। उनके युग का भारत-व्यप पुरान और नये के सघष में से गुजर रहा है। वह उत्तमुक्तता क साथ नई नई गवषणाओं को मुना चाहता है फिर कर पीछे की बार देखकर यह भी जान लेना चाहता है कि उसक पूव पुरुषा ने एसी बात कहा है या नही और सदेह क साथ अपन गान विज्ञान के आधार की जांच कर लेना चाहता है। उनके सामन नवमयुग का द्वार खुल गया है। अपरिचित स्वण युग विरमति के गहन अपकार स धीरे-धीरे सिर उठा रहा है। नवीन के प्रति उत्कट नीतुव्य और प्राचीन क प्रति दृढमनीय निष्ठा, यही उम भारतव्यप का परिचय है। द्विवेदी जी १ इन दोनों बातों का बहा ही प्रौढ़ सामजस्य क्रिया। वे शोज-शोजकर नवीन विषयों का गान सचय करत रह और प्राचीन गौरव की याद दिलाने रहे। मवक उ होन युग की इस विशेषता को अपने व्यक्तितगत सयम, निष्ठा और ईमानदारी म अधिकाधिक आकषक बना दिया। यह सब कुछ उह एकदम नये सिर से करना पडा।

### विशुद्ध विचारात्मक शैली

जसा कि हम उपर उल्लेख कर चुके है आचार्य द्विवेदीजी ने कुछ शोध ग्रन्थ भी लिखे हैं जिनमें म हिन्दी साहित्य का आदिकाल, 'मध्यकालीन घम-साधना नाथ सप्रदाय और कवीर प्रमुख हैं। इन चारों ग्रन्थों में द्विवेदीजी की शैली अपेक्षाकृत अधिक समत है। परन्तु फिर भी वह नितान वस्तुमुखी नही बन सनी है। द्विवेदीजी क व्यक्तित्व म जो सहजता, और उत्सास का भाव है वह बार बार उभर कर उनकी कृतियों म आता है। उनकी प्रणाली तकप्रधान न हाकर बहुत कुछ रचनात्मक बन बठी है। विशुद्ध वैचारिक विषय स्थापन में भी द्विवेदीजी अपनी तरफ शैली को छोड नही पाते। उदाहरण के लिए पैशाची भाषा का विचार करते हुए वे लिखते हैं 'गुणाडम पंडित ने जो मुन्य तो व्यथित होकर पुस्तक जला देने की ठानी, शिष्यों के आग्रह पर उहोंने एक बार क्या मुन्य देने का अनुग्रह किया, आग जला दी गई। पंडित दासन बाघकर बैठ गये। एक-एक पत्रा पढ़कर आग म जला दिया जाने लगा। क्या उनकी मधुर और मोहक थी कि पशुपती, मय और व्याघ्र खाना पीना छोडकर, चर त्रिमार कर मुन्ये सगे। उनके मांस शूष गये। जब राजा की रघनगाला में ऐसे ही पशुओं का मांस पड़ेगा तो शुद्ध मांस के भक्षण से राजा के पेट में दद हुआ।

द्विवेदीजी की यह रोचक शैली साहित्य के साहित्य की तो सप्टि करती है पर इसके द्वारा समग्र बौद्धिक विवेचन में कठिनाई आती है। इसी प्रकार के अपने वचारिक निबन्धों में इतना वणनारमण हो जाते हैं कि उनके वचारिक निबन्ध आख्यानात्मक प्रतीत होने लगते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि वे अपने पाठकों को अपने साथ रखने के निमित्त इस आकषक शैली को अपनाते हैं। दूसरे गण्य में उनका ध्यान केवल विषय की ओर न रखकर पाठकों की रुचि और अरुचि की ओर भी रखा करता है। इस प्रकार का दृष्टिकोण वचनिक शैली के निर्माण में आणिक रूप से बाधक बन जाता है। यह द्विवेदीजी की सहजता की अभिरुचि का ही परिणाम है कि वे अपने वचारिक निबन्धों में भी वणनात्मक या कहानी की सी शैली का प्रयोग करते हैं और वस्तुमूलक वणनों में भी काव्यात्मकता लाने का प्रयत्न करते हैं। एक स्थान पर वे लिखते हैं, अद्यपि हिन्दी साहित्य के इस काल की कहानी को स्पष्ट करने का प्रयत्न बहुत दिनों से किया जा रहा है तथापि उसका चेहरा अब भी अस्पष्ट है—गुबलजी ने प्रथम बार हिन्दी साहित्य के इतिहास के कविवृत्त संग्रह को पिठारी से बाहर निकाला। पहली बार उमम श्वासोच्छ्वास का स्पन्द सुनाई पड़ा। पहली बार जीवन्त मानव स्वरूप में गतिशील मानव रूप में दिखलाई पड़ा। स्पष्ट है यथाव्यक्ति चित्रात्मकता को साथ लेकर चलें। और वस्तु स्थापन के नये तुल्य प्रयोग की शैली स्वीकार नहीं की गई है।

द्विवेदीजी के वचारिक निबन्धों ने अनुमान का आशय भी कम नहीं लिया गया है। ऐतिहासिक चर्चा में वे अनेक बार सामान्य अनुश्रुतियों को प्रामाणिकता देने लगते हैं और तथ्यमूलक पद्धति से दूर चले जाते हैं। पथ्वीराज रासो में सजितन अक्ष को उठाने प्रामाणिक मानन की बात कही है वह भी एक अनुमान ही है। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार द्विवेदीजी के साहित्यिक आकलनों में कल्पना और अनुमान का प्रचुर योग रहता है। उसी प्रकार उनकी शैली में काफी स्वतन्त्रता और स्वेच्छामूलकता रहा करती है। उनके विचारात्मक ग्रन्थों की शैली विद्युद् विचारात्मक नहीं कही जा सकती।

परन्तु ऊपर के विवेचन का यह अर्थ नहीं है कि द्विवेदीजी की इन शोधात्मक और विचारात्मक कृतियों में तथ्यमूलक शैली का निरन्तर अभाव है। जब कभी वे इधर उधर से हटकर अपने विषय को प्रमाणयुक्त बनाना चाहते हैं तब वे ऐतिहासिक वस्तु का समुचित उपयोग भी करते हैं। जहाँ इतिहास उनका साथ नहीं देता अर्थात् जहाँ ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं रहती वहाँ द्विवेदीजी

## शलीकार द्विवेदी

अनुमान का आश्रय लेते हैं। हमें यह भी जान रचना होगा कि शोध के क्षेत्र में द्विवेदीजी का उद्देश्य भारतीय सभ्यता के अवकारमय युगों को प्रकाश में लाना है। शोध के लिए शोध उनका लक्ष्य नहीं है वैसी स्थिति में यदि उनके शोधार्थक एवं विचारात्मक ग्रंथों में विमुक्त शोध की शैली नहीं अपनायी गई है तो हम आश्चर्य नहीं करना चाहिए।

यहाँ हम एक उदाहरण द्विवेदीजी की तथ्यमूलक विचारात्मक शैली का भी देना चाहते हैं। सभ्यता में ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम से सबद काव्यों का चरित, विलास, विजय, आदि नाम दिए गए हैं। सबसे पुराना काव्य तो, जैसा पहले ही बताया गया है, 'हृषिकेश' नामक आख्यायिका ही है। इसके बाद पद्म गुप्त का नवसाकचरित (१६०० ई० के आसपास) और विल्हण का विभ्रमाक्ष-देवचरित नाम के ऐतिहासिक काव्य मिलते हैं। ये दोनों काव्य हमारे आनीष्य काल के आरम्भ के हैं और ऐतिहासिक काव्यों की तत्कालीन परिस्थिति को बतलाते हैं। विभ्रमाक्ष-देव चरित राजकीय विवाहों और युद्धों का काव्य है। राजाओं के गुणानुवाद के लिए उन दिनों ये ही दो विषय उपयुक्त समझे जाने लग थे। दोनों में ही कल्पना का प्रचुर अवकाश रहता था और सभावनाओं की पूरी गुजाइश रहती थी। यह वस्तुतः इन स्तुतिमूलक कल्पनाप्रवण काव्यों में इतिहास का केवल सुदूरम्भ मात्र ही है। यद्यपि यह उद्धरण भी तार्किक पद्धति का न होकर वस्तुनापन की पद्धति का है फिर भी इसमें विचारात्मक और तथ्यमूलक तत्व विशिष्ट मात्रा में देखे जा सकते हैं।

## निष्कर्ष

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि प्रत्येक विगिष्ट लेखक की अपनी स्वतंत्र शैली होनी है जिसके अन्तर्गत तीन तत्वों का देवना आवश्यक होता है। वे तीन तत्व हैं—(१) लेखक की अल्प वस्तु और उनके अनुरूप उमरी प्रकाशन विधि (२) विचारों की नियोजित करने की विधि या प्रक्रिया इसमें हम चित्त शैली भी कह सकते हैं (३) लेखक की अपनी अभिरुचि, सञ्चार, अल्पयन और अभ्यास यह शैली का व्यक्तित्व पण है। ये तीनों ही पक्ष मिलकर शैली के अन्तर्गत का निर्माण करते हैं। और इनकी सम्यक् और समीकृत योजना से ही शैली का स्वरूप उत्तरूप की भूमिका पर पहुँचता है। इनमें सम्पूर्ण सामग्र्य स्थापित न होने पर अपर्याप्त विषय वस्तु, चिन्तन शैली, और लेखक की निजी अभिरुचि के बीच



पूण सतुलन न होने पर शैली का आदर्श स्वरूप उद्भासित नहीं होता ।

आचार्य द्विवेदीजी की गद्यशैली की चर्चा करते हुए हमें ऊपर जा कुछ देखा और समझा है उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि द्विवेदीजी मुख्यतः रचनात्मक या भावात्मक शैली के सट्टा हैं । उनका यह शैली उनके व्यक्तित्व निबन्धों में तथा उनकी 'वाणभट्ट की आत्मकथा' में अनिश्चय प्रच्युत और व्यथाहृत रूप में प्रकाशन में आई है । इस रचना शैली में भी द्विवेदीजी सस्टु-निष्ठ पदावली और बोलचाल की पंजावली का अदभुत संयोग करते हैं जो कदाचित् उनकी शैली का सर्वप्रमुख गुण है । वाणभट्ट की आत्मकथा की शैली का विचार करते हुए हम इस तथ्य का निर्देश कर चुके हैं । जिस सहज रीति से द्विवेदीजी सस्टुनिष्ठ और काव्यमयी पदावली से सहसा सामान्य बोलचाल की भाषा पर उतर आते हैं और फिर भी उपयोग के स्वारस्य में व्याघात नहीं पढ़ा देते । ये उनकी शैलीगत उत्तम विशेषताएँ हैं द्विवेदीजी के व्यक्तिक निबन्धों की शैली भी रचनात्मक एवं भावात्मक है । परन्तु उपयोग की अपना निबन्ध में वह शैली अधिक सहज और आसानीपूर्ण हो गई है । हम कह सकते हैं कि द्विवेदीजी की यह शैली ही उनकी सामान्य और प्रतिनिधि शैली है । अतः तक उनकी समीक्षात्मक और विचारात्मक शैलियों का प्रश्न है हमने देखा कि उक्त शैलियों में वस्तुमुखी विवेचन का पक्ष उतना परिनिष्ठित नहीं है इसका कारण यह है कि द्विवेदीजी समीक्षात्मक और विचारिक निबन्धों में पाठक का सीधा साहचर्य चाहते हैं जो इस प्रकार के निबन्धों के लिए सदा समीचीन नहीं है । समीक्षा और विचारणा में लेखक को अधिक से अधिक तटस्थ तन्मूलक और वस्तुमुखी होना चाहिए । द्विवेदीजी की शैली में इन बातों का सम्बन्ध निर्वाह नहीं हो पाया है । अतएव निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि आचार्य द्विवेदीजी की शैली व्यक्ति प्रधान है और यह रचनात्मक प्रक्रिया के लिये जिनकी उपयोगी है उतनी समीक्षात्मक प्रक्रिया के लिए नहीं ।

## शैली का बहिरंग पक्ष

द्विवेदीजी की गद्यशैली की अन्तरङ्ग विशेषताओं पर विचार करने के परवन्त अब हम उनकी शैली के बहिरङ्ग स्वरूप पर भी आवश्यक चर्चा करना चाहते हैं । शैली के बहिरंग स्वरूप से हमारा आशय लेखक के शब्द चयन से लेकर जहाँ तक उस समस्त बाह्यग योजन से है जिसके द्वारा वह अपने वक्तव्य को अधिक से अधिक प्रभावशाली बनाया करता है । शब्दचयन में जहाँ एक ओर अर्थ प्रकाशन का समान अन्निहित रहती है वही दूसरी ओर लेखन

की धारावाहिकता, सुविधास, और प्रभाव की एकरसता भी सन्निहित रहती है। शब्द विन्यास से आगे बढ़कर हम वाक्या में नियोजित किये गये मुहावरों और लोकोक्तियों आदि के समीप पहुँचते हैं जो शैली के बाह्यांग साधन हैं। इसके पश्चात् सम्पूर्ण वाक्य और उसके गठन पर पहुँचते हैं। वाक्यों का आकार और प्रकार भिन्न भिन्न लेखकों में भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। वाक्यों की लम्बाई या छोटाई इनकी ह्रस्व दीघना शैली का ही अंग है। वाक्या के समुच्चय को अनुच्छेद करके, यह अनुच्छेद किस विधि से नियोजित किये गये हैं और किस सूक्ष्म या स्थूल सम्बन्ध रज्जु से बंधे हुए हैं यह भी शैली की उपयुक्त रचना का एक पाठव्य प्रश्न है। इसके पश्चात् हम लेखक की उन शैली के साधनों पर भी दृष्टिपात करेंगे जो हास्यजय विनोद आदि के साधनों से उक्त शैली का निर्माण करते हैं और अन्ततः हम इन समस्त बाह्यांगों को समग्र रूप में देखकर किसी लेखक की शैली को उसकी संपूर्णता समझते हैं।

द्विवेदीजी की बाह्यांग शैली का समग्र स्वरूप किञ्चित् अनगढ़ प्रतीत होता है। इसका कारण कदाचित् यह है कि ये अपने वक्तव्य का सीधा लक्ष्य सामान्य पाठक को मानते हैं। किसी विशिष्ट शिक्षित समाज को नहीं। सामान्य पाठक के पास पहुँचने के लिए किसी प्रकार की साजसज्जा अपेक्षित नहीं होती। द्विवेदीजी हिन्दी लेखनी को अधिकाधिक जनसामान्य बनाना चाहते हैं। शायद इन्हें हिन्दी के विस्तार और प्रसार का अधिक ध्यान है। ऐसा लेखक जो शिष्ट वर्गों से आगे बढ़कर लोकजीवन में व्याप्त होना चाहता है शालीनता और समदृष्टता की सरणियाँ में चलना पसन्द नहीं करते। तीसरी बात और भी है द्विवेदीजी की गद्यशैली में भाषण कला का रूप पर्याप्त योग्य है। उनके कई निबंध तो भाषणात्मक ही हैं। लिखित निबंध में और भाषण में यह स्पष्ट अंतर रहता है कि लिखित निबंध आनुक्रमिक और परिष्कृत हुआ करता है। उसके शब्द विन्यास में एक समरसता है जबकि भाषण में इस प्रकार की सरसता और आनुक्रमिकता नियोजित नहीं हो सकती। भाषणकर्त्ता कभी तो सरल परिचय प्रधान वाक्यावली का प्रयोग करता है कभी वेग में आकर सरल और उच्छ्वल पदावली का प्रयोग करने लगता है, कभी वह श्रोताओं को उत्साह और उत्सास में आपूरित कर देता है और कभी कठना से द्रवित और नयी अनुभूतियाँ से सबलित करना चाहता है। इस लक्ष्य भेद के कारण भाषणात्मक शैली में समरसता की कमी रहा करती है। द्विवेदीजी की गद्य शैली को प्रमुखतया भाषणात्मक शैली ही कहा जाय तो अनुचित न होगा।

द्विवेदीजी की शैली की समग्रता में हास्य, व्यंग्य और विनोद का -

यथेष्ट स्थान हैं। कहा जा सकता है कि वे इतिवत्तात्मक को पसन्द नहीं करते। दो चार वाक्य विषय परिचय के देते ही वे झट से किसी वक्तोक्ति या विनोद पर आ जाते हैं और फिर अपने विषय पर आगे बढ़ चलते हैं। यदि बीच-बीच में य वक्तोक्तियाँ न होनीं तो द्विवेदीजी की शैली में रोचकता की कमी रह जाती और वे एक अधिक वस्तुमूखी विचारक माने जाते या साहित्यिक की अपेक्षा शास्त्रज्ञ बहे जाते।

यहाँ हम कुछ उदाहरणों द्वारा द्विवेदीजी की हल्के व्याप्य से सम्भ्रित शैली का परिचय देना चाहते हैं। तुलसीदास की चर्चा करते हुए वे एक स्थान पर लिखते हैं 'मानव प्रकृति का ज्ञान तुलसीदास से अधिक उस युग में किसी को न था पर यह एक आश्चर्य की बात है कि उन्होंने विश्व प्रकृति को अपने काव्य में कोई स्थान नहीं दिया। उसमें से देह नहीं कि जहाँ वही उन्होंने थोड़ी सी चर्चा की वहाँ उसमें कमाल किया है। पर असल में वे इससे उदासीन ही रहे। जो भावुक सहृदय पद पद पर फूल पत्तियों को देखकर मुग्ध हो जाता है, नदी पहाड़ को देखकर तनमन को बिसार देता है वह तुलसीदास के काव्य का लक्ष्यभूत श्रोता नहीं है।

इन पत्तियों में गोस्वामी तुलसीदास को मानव प्रकृति का महान ज्ञाता कहा गया है। इतना बड़ा जितना उस युग में कोई दूसरा था ही नहीं। फिर भी गोस्वामी तुलसीदास ने अपने काव्य में इस प्रकृति का कुछ भी वर्णन नहीं किया। जहाँ वही थोड़ा बहुत किया है वहाँ वे अनुपम हैं। पर वास्तव में वे इस प्रकार के वर्णनों से विमुख ही रहे हैं। जो व्यक्ति प्रकृति का इतना बड़ा ज्ञाता हो प्रकृति के वर्णन में दिलचस्पी न रखे वह एक अदभुत विरोधाभास है। इन पत्तियों में द्विवेदीजी गोस्वामी जी की प्रशंसा कर रहे हैं या उनकी कमी बता रहे हैं यह ज्ञात करना आसान कार्य नहीं है। उद्धरण के अंतिम काव्य में भावुक लोगों के ऊपर एक हल्की सी फफकी है जो पद पद पर साधारण फूल पत्तियों को देखकर मुग्ध हो जाया करते हैं और नदी पहाड़ को देखकर तो तन मन लो बैठने हैं। यद्यपि इसमें भावुक जनों के लिए कुछ सम्मान भी है पर दायद असम्मान भी इसमें प्रच्छन्न रूप से आ गया है। द्विवेदीजी की यह द्विधाप उक्ति बड़ी बिलक्षण है जिसमें वे एक ओर अतिरजित प्रशंसा करते हैं और दूसरी ओर घोर तिरस्कार का भाव भी व्यजित करते हैं। व्याप्य की यह प्रच्छन्नता द्विवेदीजी की शैली में एक प्रकार का चमत्कार उत्पन्न करती है।

एक अन्य स्थान पर मूरदास के सम्बन्ध में कहते हैं 'लेकिन वे (मूरदास)

कबीरदास की तरह ऐस समाज से नहीं आये थे जो पद-पद पर लाञ्छित और अपमानित होता था। और जहाँ का गृहस्थ जीवन वैराग्य जीवन की अपेक्षा ज्यादा कठोरमय तपोमय था। व तुलसीदास का भाँति दृढ़ चेता सना नायक न थे, जो समाज की कुरीतियों से कुशलता से बाहर निकल कर उस पर गोलाबारी आरम्भ कर दें, नन्ददास की तरह पर पन्थ की युवितियों को तक बल या निराण करना भी व नहीं जानते थे। वे केवल श्रद्धालु और विश्वासी भक्त थे जो झगड़ों में पड़ने के नहीं।

यहाँ कबीरदास के समय के गृहस्थ जीवन को वैराग्य जीवन से भी कठिन और तपोमय बताया। यहाँ बठार और तपोमय शब्द ध्यान देने योग्य है। सामान्यतः कठोरता और तपस्या गृहस्थ जीवन के घम नहीं हैं। परन्तु द्विवेदीजी उस समय के गृहस्थ जीवन का असाधारण रूप से दयनीय बता रहे हैं इसलिए उन्होंने वैराग्य जीवन से भी उस अधिक क्लिष्ट कहा है। इससे यह भी ध्वनि निकलती है कि कबीरदास के समय चरानियों का जीवन अधिक आसान, तपस्या रहित और आरामक था। गृहस्थ जीवन और विरक्त जीवन की यह तुलना एक ध्येयार्थक निर्देश लिए हुए है।

तुलसीदास को उ होने गोलाबारी करने वाला बताया है। साधारणतः किसी कवि को इस प्रकार का काम नहीं करना पड़ता है। खासकर तुलसीदास जैसे महात्मा गोलाबारी करने से रहे। इसी प्रकार नन्ददास से तुलना करते हुए भी उन्होंने सूरदास का तर्क के झगड़ों से दूर रहने वाला बतलाया है। यद्यपि सूरदास की युक्तियाँ नन्ददास के तक वितर्क से कहीं घामिक हैं। यहाँ भी कवियों की विशेषताओं की चर्चा करते हुए द्विवेदीजी न व्यंग्य का एक हल्का पुट पूरे ध्येय में दे रखा है।

यह सा हुई विचारात्मक निबन्धों की चर्चा। जहाँ पर द्विवेदीजी को अधिक स्वच्छन्द होकर अपनी बात कहने का अवसर मिला है वहाँ वे अपने वक्तव्यों में और भी अधिक वाग्विचित्र्य का प्रदर्शन करते हैं। 'अशोक के फूल' में वे लिखते हैं 'वे सामन्त उसड़ गये,' साम्राज्य बड़ गये और मदनोत्सव की घूमघाम भी मिट गई। सतान कामनियों को गणधों से अधिक घत्तिघाली देश-ताओं का बरदान मिलने लगा। बीरों ने भूत भरवों की, काली दुर्गा ने यज्ञों की हज्रत घटा दी। दुनिया अपने रास्ते चली गई अशोक पीछे छूट गया।

२८ कृतियों में द्विवेदीजी न सामंतवादी साम्यता के पतन पर सद प्रकट किया है और उनके बाद आनेवाले पीरा और भूत भरवों की नयी धार्मिकता के प्रति एक वितण्णा प्रकट की। परन्तु उनके वाक्य किस रूप में आये हैं जिसमें उनके हार्मिक मनोभाव का छिप तौर पर ही विनापन होता है। द्विवेदीजी की शली में यह बक्र भंगिमा प्रायः सबत्र दिखाई देती है। जहाँ कहीं द्विवेदीजी किसी उपदेश का पल्ला पकड़ते हैं वहाँ भी वे अपनी विनोद कृति की साथ-साथ रखते हैं। उदाहरण के लिए वे कहते हैं और उस निरक्षर देग में प्रौढ़ शिक्षा का भाग भी शुरू करना पड़ना बालका के लिए यदि कुछ पुस्तकें मिल भी जायेंगी तो प्रौढ़ों के लिये नहीं मिल पायेंगी। उरसाही और साहसी साहित्यिकों को इस दिशा में दृष्टता के साथ बढ़ना चाहिए। वैसे तो प्रौढ़ शिक्षा स्वयंभव यह महत्वपूर्ण वस्तु है पर हमारे देश में एक और महत्व का काय इसके साथ जुटा हुआ है इस देश में आदिम जातियाँ हैं जिनको कहा जाता है अपनी कोई लिपि नहीं।

ऊपर की पतियाँ में द्विवेदीजी कई समस्याओं पर एक साथ ही विचार करने दखे जाते हैं। प्रौढ़ शिक्षा की समस्या बालको की शिक्षा, आदिम जातियों की शिक्षा और इन महान समस्याओं की ओर वे उरसाही और इन साहसी पाठकों का तेजी से बढ़ने का निर्देश करते हैं। इस संपूर्ण वक्तव्य में द्विवेदीजी का झुकाव वर्तमान समय की समस्या बहुलता की ओर जितना अधिक है उतना उसकी समाधान की ओर नहीं।

द्विवेदीजी की शली की इन कतिपय विवेकताओं को देखने के पश्चात् अब हम उनकी भाषा शली, उनके शब्द विन्यास, वाक्य विन्यास, लोकोक्ति और मुवाबिरा आदि पर सक्षम में दृष्टि डालेंगे।

द्विवेदीजी का शब्द विन्यास किसी भाषा परिष्कारक के शब्द विन्यास नहीं है और न वह किसी तार्किक का शब्द विन्यास। वे अपनी बात सहज भाषा में कहने के पक्षपाती हैं इसलिए उनको पुस्तकों में आयास साध्य और सविन्यास पदावली दृष्टिगोचर नहीं होती। उनकी शब्दावली में बोलचाल की प्रधानता है और इस बालबाल के माध्यम से ही वे गभीर तथ्यों का भी निबधन करते हैं परन्तु वे गभीर तथ्य भी काफी सीधे सादे ढंग से प्रस्तुत किए जाते हैं। इस प्रकार उनके शब्द चयन में पंडितों की भाषा की अपेक्षा जन सामान्य के वातावरणमय भाषा के प्रति अधिक झुकाव है। भाषा के इस स्वरूप

को अपनाकर द्विवेदीजी ने एक प्रकार से आचार्य शुक्ल और उनकी भाषा परम्परा के स्थान पर एक नयी परम्परा का विन्यास किया है। यद्यपि उनकी यह भाषा परम्परा आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की भाषा के अधिक समीप है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदीजी की भाषा से द्विवेदीजी की भाषा का काफी दूरतम साम्य होते हुए भी कुछ अंतर भी है। द्विवेदीजी की भाषा में आचार्य द्विवेदीजी की सी रुढ़ता नहीं है। अपने व्यक्तित्व की तरलता भी उन्होंने अपनी भाषा नियोजना में समाहित कर दी है। जहाँ आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की भाषा अधिक इतिवृत्तात्मक है वहीं द्विवेदीजी की भाषा में व्यञ्जना और वक्रोक्ति अधिक व्यापक रूप में सन्निविद्ध हुई है। लोकोत्तियों और मुहावरों के प्रयोग में भी द्विवेदीजी ने स्थानीय बोलचाल को काफी दूर तक अपनाया है। उनके मुहावरे किसी कोप द्रव्य से नहीं लिए गये बल्कि जन व्यवहार से लिए गए हैं। अतएव उनमें सजीवता आ गई है।

द्विवेदीजी की शब्दावली में उर्दू फारसी के प्रचलित प्रयोग मिल जाते हैं यद्यपि उनकी संख्या अधिक नहीं है। इसी प्रकार उनकी भाषा में जहाँ वे अधिक भावुक हो जाते हैं संस्कृति की पदावली भी मिलन लगती है। उदाहरण देखिये—वह ब्रह्मचर्य का विजयवेतन, धर्म का मूर्तिमान विग्रह, समय की धवल पताका, वैराग्य का प्रसन्न वैभव, सत्य का अवतार, अहिंसा का रूप, प्रेम का आकर कीर्ति का कलाश, भक्ति का उल्लास हमारे बीच से चला गया। इस पक्ति में संस्कृति की अच्छी छटा है। जो द्विवेदीजी के निबंधों की बीच-बीच में दिखाई देती है। उर्दू का एक उदाहरण देखिये—जो, मैं आपको बात समझाने की कोशिश कर रहा हूँ, आप बुद्ध लोगों के सामने क्या हस्ती है। कमलेशजी तुम शोक से अपनी बातें कहे जाओ वटा नाराज होने वाले खूबसूरत क्यों और होंगे। परन्तु द्विवेदीजी सामान्य भाषा शैली इन सबसे भिन्न है और वह ठेठ हिंदी की बोलचाल के अधिक समीप है।

जहाँ तक उनके वाणभट्ट की आत्मकथा का सम्बन्ध है इस उपन्यास की भाषा शैली और भाषा प्रयोग एक असाधारण भावार्थक उत्कर्ष लिए हुए है। यहाँ द्विवेदीजी वादम्बरीकार वाणभट्ट की आत्म कथा लिख रहे थे अतएव उन्हें एक उच्चतर शब्द विन्यास का आधार लेना पड़ा। जैसा कि हम ऊपर

रह चुके हैं मुख्य बर्णन या चित्रण सस्त्रुत के सौन्दर्य से सम्पन्न होते हुए भी यहाँ द्विवेदीजी अपनी सहज भूमिका पर आये हैं उन्होंने काफी ठेठ और तराश रहित भाषा का प्रयोग किया। यहाँ अन्तर के माध्यम से उन्होंने उपन्यास को केवल गडितों की सामग्री बना लेने में बचा लिया है।

कुल मिलाकर देखने पर द्विवेदीजी का शब्द चयन और उनकी भाषा शैली वविध्यपूर्ण होते हुए भी अधिकतर सहज और अनगढ़ है। इसके द्वारा द्विवेदीजी ने अधिक से अधिक पाठकों के समीप पहुँचने का प्रयास किया है। हम लक्ष्य में वे बहुत कुछ सफल भी हुए हैं। इस भाषा शैली को अपनाने के कारण द्विवेदीजी ग्रास्त्रीय या सौन्दर्य मूलक भाषाशिल्पी की भूमिका से अलग चले गये हैं परन्तु उनकी भाषा में सहजता, प्रवाह और हल्के विनोद और व्यंग्य के जो तत्व आ गये हैं वे अपने में एक सदा उच्चतर लेखक के सवया अनुरूप हैं और एक स्वतन्त्र इकाई का निर्माण करती है।

द्विवेदीजी के जो वाक्य सम्मुच्चय भिन्न भिन्न अनुच्छेदों में बँटे हुए हैं उनके मूल में बौद्धिक पक्ष की अपेक्षा भावात्मक पक्ष की समग्रता दिखाई देती है। दूसरे शब्दों में उनकी रचना शैली का बाह्यांग भावप्रेरित और लोकाभिमुख है। संक्षेप में यही उनकी शैली के बाह्यांग रूप की प्रमुख रूपरेखा और विशेषता कही जा सकती है।

## द्विवेदी-युगीन समीक्षक और शोधकर्ता

यद्यपि द्विवेदीजी के कार्यों में शोध और समीक्षा दोनों पर एक मिश्र-जुलते रहते हैं परन्तु ये दो स्वतंत्र विधायें हैं। वैसी स्थिति में द्विवेदीजी के शोध एवं उनके समीक्षा काय को परस्पर-अपेक्षक कर देना आवश्यक है और इस अध्याय में हम इसी पद्धति से द्विवेदीजी के शोधकाय एवं समीक्षा काय को तुलनात्मक समीक्षाओं और शोधकर्ताओं से करना चाहते हैं। हम काय का विवेचन करने के पूर्व हम द्विवेदी शोध एवं समीक्षा की एक छोटी पृष्ठभूमि देना उचित समझते हैं।

### हिन्दी समीक्षा का आधुनिक युग

आधुनिक युग में प्रवृत्त करने पर आधुनिक समीक्षा को मुख्यतः रीति-ग्रन्थों की परम्परा को पकड़े हुए पात है। आरम्भिक समीक्षा ग्रन्थ रीति-वादीन सक्षण-ग्रन्थों के परिवर्द्धित रूप कहे जा सकते हैं। इनका स्वरूप वही है जो सक्षण-ग्रन्थों का रहा है। इनका मुख्य विषय यद्यपि सामान्य साहित्य शास्त्र कहा जा सकता है परन्तु साहित्यिक विचारणा के सैद्धांतिक पक्षों को छोड़कर इन कवि-लेखकों ने रसों और अलंकारों के उद्धार देने में अधिक दिलचस्पी ली है। उद्धार का परम प्रधान ही ज्ञान के सबसे से विवेचन का परम लक्षण ही गया है। फिर इन लेखक-कवियों ने रस और अलंकार आदि के उद्धार देने के लिये सख्त आलोचकों के सूत्र-भंगों और प्रमेदों और उत्तरी व्याख्याओं को प्रस्तुत नहीं की है। इससे इनका शास्त्रीय पक्ष और भी दुबल हो गया है। रस और अलंकार का निरूपण



करने के पश्चात् इनकी दूसरी दृष्टि नायिका भेद की ओर रही है। अनेकानेक नायक-नायिकाओं की सृष्टि करके उनके स्वरूप निर्धारण में प्रवृत्त हुए हैं। विभिन्न प्रादेशिक और विभिन्न जातीय नायिकाओं के वर्णन में भी एक ही दिग्दर्शनी रही है। बिना उन स्थानों में गए वहाँ की नायिकाओं का रूपवर्णन करने में भी कितनी सफलता मिल सकती थी यह अनुमान किया जा सकता है। हमारा तात्पर्य यह है कि आधुनिक युग के यत्नप्रयत्न के बने लीज पीट रहे और इनमें किसी प्रकार की नवीनता न आ सकी थी। नायिका के नव्यशिवणन और वियोगियों के विभिन्न ऋतुओं में होने वाली दशाओं का वर्णन करने में भी अपनी प्रतिभा का अपव्यय किया था।

हिन्दी की आधुनिक युग की वास्तविक साहित्य समीक्षा कतिपय अप्रज समीक्षकों से गुरु होती है। ये अप्रज समीक्षक पश्चिमी काव्य से परिचित थे। और उत्कृष्ट काव्य के उपादानों की जानकारी रखते थे। इसके साथ ही इनमें से अनेक विद्वान् भारतवर्ष में ईसाई धर्म प्रचार के लिये आये थे अतएव इनका एक लक्ष्य साहित्य समीक्षा को धार्मिक साधने में ढालने का भी था। कदाचित् ये ही कारण हैं कि उन्होंने अथवा साहित्य युगों की ओर दृष्टिपात न करके हिन्दी के भक्तियुग को ही अपनी विचारणा का आधार बनाया था। यह भी ध्यान देने की बात है कि इन अप्रज समीक्षकों में भक्तियुग के दो ही प्रमुख कवियों को महत्त्व दिया है—वे हैं कबीर और तुलसीदास। इन दो कवियों में उन्हें त्रिशिवयन धर्म के आदर्श की समीपता दिखाई पड़ी। अपने विचारों में उन्होंने बताया है कि भले ही कबीर और मूर के काव्य में सीधे त्रिशिवयन धर्म का प्रभाव न हो परन्तु भारतवर्ष के मध्ययुग के भक्तिसम्बन्धी पुनरुत्थान अपने मूल में ही त्रिशिवयन प्रभाव की सूचना देता है। इतिहास की भूमिका पर यह भक्ति आन्दोलन जो स्वयं ही शताब्दियों से इस देश में चला था। त्रिशिवयन धर्म की बहुत सी मायतयें उसमें प्रतिफलित हो उठीं। यहाँ हम भक्ति आन्दोलन के ऐतिहासिक पक्ष पर विचार नहीं करते यहाँ हम अप्रज समीक्षकों की चिन्ता करते हैं। हम देखते हैं कि इन अप्रज समीक्षकों ने भारतीय काव्य परम्परा का इतना ध्यान नहीं रखा जितना ईसाई धर्म के प्रभाव का दिखाने का रखा है। जहाँ पर वे प्रभाव को स्पष्ट रूप से नहीं दिखा पाये हैं वहाँ वे इतना कह कर ही सतोष कर लेते हैं कि कबीर तुलसी जैसी कवियों के काव्य में त्रिशिवयन धर्म के आदर्शों से बहुत कुछ समानता है। यह भी ध्यान देने की बात है इन समीक्षकों ने कृष्ण भक्ति संप्रदाय के मूर और मीरा जैसे कवियों और कवियत्रियों को विशेष महत्त्व नहीं दिया। इन काव्य की श्रुतिगारिकता कदाचित् उन्हें ग्राह्य नहीं थी। इससे स्पष्ट है कि

हिन्दी के इन आरम्भिक अग्रज समीक्षकों में समीक्षा दृष्टि बहुत कुछ सीमित और संकुचित थी और वे क्रिश्चियन धर्म की छाया में हिन्दी काव्य का अनु-शीलन करने बैठे थे।

हिन्दी समीक्षा का राष्ट्रीय स्वरूप वास्तव में भारतेन्दु युग के उन समीक्षकों के द्वारा अग्रसर किया गया जो नयी राष्ट्रीय चेतना से और भारतीय ऐतिहासिक काव्य की परम्परा से सुपरिचित थे। एम. समीक्षकों में श्री बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण प्रेमधन, प्रतापनारायण मिश्र आदि के नाम दिये जा सकते हैं। यद्यपि यह मूलतः काव्य, नाटक, निबंध आदि के लेखक थे परन्तु यत्र-तत्र इन्होंने साहित्यिक समीक्षा सम्बन्धी विचार भी व्यक्त किए हैं। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'अपने नाटक' नामक निबंध में प्राचीन नाट्यसूत्रों का हवाला देते हुए कुछ नयी उद्भावनाओं को प्रस्तुत की हैं और अपने नाटकों में उनका उपयोग भी किया है। अन्य समीक्षकों ने नवजागत राष्ट्रीयता की भूमि पर अपने काव्य और साहित्य के सम्बन्ध में आदर्शवादी विचार प्रकट किए हैं परन्तु इन समीक्षकों को यह बोध था कि कला की आवश्यकताओं को उपदेशात्मक वक्तव्या से पूरी नहीं होती। अतएव उन्होंने ऐसी कृतियों को जिनमें उपदेश की ही प्रधानता है साहित्यिक दृष्टि से आश्लेष योग्य माना है। हिन्दी के प्रथम उपन्यास श्रीनिवास दास के 'परीक्षा गुरु' की आलोचना करते हुए प० बालकृष्ण भट्ट ने उसकी उपदेशात्मकता की त्रुटि प्रदर्शित की है। द्विवेदी-युग के इन समीक्षकों का काव्य परिगणित हुआ है। यद्यपि उसमें प्रौढ सैद्धांतिक विवेचन नहीं मिलते पर व्यावहारिक दिशा की ओर उनकी राष्ट्रीय एवं कलात्मक चेतना का विकास स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है।

## हिन्दी समीक्षा का द्वितीय चरण

हिन्दी समीक्षा का द्वितीय चरण आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के सरस्वती पत्रिका के संपादन काव्य से आरम्भ होता है। द्विवेदीजी बहुभाषाविद थे और विशेष अध्ययन-शील भी रहे हैं फलतः उन्होंने अंग्रेजी, बंगला, मराठी, गुजराती उर्दू तथा अन्य भाषाओं में होने वाले साहित्यिक कार्यों का सरस्वती के माध्यम से हिन्दी में परिचित कराने की नीति चलाई और इसी सम्बन्ध से उन्होंने हिन्दी की स्वतंत्र समीक्षा को भी कई कदम आगे बढ़ाया है। सन्तुष्ट कवियों का स्फुट परिषय देते हुए उन्होंने उनके काव्य सौंदर्य का भी प्रासंगिक रूप से उल्लेख किया है। इसका अतिरिक्त द्विवेदीजी के सम-सामयिक साहित्य पर भी अपने विचार प्रकट करते रहे हैं। उनका ध्यान विशेष रूप से भाषा के व्याकरण

सम्बन्धी योगो पर रहा है यद्यपि काव्य के अथ पश्चा पर भी वे अपनी सम्मतियाँ देते रहे हैं। मिश्रबन्धु, विनाद और हिंदी नवरत्न ग्रन्थों के प्रकाशित होने के पश्चात् उन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास पर भी अपने विचार प्रकट किए हैं। मूलतः द्विवेदीजी एक नीतिवादी और आदर्शवादी समीक्षक बने जाते हैं।

इस युग में प० पदमसिंह गर्मा, मिश्रबन्धु श्रीकृष्णबिहारी मिश्र आदि ने भी हिंदी समीक्षा को विकसित किया था। विशपकर पद्मसिंह शर्माजी ने काव्य साहित्य के अभिव्यक्ति सम्बन्धी सौन्दर्य का अपनी विवेचना का विषय बनाया था। उन्होंने उर्दू काव्य शैली की तुलना में हिंदी के उन कवियों को सामने रखा जो अभिव्यक्ति कौशल के प्रमुख प्रतिनिधि थे। इस प्रकार उन्होंने हिंदी काव्य को उर्दू काव्य की तुलना में विशप गौरव देने का प्रयत्न किया था। मिश्रबन्धुओं ने हिंदी के नौ सर्वश्रेष्ठ कवियों का ऐतिहासिक भूमिका पर आकलन करके हिंदी काव्य के वशिष्ठ्य को प्रकाशित किया था। वसा प्रकार श्रीकृष्ण बिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन आदि के शास्त्रीय और आलोचनिक भूमिका पर हिंदी के काव्योत्कृष्ट को उदघाटित किया।

इसी नवचेतन समीक्षा विकास का प्रौढता और शास्त्रीयता देने वाले प्रकांड पंडित रामचंद्र शुक्लजी द्विवेदी युग के अंतिम प्रतिनिधि बने जा सकते हैं। वे सच्चे अर्थों में साहित्य के विशिष्ट आचार्य बने जा सकते हैं। उन्होंने हिंदी समीक्षा पर अपनी अमिट छाप लगा दी है। न केवल मूल तुलसी जायसी जैसे श्रेष्ठ कवियों पर उन्होंने स्वतंत्र ग्रंथ लिखे हैं वरन् हिंदी साहित्य का पट्टा समग्र इतिहास लिखा है जो आधुनिक विद्वानों से प्रयत्न होने के कारण इस युग का एक स्मरणीय ग्रंथ बन गया है। शुक्लजी की समीक्षा दृष्टि नवोत्थानवादी और साथ ही आदर्शवादी बनी जा सकती है। उन्होंने साहित्यशास्त्र के तत्वों को आत्मसात करते हुए आधुनिक विद्वानों की शैली को गहराई में जाकर अपनाया और इस प्रकार उनका समस्त समीक्षाकार्य आधुनिक युग का प्रतिनिधित्व करता है। शुक्लजी ने समीक्षा सिद्धांतों पर भी दृष्टिपात किया और रस मीमांसा नामक ग्रंथ में भारतीय साहित्य सिद्धांत की नवीन वेशभूषा देकर प्रस्तुत किया। उनके समग्र समीक्षा कार्य में उनकी मौलिकता और निजी दृष्टि का भी योग है। उनमें असाहज होना आसान है पर उनका मौलिक चिन्तन दुर्प्राप्य है।

शुक्लजी के समीक्षा कार्य में लोकादर्शवाद की गूँज सबसे मिलती है। उनके साहित्यिक प्रतिमान वस्तु-मुखी और जीवनाभिमुख बने जा सकते हैं।

## द्विवेदी युगोन समीक्षक और गोधकर्ता

मानव जीवन के विस्तार और विविधता का जो आदर्श-मुल चित्र तुलसीदास के रामचरितमानस में मिला है उसका आधार बनाकर गुबलजी ने प्रबन्ध काव्यों के अथवा काव्य रूपों की अपेक्षा श्रेष्ठतर और हृदयतर के प्रयोगों को प्रतिपादित किया है। दूसरी ओर उन्होंने घम व लोचपक्ष को महत्ता देकर निगुण सत कवियों व प्रति बटून कुछ अनास्था प्रकट की है। इसी प्रकार आधुनिक काव्य में उन्होंने साक्षात्प्रमुख कृत्यों को प्रगीतात्मक कृत्यों की तुलना में विशेषता दी है। गुबलजी सस्कृत साहित्य व भी अच्छे अध्ययन से। विशेषकर प्रकृतियुग की भूमिका पर उहोंने वात्मीनि और कालिदास कवियों के प्राकृतिक सौन्दर्य वणन को सराहा है। हिंदी के आधुनिक काव्य में प्रकृति वणन की सुन्दर विशेषताओं से समन्वित नूरजही काव्य की उहोंने सराहना की है। इस प्रकार एक विशिष्ट आदर्श और प्रतिमान को सर्वांगीण रूप से ग्रहण कर उसमें अनुरूप सतुलित काव्य भीमाका का सतुलित अस्मितात्मक रूप गुबलजी ने संपन्न किया। इस दृष्टि से वे आधुनिक हिंदी साहित्य के पथक वास्तविक शाखाय कट जा सकते हैं। इतिहास उाकी गणना भारतीय साहित्य के श्रेष्ठ मनीषियों में निरंतर करता रहा।

## शुक्लोत्तर शास्त्रीय समीक्षा

गुबलजी के पश्चात् हिंदी में छायावादो समीक्षकों का प्रवेश होता है। जिनका मुख्य कार्य द्विवेदी युग के पश्चात विवक्षित होन वाल नवीन काव्य और नवीन साहित्य का स्पष्टीकरण और विवेचन करना था। गुबलजी ने छायावाद का मुख्य अभिध्ययन भी एक नयी शैली व रूप में ही विख्यात किया था। जहाँ तब नय काव्य के वस्तुगत का मन्वय है गुबलजी ने उसकी अधिकतर उपधा ही की थी। वे उन स्वच्छन्दावादी काव्य का एक सर्वांगीण स्वरूप ही मानने के पक्ष में थे। नवीन काव्य व रहस्यवादी स्वरूप को वे पश्चिमी धार्मिक कवियों की गीतप्रणयिक वाणी के समीप मानते थे। उन्होंने इस नवीन रहस्यवाद की प्रेरण शक्तियों का पश्चिम में ही उधार ली हुई बतलाया था। यद्यपि वे सीधे रवींद्रनाथ पर आश्रयण करना नहीं चाहते थे परन्तु प्रकारांतर में रवींद्रनाथ रहस्यवाद की ही उहोंने विराधी समीक्षा की है।

## स्वच्छन्दावादी समीक्षा का आरम्भ

। नये स्वच्छन्दावादी मनीषकों का प्रारम्भ में गुबलजी के इन कृत्यों के प्रत्यावर्तन में ही लगा रहना पड़ा। परन्तु क्रमशः इन समीक्षकों ने संपूर्ण

आधुनिक काव्य और स्वदेशी विदेशी रचनाओं का अनुशीलन आरम्भ किया और इस प्रकार अपनी समीक्षा के द्वारा हिन्दी साहित्य को पहली बार एक अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका पर देखने का प्रयत्न किया। जिस प्रकार रचना के क्षेत्र में पत जसे कवि पश्चिमी स्वच्छतावादिओं की शैली और अभिव्यक्ति के समीप पहुँचे। उसी प्रकार इन समीक्षकों ने भी काव्य और साहित्य को एक सावजनिक भूमिका देने का प्रयत्न किया।

फनत साहित्य और काव्य के प्रतिमान और समीक्षा की पदावली में काफी परिवर्तन हुआ। यद्यपि इन समीक्षकों ने आरम्भ में किसी सिद्धांत विशेष को नियोजना और मानदण्डों का अप्रत्यक्ष रूप से विनियोग किया परन्तु आगे चल कर इन समीक्षकों ने विश्व साहित्य की भूमिका पर कुछ सद्धातिक निरूपण भी किये हैं। छायावादी काव्य को उठोने केवल शैलीगत भूमिका पर ही नहीं देखा बल्कि उसे युगीन काव्य की प्रतिष्ठा प्रदान की। भावोत्कर्ष, कल्पना और कला की भूमि पर द्विवेदी युग के कवियों से प्रसाद, पत, निराला जसे कवियों का स्पष्ट अंतर प्रदर्शित किया। जिसकी प्रतिध्वनि यह थी कि ये कवि हिन्दी काव्य के आधुनिक युग के वास्तविक उन्नायक हैं।

काव्य के अतिरिक्त नाटक, उपयास और नयी कहानी के सम्बन्ध में भी छायावादी समीक्षकों के विचार पश्चिमी समीक्षा प्रतिमानों से प्रभावित हुए हैं किन्तु एक स्वतंत्र कला समीक्षा का आधार मूल्य भी निर्मित हो सका है जिसे हम राष्ट्रीय समीक्षा के स्तर पर उनका नवीन प्रदेय मान सकते हैं। इसके पश्चात् इन समीक्षकों ने प्राचीन भारतीय साहित्य और काव्य विकास पर अपने अभिमत दिए हैं और भारतीय साहित्य की ऐतिहासिक रूपरेखा के निरूपण में नया योगदान दिया है। प्रबन्ध काव्य और प्रगीत काव्य के स्वतंत्र विकास के तथ्य को शुक्लजी की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्टता और गहनता के साथ समझा गया है। इन छायावादी समीक्षकों ने प्रगीत काव्य के महान भारतीय उन्नायक सूरदास के काव्य धर्म को प्रकट करने में अपनी साहित्यिक अभिरुचि का परिचय दिया है।

सद्धातिक समीक्षा के स्तर पर छायावादी समीक्षकों के प्रकीर्ण विचार समय-समय पर उदभाविता होते रहे हैं। यह कहना तो कदाचित्त सुसगत न होगा कि इन समीक्षकों ने किसी समय साहित्य शास्त्र का प्रणयन किया है परन्तु स्वरूप और कनाओं के विविध स्वरूपों पर प्रकाश डालते हुए उनके उत्कर्ष अर्पण की भावुक भूमिका का उदभावन करते हुए इन समीक्षकों ने एक नयी

संज्ञात्मक चेतना की सृष्टि अवश्य की है। यह भी कहना अनुचित न होगा कि छायावाद युग के समीक्षक अभी हिंदी साहित्य के मंच पर विद्यमान हैं और आशा की जाती है कि साहित्य के नये स्वरूपों, लक्ष्यों और प्रभावों के सम्बन्ध में उनके समन्वित विचार हिंदी साहित्य समीक्षा के विकास के एक समृद्ध कदम के रूप में प्रस्तुत किए जा सकेंगे। इस प्रकार सद्भाषितक समीक्षा का शोध एवं सगठित स्वरूप ग्रहण कर सकेगा।

## स्वच्छन्दतावादी कवियों का समीक्षाकार्य

ऊपर हमने स्वच्छन्दतावादी या छायावादी समीक्षा के एक समय स्वरूप का संक्षिप्त परिचय दिया है। इसका यह अर्थ नहीं कि स्वच्छन्दतावादी समीक्षा एकदम सघन है। इस समीक्षा में अनकानेक प्रस्थान हैं और इसकी विवेचना और निष्कर्ष एक से नहीं हैं। कुछ तो प्रसाद, निराला, पत और महादेवीजी की समीक्षाएँ हैं जिनमें स्वभावतः स्फुट विचारों की प्रधानता है। ये कविगण अधिकतर अपनी अपनी कविताओं के स्पष्टीकरण के लिए अपने साहित्यिक विवेचन प्रस्तुत करते रहे हैं। प्रसादजी की लष्टि विगुद्ध रूप से भारतीय आचार लेकर बनी है उन्होंने ऐतिहासिक स्तर पर छायावाद और रहस्यवाद की भारतीय अध्यात्मवादी दर्शन से समन्वित किया है और विशेषतः शीवमत आनन्दवादी धारा का उपयाम किया है। उनके मत में भारतीय काव्य की एक धारा आनन्दारमक दर्शन से समृद्ध है और दूसरी धारा उनके विवेकारमक दर्शन से परिष्कृत है। इसी प्रकार उन्होंने भारतीय साहित्य सिद्धांतों का रस सिद्धांत की आनन्दवादी धारा का उभेय और अलंकारादि संप्रदायों को विवेकबानी धारा का परिणाम बनाने का प्रयत्न किया है। आधुनिक छायावादी या रहस्यवादी काव्यों को उन्होंने प्राचीन आनन्दवादी काव्य धारा का ही अग्रिम विकास बताया है। उन्होंने छायावाद और रहस्यवाद को बीच कोई विभेदक रेखा नहीं खींची है। प्रसादजी के इन विवेचनों में आधुनिक छायावादी काव्य को भारतीय काव्य परम्परा से सुसंबद्ध बनाया गया है। परन्तु इस नवीन काव्य पर पढ़ने वाले देशी विदेशी प्रभावों की विवेचना नहीं की गई।

निराला के समीक्षारमक निवृत्त भी प्रकीर्णक ही कहे जायेंगे। विद्यापति और चण्डीदास के प्रगीत काव्य की विकास रेखा का उन्होंने आदिम उल्लेख किया है। निराला जी का विशेष ध्यान काव्य के शौचपरिमक पदा पर रहता आया है इसीलिए उन्होंने जो भी समीक्षाएँ लिखी हैं उनमें भावविषय और शौच

अवतरित किया है वह काम महत्वपूर्ण नहीं है। पूव पृष्ठी में यह कह चुके हैं कि द्विवेदीजी साहित्य और कला को साध्य न मानकर उसे मानवना के विकास का साधन मात्र मानते हैं इसी से उनकी समीक्षाओं में सामाजिक और सांस्कृतिक आधारों की प्रमुखता है। कोई काव्य या साहित्यिक रचना सामान्य मनुष्य को किस सीमा तक अनुप्रेरित कर सकती है और उसके विकास में सहायक हो सकती है। द्विवेदीजी के समीक्षा प्रतिमान साहित्य के सपस्त उपकरण, उनके भावात्मक और कलात्मक पक्षों के अशेष पन्नापक्ष उनकी समीक्षा दृष्टि को केन्द्रित नहीं कर सके। उनका एक मात्र दृश्य साहित्यिक आदर्श समाज के निम्न वर्गों और परित्यक्तों के प्रति सहानुभूति का संदेश देने वाला है। जिस प्रकार टालस्टाय ने अपने युग के ग्रीक और पूव युगों के समस्त साहित्यिक विवेचनों कला और सौंदर्य के गम्भीर निर्देशों को एक क्षटके में छोड़कर साहित्य का लोकहितकारी स्वरूप को अपना संपूर्ण समर्पण दिया था और इस प्रकार एक मानवतावादी सदेव वाहक का पदग्रहण करने का दायित्व ग्रहण किया था प्रायः उसी प्रकार द्विवेदीजी का समीक्षा दृष्टान्त लोकदर्शवादी कहा जा सकता है।

यहां अनेक प्रश्न उत्पन्न होने हैं—टालस्टाय के 'कला क्या है' शीर्षक निबंध में जिन तथ्यों का प्रतिपादन किया गया है और उनके परवर्ती साहित्य रचना काल में जिस प्रकार की कृतियां प्रस्तुत की गई हैं उन पर यूरोपीय साहित्य समीक्षकों की सामान्य प्रतिक्रिया अच्छी नहीं है। लोग उन्हें साहित्य समीक्षक और साहित्य सभ्यता की अपेक्षा घासिक प्रचारक और आदर्शवादी लेखक के रूप में माना जाता देते हैं। इस आदर्शवादिता के कारण टालस्टाय की परवर्ती कृतियों में एक अवास्तविकता भी आ गई है। मनुष्य की माना चरित रेखाओं के अद्भुत में टालस्टाय की आरम्भिक कृतियों में जो दिनचर्या थी वह उनकी परवर्ती कृतियों में फीकी पड़ गई है। समी साहित्य के आधुनिक समीक्षक भी उनकी ही रचनाओं में वस्तुपक्ष और आदर्श पक्ष का पृथक्करण करते हैं और वस्तुपक्ष को महत्व देते हुए आदर्श पक्ष का तिरस्कार करते हैं। इस प्रकार टालस्टाय पर न केवल साहित्यिक समीक्षकों के द्वारा नीतिवादिता के आरोप लगाये गये हैं बल्कि मार्क्सवादी समीक्षकों के द्वारा भी उनकी कृतियां बग सपय की वास्तविक प्रेरणाओं से विलग मानी गई हैं।

द्विवेदीजी की मानवनावादी समीक्षा दृष्टि के सम्बन्ध में हम इनका ही कह सकते हैं कि उनकी इस दृष्टि में टालस्टाय की सी कटकरता नहीं है। सिद्धांत की भूमिका पर वे आपराहित्य नहीं हैं इसीलिये उनकी व्यावहारिक समीक्षाओं

म स्वच्छतावाद की स्वतंत्र प्रेरणायें भी प्राप्त हो जाती हैं। यहाँ हमारा आशय यह है कि द्विवेदीजी की समीक्षाओं में विशेषकर उनकी कवियों और कृतियों की व्यावहारिक चर्चा में किसी वाद विशेष का आग्रह नहीं है और वे आधुनिक का यह साहित्य के सम्बन्ध में बहुत कुछ स्वतंत्र सम्मतियाँ दे सके हैं। यद्यपि यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि साहित्य समीक्षा में उनकी प्रमुख दिनचरसी सौ दय और कला की रचनात्मक दिशाओं में न होकर उनके प्रभावात्मक और मानवतावादी पक्षों में अधिक है।

द्विवेदीजी की समीक्षाओं या तो ऐतिहासिक भूमिका पर प्राचीन तथ्यों का परिचय कराने का कारण रचनात्मक है या फिर वे एक विशेष भावोद्देक को सचि करके प्रभावाभिव्यक्त बन जाते हैं। इससे भी यह अनुमित होती है द्विवेदीजी में साहित्य समीक्षा के द्विवेचा एवं विश्लेषण का गुण कम है। उनकी शैली मुख्यतः परिचयात्मक और प्रभावमूलक है। इस विशिष्ट शैली का कारण यद्यपि उनकी समीक्षाओं में शास्त्रीयता की विशेषतायें नहीं आयी हैं परन्तु प्रभावात्पादन की दृष्टि से उनका महत्व कम नहीं है। द्विवेदीजी में यह परत नहीं है जो कवियों की मूल युक्ति या भावना को तथा उनकी कृतियों का मूल वैशिष्ट्य को समझ लेती है। परन्तु उनके अधिक ऊहापोह में वह नहीं पड़ती।

द्विवेदीजी के समकालीन कतिपय समीक्षकों की चर्चा हमन ऊपर की है। वास्तव में वर्तमान समय में ऊपर वर्णित स्वच्छतावादो समीक्षाओं प्रमुख और प्रतिनिधि कही जा सकती हैं। द्विवेदीजी का समीक्षा काव्य ही जसा कि हम कह चुके हैं स्वच्छतावाद की व्यापक सोमा में आना है। परन्तु इस युग में शास्त्रीय और परंपरागत समीक्षा शैली की भी एक धारा चल रही है जिसमें प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, श्रीचंद्रबनी पाठेय आदि की समीक्षायें आती हैं। जहाँ एक ओर द्विवेदीजी शास्त्रपक्ष का और संपूर्ण कला या सौंदर्य पक्ष का विवेचन छोड़कर विगुद अनुभूतिमूलक समीक्षाओं का संचालन रह है वहाँ दूसरी ओर श्री मिश्रजी और पाठेयजी आदि की समीक्षायें परंपरागत भारतीय विवेचना पद्धति को पुष्ट करती हैं। इन दोनों अतिवादों के बीच द्विवेदी की समीक्षा के अनेक रूपरंग दिखाई पड़ते हैं।

शास्त्रीय समीक्षाओं की जो समीक्षायें वर्तमान समय में प्रकाशित हो रही हैं उनमें से कुछ तो सिद्धांत पक्ष को लेकर हैं और कुछ व्यावहारिक समीक्षायें कवियों की या उनकी कृतियों की हैं। सिद्धांत पक्ष को लेकर द्विवेदी का शास्त्रवादी



समीक्षको ने अधिकतर व्याप्यात्मक काय किया है। नये तत्वों और आधुनिक युग की बानानिक उपलब्धियों का कोई विशेष योग उन समीक्षाओं में नहीं दिखाई देना फिर भी यदि प्राचीन मूल्यांकन यथातथ्य स्वरूप उदघाटित कर दिया जाता है तो वह भी बड़े काम की शीज है। 'यावत्कारिक समीक्षाओं में इन शास्त्रवादी समीक्षकों और आचार्यों ने साहित्य का नया विकासो-मुख आकलन कम ही किया है। कामायनी काय को लेकर जो समीक्षाएँ इन लोगों ने प्रस्तुत की हैं उनमें इस काव्य के महत्त्व को स्वीकार करने का लक्ष्य कम है उसकी त्रुटियाँ देखने की प्रवृत्ति अधिक है। प्रत्येक समृद्ध साहित्य में एक परम्परागत पक्ष होना ही है अथवा कला और साहित्य के विवेचन में अराजकता और नियमहीनता फलने का भय रहता है। अतएव हम कह सकते हैं कि इन परम्परावादी पंडित हिन्दी साहित्य के अनुशासित विकास में सम्यक योग दिया है और साहित्य समीक्षा में प्रौढ़ तथा शास्त्र सम्मन विचारों को प्रस्थापित कर हिन्दी समीक्षा को अतिवाद की आर जाने से बचाया है।

द्विवेदी जी का समीक्षा काय किसी भी दृष्टि से अतिवादी नहीं कहा जा सकता परन्तु वह परम्पराओं से स्वतंत्र अवश्य है आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धांतों का तथा उनके विधि निरूपण का जिन नवीन समीक्षकों को पर्याप्त ज्ञान था नयी समीक्षा दृष्टियों का उन्मेष किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस दृष्टि से उनकी समीक्षा युगीन भूमिका पर आती है और युगीन चेतना से संपक्त है। उनका साहित्य सब धी दृष्टिकोण सांस्कृतिक और मानवतावादी है। उनके समीक्षा काय को आधुनिक समीक्षा में हम एक स्वतंत्रधारा के विकास का काय कह सकते हैं।

## आधुनिक हिन्दी शोध की पृष्ठभूमि

शोध का सबसे मुख्य रूप से प्राचीन इतिहास से हुआ करता है, अनात या अल्पज्ञात तथ्यों को प्रकाश में लाना ही शोध का लक्ष्य हुआ करता है। प्राचीन इतिहास केवल सामाजिक या राजनीतिक ही नहीं होना वरन् राष्ट्रीय जीवन के सभी प्राचीन पक्ष इतिहास की भूमिका पर आ जाते हैं। इन्हीं विभिन्न पक्षों में एक साहित्य का पक्ष है। साहित्यिक शोध में अतगन कवियों और लेखकों की सामाजिक पृष्ठभूमि उन-उन लोगों के वैचारिक और सांस्कृतिक आदर्श तथा साहित्यिक परम्पराएँ ली जाती हैं। स्वयं साहित्य के अतगन काय रूपों का, छंदों का और भाषा आदि के अंगों का सम्मिलन है। अतएव साहित्यिक शोध की सीमा में भी सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के अनेकानेक पक्षों का समावेश हो जाता है।

## द्विवेदी पुणेन समीक्षक और शोधकर्ता

हिन्दी में भाषा सर्वधी शोध की एक स्वतंत्र परम्परा भी है जिसकी गणना साहित्यिक शाख के बाहर भी चली जानी है। परन्तु जहाँ तक द्विवेदीजी का प्रश्न है उद्धान भाषा सर्वधी शोध का भी साहित्य की सीमा में ही रखने का प्रयत्न किया है। कतिपय अन्य भाषा सर्वधी शोधका स उनकी यह भिन्नता उल्लेखनीय है। द्विवेदीजी के इस शोधकाय की समकक्षता में हिन्दी साहित्य के अतगत अन्य शोधकर्ताओं का भी काम उपस्थित है अतएव तुलनात्मक दृष्टि सह्य हिन्दी के साहित्यिक शोधकाय की एक स्पष्ट रूपरेखा का निर्देश कर सकते हैं।

जसा कि पूर्व के एक अध्याय में लिखा गया है हिन्दी का शोधकाय भाषा के क्षेत्र में भी शिर्वाह संसार के पश्चात् उन्हीं के द्वारा थामे बढ सका है। उस आरम्भिक स्थिति में साहित्यिक शोध कतिपय कवियों की सामान्य जीवनी और उनकी रचनाओं के नामालेख के रूप में प्रादुर्भूत हुआ था। प्रियर्सन के भाषा सर्वधी शोधकाय अधिकांश प्रौढ़ हैं और हिन्दी के भाषा सर्वधी शोध विकास में उनका काम अभी स्मरणीय है। इस क्षेत्र के अधिकांश शोधकर्ता प्रियर्सन की स्थापनाओं को स्वीकार करते हैं और उन्हीं का अनुसरण और पल्लवन करते हैं। इस क्षेत्र में काम करने वाले लेखकों में डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० बाबुराम सबमेना, डा० उदयनारायण तिवारी तथा उन्हीं के समकक्ष कतिपय अन्य विद्वानों के नाम लिये जा सकते हैं। हिन्दी के पूर्ववर्ती भाषाओं पर शोधकाय करने वालों में पारसी और का उल्लेख विशेष सम्मान के साथ किया जाता है। उन्हीं अप्रभ शोधकाय को लेकर विस्तृत शोधकाय किया है। उनका पश्चात् प्राच्य पंगलम और हेमचन्द्र के व्याकरण, सदेशरामक आदि ग्रन्थों का आधार लेकर अप्रभ शोधकाय शोधकाय होता रहा है। महापंडित राहुन सांस्कृत्यायन ने भी इस भाषाका न शोधकाय को आगे बढ़ाया है। 'शोध दूहा या गान' के शोधकाय में डा० हरप्रसाद शास्त्री की स्थापनाओं का सहज भी राहुन जी ने अनेक अंगों में किया है। अभी कुछ ही दिन हुए डा० हेमचन्द्र जोशी ने प्राचीन हेमचन्द्र के व्याकरण का अनुवाद करके भाषा सर्वधी अध्ययन का एक भूमिका प्रदान की है। पुरानी हिन्दी पर चन्द्रधर शर्मा गुजर, मातीनान मेनारिया और स्वयं हजारीप्रसाद द्विवेदीजी का काम उल्लेखनीय है। हिन्दी भाषा के व्यापक विकास की लेकर डा० श्यामसुन्दरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि का शोधकाय भी विशेष महत्व रखते हैं। पिछले कुछ वर्षों में भाषात्मक शोध के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य हो रहा है।

साहित्यिक शोध की दिशा में डा० प्रियर्सन के पश्चात् काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों का शोध एक महत्वपूर्ण शोधकाय हुआ

है। सभा ने इस शताब्दी के आरम्भ से ही दूर दूर स्थलों में अपने बतनिक और अबतनिक प्रतिनिधि भेजकर भिन्न भिन्न स्थानों में मिलने वाली पुस्तकों की सूची इनके लक्षों का रचनाकाल और उनमें उल्लेख किये गये विषयों आदि का सर्वेक्षण करवाया था। कई वर्षों तक यह कार्य संचालित होता रहा। कटाक्षित इमक प्रमुख सचातन उप समय मिथवधुओं में से एक श्री श्यामचिन्तारी मिश्र जी ये इम समस्त सकलित सामग्रियों का उपयोग उ होने मिथवधुविनोद ग्रन्थ में किया है। इस ग्रन्थ में केवल कवियों की रचनायें ही नहीं उनका सम्बन्ध में और विशयकर उनकी कविता को लकर कुछ साहित्यिक विचार भी प्रकट किये और इस ग्रन्थ में शोध का अंश इतना ही है कि कवियों का जीवनकाल उनकी कृतियों की रचना तिथियाँ और उनकी सक्षिप्त जीवनी यत्रतत्र दी गई है।

इस सग्रहात्मक शोधकर्ता के पश्चात् कनिषय प्राचीन ग्रन्थों के प्रकाशन की व्यवस्था नागरी प्रचारिणी सभ के द्वारा की गई और तत्कालीन विद्वानों द्वारा उन ग्रन्थों का संपादन कराया गया। इन संपादित ग्रन्थों में पृथ्वीराज रासो, तुलसी ग्रयावली, पूरसागर बीमलदेवरासो आदि मुख्य काव्य ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों की भूमिका के रूप में गायत्रीत्मक विवचन और विवरण दिए गए हैं। विशेषकर पृथ्वीराज रासो जायसी ग्रयावली आदि की भूमिकायें शोधोत्तम सामग्रियों से सम्युक्त हैं। ये शोध मुख्यतः प्रामाणिकता, मूलनाथ और उन ग्रन्थों की पूर्व परम्परा से सम्बन्धित हैं। उदाहरण के लिये जायसी ग्रयावली की भूमिका में आचार्य शुक्लजी ने सूफी धर्म सूफी आश्रानों की प्रेमचर्चा सूफी प्रेम के स्वरूप, सूफी साधना के स्वरूप आदि पर ऐस विचार दिए हैं जिससे हिंदी के क्षेत्र में शोध की आरंभ प्रवृत्ति बढ़ी है। कुछ ही समय पश्चात् हिंदी के प्रमुख कवियों की काव्य रचनाओं पर संपादित ग्रन्थ और उनकी विवेचनात्मक भूमिका के परम्परागत कबीर ग्रयावली केशव ग्रयावली आदि की भूमिकायें और तुलसी दास जी का जीवनी और काव्य से सम्बन्धित डा० श्यामसुन्दरदास और बहध्वाल का गोस्वामी गोपक का तुलसीग्रन्थ इसी काल की रचनायें हैं। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि हिंदी के इस शोधोत्तम काव्य के विकास में अनेक पंडित और विचारक साधकर्ता बढ़ी तत्परता से सलभ रहे हैं। इसी समय के कुछ ही पश्चात् आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी भी शोध क्षेत्र में आये और उ होने धार्मिक, सांस्कृतिक शोध की एक नयी प्रणाली का निर्माण किया है। जिसकी विशेषताओं की आणिक चर्चा इस प्रकार है।

### द्विवेदीजी के शोधकाव्य की दिशायें

जैसा कि हम पूर्व अध्याय में कह चुके हैं द्विवेदीजी के शोधकाव्य की

अनेक दिशाओं हैं, उन्होंने मध्यकालीन धार्मिक विचारधारा पर साक्षात्मक विचार किया है और इस मिलसिले में नायसप्रदाय और मध्यकालीन धर्मसाधना पर पुस्तकें लिखी हैं। उनकी कबीर नामक पुस्तक का एक पन्ना इसी धार्मिक शोध में सम्बंधित है। मध्यकालीन मस्कि के जनिपय पदा उनकी हिन्दी साहित्य की भूमिका नाम की पुस्तक में शाय के विषय में हैं। विशुद्ध साहित्यिक गाय के नियम उनकी 'हिन्दी का आदिनाल' पुस्तक प्रस्तुत की गई है। काव्य परम्पराओं, काव्य रुचियों और भाषा के प्राचीन विशासधारा को भी द्विवेदी जी के साध में स्थान मिला है। इस दृष्टि में देखने पर द्विवेदी जी का शोध काय काफी विस्तृत और बहुमुखी है।

इस गायकाय के विस्तार के कारण द्विवेदी जी ने अपनी विवेचना में और निष्कर्षों में भी काननिक विवेचन की प्रणाली का अधिक नहीं अपनाया है। वे एंग तथों को प्रकाश में लाते हैं जो सामान्यतया वह जा सकते हैं। किसी विषय को लेकर उसकी सर्वांगीण शोधामक रूपरेखा को विशुद्धता की भीली में प्रस्तुत करने का काय द्विवेदी जी ने कम ही किया है। जहाँ वहाँ उन्होंने किसी विषय का साक्षात्मक निर्देश किया है वहाँ उनकी दृष्टि अधिकतर एतिहासिक है पर तु इतिहास की काननिक छानबीन करने की ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं है। विशुद्ध साहित्यिक शोधकार्यों में भी द्विवेदी जी ने अनुमानों का सहारा बड़ी मात्रा में लिया है। इस कारण उनमें भंग का निष्कर्ष अंतिम वाक्य के रूप में गहीन नहीं हो सकेगा। एक प्रकार में उन्होंने शोध के क्षेत्र में नवीन विचारों सजन के लिए जगह छोड़ रखे हैं। अतएव उनका समस्त शोधकाय की रूपरेखा निगायक न होकर उन्मावाता पूण कही जायेगी।

## समकालीन शोधकर्त्ताओं का कार्य

गाय क्षेत्र में द्विवेदी जी के कार्यों पर तु ननात्मक दृष्टि डालने के नियम हम उन गायकर्त्ताओं का विचार करना होगा जो द्विवेदी जी के कुछ ही अग्र गणवान इस क्षेत्र में काय करने लगये। इनमें से प्रथम नाम डा० पीतावर बडधवाल का दिया जा सकता है जिन्होंने निगुण सनकाव्य पर सांख्यिक प्रकाश डालने का प्राथमिक काय किया था। आरम्भ में उन्होंने कबीर प्रयावली की भूमिका निम्न में आचाय श्यामगुंजरदास के साथ सहयोग दिया, यद्यपि यह भूमिका १०० पृष्ठों में अधिक की नहीं है पर इसमें कबीर की जीवनी और व्यक्तित्व ही नहीं, उनकी समकालीन सामाजिक परिस्थितियों का भी उन्मन है और इस पृष्ठभूमि पर कबीर के काव्य का दार्शनिक और साहित्यिक अनुशीलन किया गया है।

बडधवालजी ने आचार्य गुक्लजी के कबीर सम्बन्धी कनिषय निर्देशों का विरोध भी किया है और कबीर के महत्व को प्रकाश म लाने का प्रयत्न किया है। इसके पश्चात् उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास की जीवनी और उनके साहित्य पर फिर आचार्य श्यामसुन्दरदास के सहयोग म शोधकाय किया परन्तु डा० बडधवाल का मुख्य काय निगु ण स ता के सम्ब ध म है जिस पर उन्होंने अपन डी लिट का प्रब ध लिखा था। बडधवाल जी का मुख्य युकाव आध्यात्मिक माधना की ओर था अतएव उन्होंने निगु ण स ता के इम पक्ष पर अधिक मनोयोग पूवक काय किया है और सायना की शब्दावलियों पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। साथ ही निगु ण कवियों की जीवनी और उनकी काय रचनाओं का अनुशीलन भी किया है। उनका एक प्रधान काय गोरखनाथ के काय का अनुशीलन करने, गोरखवानी का पुस्तक रूप म प्रकाशन है। डा० बडधवाल वस्तुमुखी शोधकर्त्ता थे परन्तु उन्होंने विशुद्ध लोकजीवन के साथ इन सता का सम्बन्ध स्थापित करने का अधिक उद्योग नहीं किया है। यह काय आग चलकर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने किया परन्तु जहाँ तक प्रामाणिक शोध प्रक्रिया का सम्ब ध है डा० बडधवाल की पद्धति वैज्ञानिक स्तर पर पट्टची हुई है।

प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्विवेदीजी के एक अय सहयोगी हैं। प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र हि ती के रीतिकाल को अपने शोध का प्रमुख केन्द्र बनाया। वे पाठ शोधन एव संपादन क काय म आरम्भ से ही रुचि रखते थे। इस दिशा म उन्हें अपने गुरु लाना भगवानदीन से बडी प्रेरणा मिली थी। लाला भगवावतीन प्राचीन साहित्य के ममन सो थे ही प्राचीन काय की व्याख्यायें और अथ करन म अप्रतिम थ। केशव और बिहारी पर उन्होंने आरम्भिक टीकायें लिखी थी और पाठ सशोधन किया था। प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी न उनके इस काय को उपव हित करत हुए केवल ग्र यावती बिहारी की वाग्विभूति, पट्टमाकर पञ्चमन जैसे ग्र या का संपादन किया और भूमिका म विशद रूप से उन कवियों की जीवनी और काय रचना पर प्रकाश डाला। भूपण पर भी मिश्र जी का काय उल्लसनीय है। परन्तु जिस काय से मिश्र जी हिं दी के एक प्रमुख शोधकर्त्ता क रूप म प्रतिष्ठित हुए हैं वह है धनानंद सम्बन्धी उनका शाधकाय। न केवल वे एक अल्प प्रचलित कवि को सम्पूर्ण प्रकाश म लाये वरन रीतिमुक्त कवियों की उम सम्पूर्ण परम्परा को भी रूपाहित किया जिनका उल्लेख आचार्य गुक्ल जी न अपने इतिहास ग्र थ म किया था। पाठशोधन का एक अत्य न महत्वपूर्ण काय उन्होंने अभी अभी रामचरित मानस के 'काशीराज संस्करण के रूप म किया है। जिस पर उनकी प्रशस्त भूमिका अभी प्रकाशित

द्विवेदी युगीन समीक्षक और शोधकर्ता

होन वाली है। यो मिश्र जी ने 'हिंदी साहित्य का अतीत' नामक ग्रंथ में हिंदी के इतिहास का आशिक निर्माण किया है। उनकी टिप्पणियाँ और उनके शोधनिर्देशन काफी महत्वपूर्ण हैं।

मिश्रजी ने भी अपने शोधकाय में शोध की वस्तुमुखी परम्परा का ही आधार लिया है। वस्तुमुखी परम्परा से हमारा आग्रह यह है कि कवियों एवं कृतियों का यथातथ्य जीवन निर्देश उनकी रचनाओं का शास्त्रीय साहित्यिक मूल्य की दृष्टि से आकलन है। शास्त्रीय परम्परा का पथ प्रधान होने के कारण मिश्रजी के शोधकाय में वे नवीन उद्भावनाएँ नहीं जो एक समाजशास्त्र या ऐतिहासिक शोधकाय में हुआ करती है परन्तु साहित्यिक सौंदर्य और मूल्यों के परिष्करण में उनकी दृष्टि काफी पनी है। ऐतिहासिक शोध की दिशाओं में का परिश्रम श्लाघ्य है।

श्रीचंद्रबली पाण्डेयजी भी द्विवेदीजी के समवयस्क शोधकर्ताओं में से हैं। वे भी आचार्य शुक्ल के शिष्यत्व की सीमा में रहकर काम करते रहे हैं। सबसे पहले उन्होंने 'तत्सम्बन्ध या सूफीमत' पर अपनी विशिष्ट शोध पुस्तक का प्रणयन किया जिसमें सूफी काव्य के मौलिक स्रोतों का अनुसंधान किया गया है। शुक्लजी की ही भाँति पांडेय जी ने भारतीय चिन्तन भूमिका पर सूफी चिन्तन के तुलनात्मक रूपों का निर्देश किया है और भारतीय परिस्थितियों में सूफीकाव्य के नवीन आयाम प्रस्तुत हुए उनकी प्रशंसा की है। पांडेय जी ने 'केशवदास' और तुलसीदास पर स्वतंत्र ग्रंथ लिखकर उनकी जीवनी और काव्य परम्परा का विशद रूप से निर्देश किया है। मूलतः शुक्लजी ने साहित्यिक दृष्टि का इन ग्रंथों में भी प्रसार या विस्तार दिया गया है। इसी प्रकार पाण्डेय जी ने हिन्दी के मध्यकालीन काव्य के अग्र्य पन्नों पर स्वतंत्र शोधकार्य निबन्ध लिखे हैं।

परन्तु पाण्डेय जी का मुख्य काय भाषासम्बन्धी अनुशीलन और हिन्दी पर किए जाने वाले आरोग्यपूर्ण प्रयासों में रहा है। उनके भाषासम्बन्धी इस काव्य की समता का काम हिन्दी में कम ही दिखाई पड़ता है जिस प्रकार उर्दू भाषा और साहित्य के प्रचार और प्रसार में मौलाना अब्दुल हक ने स्मरणीय काय किया है उसी प्रकार पाण्डेयजी ने हिन्दी भाषा के यथायत्न राष्ट्रीय स्वरूप को अपनी भाषा सम्बन्धी शायों द्वारा परिष्कृत कर दिया है।

पाण्डेय जी निर्भीक ही नहीं बल्कि अत्यन्त स्पष्ट भाषी हैं और कठोर-यही व्यापारिक सीमा तक जाने वाले विद्वान् रहें हैं। सड़न मड़न में भी उन्होंने

पर्याप्त दिलचस्पी दिखाई थी अतएव रचनात्मक दृष्टि में उनका गीतकाय गीत की वपानिक शैली का अनुधावन न करके उनकी निजी शैली का प्रतिनिधित्व करता है। अय मता का प्रतिवाद करने के लिए विशय रूप से निष्णान रह है। कह सकते हैं कि भारतीय अनुगोलन की पुरानी पद्धति जिस प्रकार पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष की व्यवस्था थी और अय मत निदर्शन एक आवश्यक काय समजा जाता था उसी पद्धति या प्रतिमान को पांडेयजी न अपने गीतकाय में प्रमुख स्थान दिया है।

प्राचीन साहित्य सम्बन्धी इन शोधकर्त्ताओं के अतिरिक्त काशी नागरी प्रचारिणी सभा से सूरसागर का संपादन करन और गीता प्रेस, गोरखपुर से राम चरितमानस का प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित करन में पाठालोचन सम्बन्धी शोधकाय आचार्य न ददुलारे बाजपयी जी न किया है। बाजपयीजी न सूरदास पर एक समीक्षा ग्रंथ भी प्रकाशित किया जिसमें शोध सम्बन्धी कुछ तथ्य मिलते हैं परन्तु उनकी विशेष रुचि समीक्षात्मक होने के कारण उन्होंने सूरदास के काय सम्बन्धी जो विवेचन किया है वह कदाचित अधिक महत्वपूर्ण काय है। सूरदास के काय को उसकी उदात्त मानसिक और कलात्मक भूमिका में ले जाकर परखा गया है। जिससे सूरदास के प्रगत काय का नया सौष्ठव उदघाटित हुआ है। बाजपेयीजी की रुचि सद्भातिक समीक्षा सम्बन्धी शोधकाय की ओर रही है जिसके फलस्वरूप उन्होंने भारतीय सिद्धांत तथा अय कतिपय साहित्य सिद्धांतों पर अपने नये निर्देश दिए हैं जो उनकी गीतात्मक दृष्टि के परिचायक हैं। राम चरितमानस के व्याकरण को भी उन्होंने गीता प्रेस के मानस संस्करण में सम्युक्त रूप से एक बड़ा निबंध लिखा है जो उनकी भाषा और व्याकरण सम्बन्धी विवेचन का परिचायक है। पाश्चात्य समीक्षा सिद्धांतों का प्रम विकास दिखाते हुए उन्होंने एक प्रशस्त निबंध भी लिखा है जो 'नया साहित्य नये प्रश्न नाम की उनकी पुस्तक में प्रकाशित हुआ है। इस प्रकार सद्भातिक गीत सम्बन्धी कार्यों में उनकी अभिरुचि प्रारम्भ ने ही बनी रही है—जिसके फलस्वरूप इस क्षेत्र में उन्होंने अपनी समीक्षा और शोध दृष्टि का परिचय दिया है।

प्राचीन शोध के लिए कुछ पत्रों पर प्रयाग विश्वविद्यालय के डा० माता प्रसाद गुप्त न उल्लेखनीय काय किया है। उनकी भी अभिरुचि अधिकतर पाठ शोधन की ओर रही है। उन्होंने रामचरितमानस, पदमावत, बीसलदेव रासो आदि ग्रंथों के शुद्ध संस्करण प्रकाशित किया है और उनके पाठों के सम्बन्ध में अपना अभिमत दिया है। गोस्वामी तुलसीदास पर उनका शोध ग्रंथ विशेषतः गोस्वामीजी के ग्रंथों की रचना विधि का निरूपण के लिए प्रसिद्ध है। उनके य

निरूपण जिन आधारों पर अवलम्बित हैं वे आशिक आधार उनके निणयों पर हिन्दी के विद्वान सहमत नहीं हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त पाठशोध, तिथि निरूपण सम्बन्धी वैज्ञानिक दृष्टि का आधार लेते हैं परन्तु साहित्यिक शोध में कला की प्रौक्त्या आदि का आदर्श में मूल्यवान होते हैं। इन आदर्शों का उपयोग न करने का कारण डा० गुप्त के इस विषय के शोध को वैज्ञानिक हैं वास्तविकता नहीं आती। इधर कुछ समय से डा० गुप्त न सूफी का य और रासी काव्य के सम्बन्ध में भी अपने शोधात्मक विचार प्रकट किए हैं। डा० गुप्त की शोध शैली अत्यधिक यांत्रिक है अतएव अनेक बार साहित्यिक तथ्यों का उद्घाटन करने में पश्चात् पद रह गई है। फिर भी हिन्दी का अधुनातम शोधकर्त्ताओं में गुप्त जी एक उल्लेखनीय स्थान रखते हैं।

प्रयाग विश्वविद्यालय के एक अन्य शोधकर्त्ता डा० लक्ष्मीसागर वाष्ण्य आधुनिक युग के उस सधिकाल के अनेक तथ्यों पर प्रकाश डाल सके हैं जिन्हें हम सामान्यतः भारत दु युग की पृष्ठभूमि कह सकते हैं। हिन्दी गद्य के सम्बन्ध में वाष्ण्यजी का शोधकाय वस्तुमुखी कहा जा सकता है, परन्तु जब कभी वे वस्तु स्थापन के अतिरिक्त उस काल के भाषा या साहित्यिक अध्ययन में प्रस्तुत होते हैं तब उनके विचार उनसे सवमाप नहीं रह जाते। इसका कारण कदाचित् यह है कि भाषा और साहित्य की स्वरूप विषयक गम्भीर अन्तर्दृष्टि उनके विचारों में यथेष्ट मात्रा में नहीं होती। फिर भी विवरणात्मक और ऐतिहासिक तथ्यमूलक मूल्यवान शोधकाय वाष्ण्यजी के द्वारा किया गया है।

सन् १९०० से लेकर १९२५ तक के हिन्दी साहित्य के विवरणात्मक शोध का अच्छा काय डा० श्रीकृष्णलाल ने किया है। उनकी प्रमुख विशेषता विवेचन विषय को उचित वर्गों में विभाजित कर उसका सगुण्य परिचय देना है। इसके माध्यम से लेखकों के नामों तथा उनकी रचनाओं की तिथियों आदि का निरूपण करने में काफी परिश्रम का परिचय देते हैं। इस प्रकार की सामग्री इन २५ वर्षों की अंततः डा० कृष्णलाल ने दी है उनकी किमी ने नहीं दी। उनके व्यावहारिक वर्गीकरण भी यथेष्ट मात्रा में उपयोगी हैं परन्तु ज्यों ही साहित्यिक विवेचन और आकलन की समस्या आती है उनके विचार और निर्णय सन्धि हो जाते हैं। डा० लाल ने सुलसीदास और मीरा साई पर भी स्पष्ट पुस्तकें— लिखी हैं। इन्हें देखने पर पता होता है कि इनका साहित्यिक एकांगी है और अपर्याप्त है। रामचरितमानस की जैमी तुलना उन्होंने बाल्मोकि रामायण से की है उसमें इतिहास की परिवर्द्धित परिस्थितियों का कोई ज्ञान नहीं कराया जा सका। गोस्वामीजी के चरित्र-वर्णन पर डा० के आक्षेप और भी असाहित्यिक हैं।



आचार्य शुक्ल ने राम के शील शक्ति और सो-दय की जो भूमिका तुलसी के मानस से लेकर उपस्थित की है उसका अभ्यास खण्डन करते हुए जो तक डा० कृष्णलाल ने दिये हैं वे नितान्त असाहित्यिक और सांप्रदायिक हैं। जब तक किसी शोधकर्ता की साहित्यिक चेतना विकसित न हो और जब तक उसे समकालीन परिस्थितियों और तज्जय प्रेरणास्रोत का यथेष्ट सहानुभूतिपूर्ण विचार न हो तब तक कोई भी साहित्यिक शोधकाय समुन्नत नहीं कहा जा सकता।

द्विवेदीजी के अय समयस्क हिंदी शोधकर्ताओं में डा० बलदेवप्रसाद मिश्र का नाम भी उल्लेखनीय है। उन्होंने विश्वविद्यालय से बाहर रहकर भी 'तुलसी दशन' जैसे शोधात्मक प्रबंध का निर्माण किया। डा० मिश्र जी की शोध प्रणाली वस्तुमुखी और विवेचनात्मक है तथा उन्होंने अपनी ऐतिहासिक दृष्टि का भी इस शोध में परिचय दिया है। डा० मिश्र आचार्य शुक्लजी की विचार परम्परा के अनुयायी हैं अतएव वे तुलसीदास जी के ग्रंथों के दार्शनिक पक्ष का अच्छा अनुशीलन कर सके हैं। मानस के विभिन्न चरित्रों का माध्यम से भी उन्होंने गोस्वामी जी के दशन की खोज की है। नागपुर विश्वविद्यालय में डा० मिश्र ने एक भाषण माला प्रस्तुत की थी जिससे उनके भारतीय इतिहास और साहित्य सम्बन्धी विस्तृत ज्ञान का परिचय मिलता है।

विश्वविद्यालयों से दूर रहकर उत्कृष्ट काटि का शोधकाय करने वालों में श्री परशुराम चतुर्वेदी का नाम भी भुलाया नहीं जा सकता। चतुर्वेदीजी की मुख्य अभिरुचि भारतीय सतकाय के प्रति रही है। जिसके कारण उन्होंने इस क्षेत्र के साहित्य का सर्वाङ्गीण अध्ययन और अनुशीलन किया है। चतुर्वेदीजी की दूसरी निष्ठा सूफी काव्य के प्रति रही है। हिंदी के सूफी काव्य पर उनके शोधात्मक विचार बहुत अधिक माननीय हैं। श्री चतुर्वेदी जी की शोध शैली व्याख्यात्मक होती है। अतएव वे अपने विषय को सामान्य विद्यार्थियों के लिये भी उपयोगी बना देते हैं। इस कारण उसके शोधकाय में पर्याप्त गम्भीरता चाहे नहीं होती हो किन्तु इसमें उनकी शोध सम्बन्धी लगन और साधना के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। श्री चतुर्वेदी जी असाधारण अध्ययनशील और विचारशील व्यक्ति हैं उन्हें भारतीय सांस्कृतिक विकासक्रम का भी अच्छा बोध है। अतएव उनका शोधकाय मतभेदों की सृष्टि नहीं करता, बल्कि काफी प्रौढ़ और प्राग्स्त प्रतीत होता है।

### आधुनिक विश्वविद्यालयीन शोध

द्विवेदीजी के शोधकाय का तुलनात्मक स्वरूप को समझने के लिए आधु

निक युग के उस विश्वविद्यालयीन शाघकाय पर भी दृष्टि डालनी होगी जो प्रायः पी० एच० डी, डि० लिट, की उपाधि के लिये प्रस्तुत किये गये हैं। यह शाघकाय सन् १९३० के लगभग आरम्भ हुआ और आज तक चल रहा है और उसमें उत्तरोत्तर गति आ रही है। इस शाघकाय में विविध तत्व हैं परन्तु स्पर्धीयता (Standard) का यहाँ हम इस शाघकाय को जो विश्वविद्यालय के माध्यम से हुआ है कतिपय भागों में बाँटकर देखना चाहेंगे।

## (१) हिन्दी के प्राचीन कवि और काव्य सम्बन्धी शोध

इस शोध के अन्तर्गत चन्दबरदाई, कबीर, तुलसीदास, मीराबाई, जायसी और कतिपय प्रेम मार्गीय कवि, रीतिकालीन केशवदास, बिहारी, घनानन्द, सूरदास तथा अष्टछाप के कवि, पद्मकार आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त कतिपय सत कवियों और दरवारी कवियों का भी शोधकाय किया गया है। इस क्षेत्र में किए गये कार्य में यह बताना तो कठिन है कि इस इतिहास लेखन की सामग्री विरहित हुई है परन्तु भिन्न भिन्न कवियों की साहित्यिक विशेषताओं उनका सामाजिक परिपक्व उनका वैचारिक और सांप्रदायिक रूप-रेखाओं और उन पर पढ़ने वाले पूर्ववर्ती प्रभावों का यथेष्ट निर्देश किया गया है। इन शोधों में कवियों की जीवनी और उनको काव्य कृतियों की रचना विधियों का अनुगोचन किया गया है, यद्यपि जीवनी निर्माण का कार्य अधिक सफल नहीं हो सका है। इस क्षेत्र में यह कार्य करने की पर्याप्त सम्भावना नहीं है। संपूर्ण भारतीय भूमिका पर हिन्दी के कतिपय कवि और काव्य धाराओं का विवेचन भी इस प्राचीन शाघ में नहीं के बराबर किया गया है। प्राचीन काव्य के स्वरूप उनकी परम्परा और उनकी विकास दिशा का आकलन भी यून मात्रा में हुआ है। अतः कवियों एवं उनकी अज्ञान कृतियों की मात्रा भी कम हुई है। प्राचीन हस्तलिखित प्रतिष्ठों की अपेक्षायुक्त यूनना हान के कारण प्रामाणिक पाठों का शोध भी कम हुआ है। इस सभी विचारों में अधिकाधिक शोधकाय अर्पित बना हुआ है।

## (२) प्राचीन सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण का शोध

यह भी प्रायः शोध का एक आवश्यक अंग है जो कवियों की जीवनी की ही भाँति उनको सामाजिक परिस्थितियों के चित्रण के लिये अर्पित है परन्तु इस क्षेत्र में भी अब तक पर्याप्त कार्य नहीं हो सका है। सामाजिक और सांस्कृतिक शाघ अधिकतर आधुनिक युग से सम्बन्धित किये जा सके हैं। सांस्कृतिक

या सामाजिक पृष्ठभूमि के खोज के नाम पर अधिकतर भक्ति के विभिन्न संप्रदायों और उनकी विचारधाराओं पर अभी प्रकाश डाला गया है परंतु सच्च अथ म उसे सांस्कृतिक खोज नहीं कहा जा सकता। लोक भाषाओं का का य और उसकी ऐतिहासिक निरंतरता पर भी बहुत स्वल्प काय हुआ है। इन प्रकार जिस सच्च अर्थों में ऐतिहासिक भूमिका का शोधकाय कहा जा सकता है अब तक अधिक मात्रा में नहीं लिखा जा सका।

### (३) जीवनी सम्बन्धी शोध

सूरदास, तुलसीदास, कबीर, केशवदास तथा जायसी को छोड़कर हिंदी के प्राचीन कवियों की जीवनियों पर भी शोधकाय की 'यूनता' दिखाई देती है। प्राचीन कवियों, नये कवियों और लेखकों की जीवनियों का अनुसंधान भी अभी आरम्भिक स्थिति में है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र, प्रताप नारायण मिश्र बालमुकुंद गुप्त, बालकृष्ण भट्ट आदि की कुछ जीवनिया ही लिखी गई हैं। परंतु जीवनी और लेखक की दृष्टि अभी पर्याप्त विकसित नहीं है। प्रायः लोग जीवन की कतिपय घटनाओं को ही जीवनी समझ लेते हैं। परंतु जीवनी में आशय यक्तिया के उस आंतरिक और दैनन्दिनी कथा जीवन से भी है जिसका आलेखन अपेक्षाकृत कठिन काय है। हिंदी में डायरी लेखन की प्रणाली अविकसित दशा में रहने और आत्म-जीवनी लेखन की प्रणाली भी विरल होने के कारण जीवनी लेखन में कठिनाइयाँ आती हैं। वस्तुतः जीवनी लेखन का काय किसी अंतरंग मित्र, प्रियसी या पत्नी का हुआ करता है परंतु इस प्रकार की जीवनिया लिखी नहीं गई। पत्रों द्वारा भी जीवनी के अनेक अर्थों पर प्रकाश पड़ता है परंतु हिंदी के प्रमुख कवियों एवं लेखकों के पत्रों का संग्रह भी यथेष्ट मात्रा में नहीं हुआ है। कवियों और लेखकों की जीवनी का अंतरंग परिचय हुए बिना उनका समग्र सांस्कृतिक विवचन करना भी कठिन है। आवश्यकता यह प्रतीत हाती है कि जीवनी लेखन के क्षेत्र में अधिक मनायाग पूर्वक और प्रामाणिक प्रकार का शोध किया जाय।

### (४) आधुनिक काव्य सम्बन्धी शोध

हिंदी के वर्तमान युग में विश्वविद्यालयों के द्वारा आधुनिक साहित्य सम्बन्धी शोधकाय प्रचुर मात्रा में हो रहा है। कुछ विचारक यह समझते हैं कि आधुनिक साहित्य सम्बन्धी शोध मुख्यतः समीक्षात्मक है। उनके इस धारणा के मूल में साथ सम्बन्धी वह पुराना आशय है जिसके अनुसार शोधकार किसी अज्ञात वस्तु का प्रकाश में लाता है। यह माना जाता है परंतु शोध सम्बन्धी यह

धारणा बहुत कुछ एकांगी है। शोध का लक्षण ज्ञान प्रसार है ज्ञान के साथ ही अनेक भूमिकाएँ हो सकती हैं। अज्ञात वस्तुओं को प्रकाश में लाना उनमें से केवल एक भूमिका है। वर्तमान युग का शोधकाय इतने में ही सीमित नहीं रह सकता। प्राचीन कवियों एवं कृतियों का समीक्षात्मक अनुशीलन आधुनिक शोध का एक आवश्यक अंग है। प्राचीन साहित्यिक मिट्टी तो और विभिन्न साहित्यिक संप्रदायों को भवनी वैज्ञानिक भूमिका पर उपस्थित करना ऐसे शोध के लिये अतिशय आवश्यक है। प्राचीन कवियों की जीवनी उनके काव्य का अनुक्रम विवेचन भी शोध का नया विषय है। यदि तो शोध सम्बन्धी प्राचीन भूमिका की ही एक आधुनिक भूमिका है। जबस हमारा देश पश्चिम के संपर्क में आया है तबसे काव्य सम्बन्धी हमारे आकलन में आवश्यक परिवर्तन हुए हैं। न केवल समीक्षण की शैली बदली है एक बड़ी मात्रा में दृष्टिकोण भी बदला है। इस दृष्टिकोण को उभरी सर्वांगीणता में उदघाटित करना आधुनिक साहित्य की विवेचना की भूमि पर अधिक उपयोगी हो सकता है। भारतीय और पश्चिमी दृष्टियों के समकक्ष से साहित्यिक विवेचन की नयी परम्परा रूपायित हो सकती है सैद्धांतिक भूमिका पर भी भारतीय और पश्चिमी साहित्य शास्त्र के विविध पक्षों पर नया काय किया जा सकता है जो अधिकांश समीक्षात्मक ही होगा। विविध कवियों और उनकी कृतियों का तुलनात्मक विवेचन भी आधुनिक शोध का एक उल्लेखनीय पक्ष है केवल एक प्रदेश के ही नहीं, विभिन्न प्रदेशों के भारतीय साहित्य की साहित्य विधाओं की और साहित्य धाराओं की तुलनात्मक विवेचना भी अपेक्षित है। अनेक साहित्य रूप नवयुग में विकसित हुए हैं उदाहरणार्थ नये उपवास, नयी कहानी, नये निबंध, वर्तमान युग की सृष्टि, उनका विवेचन विश्लेषण व मूल्यांकन भी अपेक्षित है। उपसाहित्य ज्ञान के सम्बन्धन में इन सबका अपना महत्व है। यदि द्विवेदी का शोधकाय इन विषयों की ओर उन्मुख होता है तो इसे कौरी समीक्षा कहकर शोध भूमिका से बहिष्कृत करना न केवल एक प्रतिमान या प्रतिनिधावादी काय होगा बल्कि राष्ट्रीय ज्ञान विस्तार में भी बाधक बनगा विशेषकर जब यह समीक्षात्मक अनुशीलन शोध सम्बन्धी प्रक्रियाओं का अनुसरण करते हुए किया जा रहा है। जब बहिरंग में भी यह काय शोध विषय का है तब इस सम्बन्ध में शक्यात्मक दृष्टि का परिचय देना घटी के काटो का पीछे खींचना ही कहा जायगा।

आधुनिक साहित्य सम्बन्धी शोधों में गोप सम्बन्धी प्रामाणिक विषयों का प्रयोग किया जा रहा है। कवि विरोध और उनकी कृति विरोध के दार्शनिक आधार का अनुशीलन हो रहा है। उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की जा

रही है। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा से उनका योग दिखाया जा रहा है। उनकी जीवनी के अपरिचित और अज्ञात तथ्यों का व्यवस्थित रूप से अनुसंधान किया जा रहा है। आधुनिक काव्य तथा साहित्य सम्बन्धों यह शोधक्रमशः सर्वाङ्गीण भूमिका पर ग्रहण किया जा रहा है। प्राचीन कवियों की खोज में इन सारे तथ्यों का प्रयोग सुगमता पूर्वक नहीं हो पाता। विशेषकर उनकी जीवनी का निर्माण तथ्यात्मक सामग्री के अभाव में ही नहीं होता। इन अभावात्मक पक्षों से सभी विचारक खिन्न हैं परन्तु विवश भी हैं। आधुनिक साहित्य सम्बन्धी शोधों में ये अभाव न रह जाय और हम आगे चलकर पछताना न पड़े इस निमित्त नए साहित्य के शोधकर्त्ताओं को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। सामान्यतः यह नियम है कि किसी जीवित कवि या लेखक पर शोध काय करना समीचीन नहीं होता परन्तु इस नियम को हम बहुत दूर तक नहीं खींच सकते जो साहित्यकार परिपूर्ण प्रौढ़ता पर पहुँच चुके हैं और जिनके सम्बन्ध में नये विकास की सम्भावना नहीं रह गई है उन पर शोधकाय करना अनुपादेय नहीं होगा, क्योंकि हमारा लक्ष्य साहित्यिक शोधकाय द्वारा साहित्य परम्परा को पुष्ट करना भी है। विदेशी साहित्य का आश्रय नयुवक लेखकों पर होना जा रहा है। ऐसी स्थिति में आधुनिक हिंदी की काव्य और साहित्यिक परम्परा का स्पष्ट चित्र नये लेखकों के सम्मुख उपस्थित कर देना भी आवश्यक है। ऐसा न होने पर विदेशी प्रभावों के अनावश्यक रूप से बढ़ जाने का खतरा रहेगा और हिंदी साहित्य की राष्ट्रीय भूमिका आवश्यक रूप से अवरुद्ध हो जायेगी। इसका प्रभाव हमारे रचनात्मक साहित्य पर भी पड़गा और महाकवियों और लेखकों की वह राष्ट्रीय परम्परा स्थापित नहीं हो सकेगी जो अभीष्ट है। कोई भी महत् काव्य विदेशी अनुकरण पर निर्मित नहीं होता इस तथ्य का ज्ञान नये लेखकों को होना चाहिए और यह ज्ञान आधुनिक साहित्य सम्बन्धी शोधकाय से कराया जा सकता है।

भारते दुःहरिश्चन्द्र और उनके युग के सम्बन्ध में आकलनात्मक काय तो किया गया है परन्तु एक एक कवि और लेखक को लेकर उसके कृत्यों का स्पष्ट स्वरूप हमारे समक्ष अब तक नहीं आया है। आधुनिक साहित्य के शोधकाय में इस पक्ष पर क्रमशः ध्यान दिया जा रहा है और भारतेन्दु युग के कई लेखकों पर शोधकाय किया भी जा चुका है। अनेक लेखकों पर भी शोध बाकी है। द्विवेदी युग के कनिष्ठ कवियों और लेखकों पर शोधार्थक काय हो चुका है। रत्नाकर श्रीधरपाठक, मयिलीगरण गुप्त अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि कवियाँ और आचार्य रामचन्द्र गुप्त और प्रेमचन्द्र जैसे समीक्षकों और कथाकारों पर अल्पे प्राथम्य प्रस्तुत किए जा चुके हैं। स्वयं द्विवेदीजी पर दो तीन शोध प्रबंध निर्मित हो चुके हैं।

वर्तमान युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों और वाध्यधाराओं पर कई शोधकर्ताओं ने कार्य किया है। इस युग के कवियों में साहित्यिकों की जीवनी का आबखान अभी पर्याप्त मात्रा में नहीं हो पाया है। इस कार्य पर सबसे पहले दृष्टि डालना आवश्यक प्रतीत होता है।

वर्तमान युग में गद्य, उपन्यास, कहानी और कतिपय अन्य साहित्यिक विधाओं का उचा विरास हो रहा है। इन विधाओं पर न केवल विकासार्थक अध्ययन और अनुसंधान की आवश्यकता है बरन इसके नवीन शिल्प पर भी प्रकाश पड़ना आवश्यक है।

### (५) सैद्धांतिक समीक्षा

विश्वविद्यालयों में साहित्य साधन और साहित्य की सैद्धांतिक रूपरेखा पर कुछ शोधकाय हुआ है परन्तु अधिकतर संरक्षणार्थक विभिन्न संप्रदायों का विकासार्थक परिणय मान दिया गया है। समस्त संप्रदायों के समीकरण का अवतरण कम ही हुआ है। रण गिज्ञान को लेकर आधुनिक काल में कुछ साधारणक काय किया गया है परन्तु इसमें भी प्राचीन तथ्यों को एकत्रिक करने की शैली ही अनार्थक गई है। इसी सैद्धांतिक समीक्षा में सशय विभिन्न साहित्यिक रूपों के स्वरूप और विकास का विवेक भी आना है जिस पर काल ही में दो तीन प्रबंध लिखे गये हैं। परन्तु इस क्षेत्र में अभी अर्याधिक काय शोध पड़ा है। प्रगीतपरिचय रूप पर अब तक एक भी सतोपजयक शोध प्रबंध प्रस्तुत नहीं किया गया है। हाल में उपन्यासों के स्वरूप विकास पर कुछ कार्य अवश्य हुआ है। महाकाव्य के शिल्प विधान को लेकर एकाय प्रबंध प्रकाशित हुए हैं। द्विदशवीं सैद्धांतिक पर दो ही प्रबंध प्रकाशित हुई हैं जिन्होंने इस विषय पर अच्छा प्रकाश पड़ गया है।

### घाद सम्बन्धी शोध

सैद्धांतिक समीक्षा में एक अंग के रूप में घादों का विवेक भी आता है। प्रत्येक घाद का एक पारिभाषिक आधार होता है और उक्त आधार का आधम लेकर साहित्यिक कृतियों में उपनय है। घाद पारिभाषिक शोध को वस्तु है। अतएव उक्त घादों के साहित्यिक कृतियों से सुनिश्चित करने देना भी आवश्यक होता है। द्विदशवीं में स्वच्छन्दतावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि कतिपय आधुनिक घादों और उक्तें प्रगतिरहित होने वाली कृतियों का समीक्षण किया

है। हाल में आधुनिक मनोविज्ञान सम्बन्धी बातों को लेकर कुछ विवेचन हुआ है परन्तु इस दशा में अभी और भी शोधकाय अपेक्षित जान पड़ता है।

## भाषा सम्बन्धी शोध

भाषा सम्बन्धी शोधकाय में अधिकतर हिन्दी में प्रादेशिक भाषाओं का प्रमुख विकास को ओर ध्यान दिया गया है। अबघो, ब्रजभाषा, मथनी, भोजपुरी खड़ी बोली आदि पर शोधप्रवृत्ति लिखे गये हैं परन्तु इन भाषाओं का वैभिन्न शताब्दियों में क्या स्वरूप रहा है और परवर्ती शताब्दियों में कौन से नए प्रचलन हुए हैं उनका ऐतिहासिक विवेचन दुर्लभ है। अनेक शोधकर्त्ताओं ने लोकसाहित्य पर विचार करते हुए उन प्रदेशों की लोकभाषा पर कुछ अध्ययन लिखे हैं। परन्तु इस पद्धति से किसी लोकभाषा का समग्र ऐतिहासिक अनुगोलन नहीं हो पाता। हाल में अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी, डिगल आदि प्राचीनतर भाषाओं को भी काय करने की प्रवृत्ति दिखाई दी है। अभी इन दिशा में बहुत अधिक काय करना शेष रह गया है। प्रादेशिक भाषाओं से और आगे बढ़कर क्षेत्रीय बोलियाँ पर ही काय किया जाना लगा है। भारतीय विश्वविद्यालयों में भाषा सम्बन्धी स्वतंत्र विभाग कम ही हैं। कदाचित् इसी कारण भाषाओं के अनुशीलन का काय अभी अपनी आरम्भिक अवस्था में पड़ा हुआ है।

## शोध के क्षेत्र में द्विवेदीजी की विशेषतायें

हिन्दी के प्रमुख शोधकर्त्ताओं और विश्वविद्यालयीन शोधकाय के परिप्रदेश में अब हम द्विवेदीजी के शोधकाय की विशेषतायें देख सकते हैं। मूलतः द्विवेदीजी एक स्वच्छ नावानी विचारक हैं। परन्तु वे प्राचीन साहित्य के पण्डित भी हैं। उन्होंने उसका अध्ययन भी किया है। विष्णुधर द्विवेदी के आदि कालीन साहित्य को उन्होंने देखा और परखा है और बहुत सी बातें प्रकाश में लायी हैं। द्विवेदीजी के मानवतावादी दृष्टि के कारण उनका शोध क्षेत्र भी अधिकतर एम युगो से सम्बन्धित है जिसमें साहित्य की गतिविधि सामान्य जनता के अधिक समीप पहुँच गई थी। सिद्ध संप्रदाय नाथसंप्रदाय, कबीर और निगुणकाय की धारा सामान्य रूप में जनसाहित्य के अधिक समीप है। उसमें परिनिष्ठित साहित्य और कला के गुण अल्पमात्रा में ही पाये जाते हैं। द्विवेदीजी की अभिरुचि थी कि लोकजीवन से सम्बन्धित रही है इसलिये उन्होंने परिनिष्ठित साहित्य की भूमिकाओं को छोड़कर उन लोक कवि और लोक साहित्य की भूमिकाओं में प्रवृत्ति किया है जिन्हें मूलतः जनता के कवि और जनता का काव्य कहा जा सकता है।

स्वभावतः यह जनकाव्य साहित्य के इतिहास में अब तक उपेक्षित रहा है। हिन्दी के शोधकर्ता और आचार्य इस प्रकार के साहित्यिक शोध की ओर उन्मुख नहीं हुए क्योंकि इस वे वास्तविक साहित्य की श्रेणी में स्वीकार करने की तैयारी नहीं थी। दूसरी बात यह भी थी कि मूर और तुलसी जैसे कवि भारतीय धर्म की स्वाभाविक विकास परंपरा में आते हैं। इसकी परंपरा शास्त्रसम्मत है। इसके विपरीत जिन कवियों और काव्य रचनाओं को द्विवेदी जी ने शोध का विषय बनाया है वे किसी संवसामाय शास्त्रीय परंपरा से संपृक्त नहीं हैं। इस प्रकार के साहित्य को गौरव देकर और उसकी शोधात्मक छानबीन करके द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य को शोध का एक नया क्षेत्र ही नहीं साहित्य की एक नवीन दृष्टि देने का भी प्रयत्न किया है। यह उनके शोधकाव्य का ऐतिहासिक महत्व है।

जब कभी द्विवेदीजी अपने अभिप्रेत कवियाँ और काव्यधाराओं के अनुसंधान में प्रवृत्त होते हैं तब पृष्ठभूमि में वे उन धार्मिक और लौकिक विश्वासों का भी प्रस्तुत करते हैं जिसके आधार पर इन कवियों की श्रमबला बन पाई है। धार्मिक विश्वासों और जीवनपद्धतियों के इस निरूपण में द्विवेदीजी शास्त्रपक्ष को आधार न बनाकर लोकपक्ष की गतिविधियों को प्रस्तुत करते हैं। उनके विचार में सामाय जनता उन्हीं आदर्शों को लेकर चली है जो इन कवियों द्वारा अभिव्यक्त किए गये हैं। जहाँ तक इन कवि साधकों की साधना प्रणालियों का प्रश्न है उन्हीं उसका बहुत कुछ लोक सापेक्ष स्वरूप प्रकट किया है। जो जनता वर्णाश्रम धर्म की निचली श्रेणी में रख दी गई थी उसकी अपनी जीवनचर्या और लौकिक तथा अध्यात्मिक आदर्श क्या थे इन प्रश्नों और प्रकरणों को द्विवेदीजी ने विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है। इस प्रकार द्विवेदीजी का शोधकाव्य उस विशेष साहित्य से संबंधित है जिसका प्रसार और प्रभाव शिष्ट समाज में उतना नहीं था जितना सामाय जनता में था। इसी आधार पर द्विवेदी जी ने उस लोकभाषा को भी नया महत्त्व प्रदान किया है। वह साहित्यिक न होते हुए भी अपने स्वतंत्र प्रतिमान रखती है। इस शोधकाव्य को नवीन सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टि का पयाय माना जाय तो अनुचित न होगा।

प्राचीन साहित्य के अध्ययन के आधार पर द्विवेदीजी के रासो काव्य सम्बंधी कुछ शोधकाव्य किया है यह रासो काव्य लोक काव्य की भूमिका से कुछ भिन्न है। विशेषकर पद्मीराजरासो की काव्य और कथासृष्टियों के आधार पर द्विवेदीजी ने उच्च प्राचीन अर्थों की दृढ़ निश्चयन की चेष्टा की है। यद्यपि स्वयं भी वे पद्मीराजरासो के आदिम और प्रामाणिक अर्थ के सम्बंध में पूर्णतः विश्वास नहीं करते फिर भी उसका एक आनुमानिक स्वरूप उन्होंने निर्धारित



किया है जिस पर आगामी शोधकाय के लिये पर्याप्त अवकाश है। इसी सम्बन्ध में उन्होंने पुरानी हिन्दी और अपभ्रंशकालीन भाषा स्वरूपों की खोज की है जिस पर उनके कतिपय शिष्यों ने कुछ और भी काय किया है। इस प्रकार हिन्दी के आदिकाल के सम्बन्ध में द्विवेदीजी की निष्पत्तियाँ प्रायोगिक गोध की सीमा में आती हैं जिनका अपना स्वतन्त्र मूल्य है।

संस्कृत साहित्य से भी अभीप्सित सामग्री लेकर द्विवेदीजी ने प्राचीन कला विलास, और काव्य रुढ़ियों आदि पर कुछ काय किया है जो शोध की श्रेणी में आ जाता है। यद्यपि इस शोध क्षेत्र में द्विवेदीजी शोधकाय की अपेक्षा सग्रहकर्ता के काय को अधिक सफलता के साथ संपन्न कर सके हैं। फिर भी शास्त्रीय भूमिका पर कवि और काव्य सम्बन्धी प्राचीन निर्देश बचा रहे हैं इसका अच्छा रेखाचित्र उपस्थित किया गया है। कदाचित् द्विवेदीजी इस दिशा में इस काय में तत्पर हुए हैं कि वे शास्त्रीय शैली के काव्य और जनकाव्य के अन्तर को और भी स्पष्टता के साथ रूपायित कर सकें हैं। कारण चाहे जो हो परन्तु इस क्षेत्र में उनके काय की विशेषता स्वीकार की जानी चाहिए।

द्विवेदीजी के शोधकाय को प्रायः सांस्कृतिक भूमिका पर किया गया शोध कहा जाता है। अधिक अच्छा ही यदि हम उसे लोक सृष्टि की भूमिका पर किया गया शोध मानकर उसके विशेष अध्ययन को समझ सकें। कहा जा सकता है कि द्विवेदीजी ने अपने संपूर्ण शोधकाय द्वारा लोकसाहित्य की एक पक्की पृष्ठभूमि तैयार कर दी है। वह वर्तमान लोकतन्त्रात्मक जीवन व्यवस्था में विशेष मूल्य रखती है। आज हिन्दी साहित्य में लौकिक सृष्टि और लोक काव्य के शोधों की जो एक स्वतन्त्रधारा चल रही है द्विवेदीजी इसके प्रमुख मार्ग निर्देशक कहे जा सकते हैं। शालीन साहित्य जो दरबारों में या शिक्षित समुदाय में महत्व रखता है अन्ततः थोड़े लोगों में ही प्रचलित हो पाता है। तुलसी और मुरदास को छोड़ दिया जाय तो इस शालीन साहित्य का क्षेत्र और विस्तार बहुत कुछ सीमित हो जाता है। रीतिकाल के कवि तो प्रायः सबके सब एक हासोग्मुख जीवनचर्या के प्रतिनिधि हैं। उनका साहित्य, रस और अलंकार की दृष्टि से समृद्ध हो सका है पर जनजीवन की भूमिका पर उसका लेशमात्र भी प्रश्न नहीं है। द्विवेदीजी ने इस संपूर्ण शालीन साहित्य को एक पक्की धनी में रखा। वास्तविक जनसाहित्य के स्रोतों में पढ़कर उसकी प्रमुख विभूतियों को उनके संपूर्ण महत्व सहित प्रकाश में ला रखा है तो उनका यह काय हिन्दी साहित्य की गोपपरंपरा में एक नय प्रवर्तन का काय कहा जा सकेगा। उनके शोधकाय के महत्व के सम्बन्ध में कोई भी दो मत नहीं हो सकते।

## उपसंहार और प्रदेय

### व्यक्तित्व की विशेषतायें

समीक्षक और गीषकर्ता आचार्य द्विवेदीजी पर अपना विवेचन पूरा कर अब हम अपन प्रबंध का उपसंहार करना चाहते हैं। पहले अध्याय में हमने देखा है कि हजारप्रसाद द्विवेदी ने एक सामान्य ब्राह्मण परिवार में जन्म लेकर शिक्षा और पान लाम क उच्चतर साधनों में बहुत कुछ बचित्र रह हैं। काफी समय तक उनका अध्ययन घर पर और श्राधीण पाठशाला म हाता रहा। परन्तु द्विवेदी जी का स्वल्पशील व्यक्ति व इतने से सतोंप नहीं कर सका। फलत उहाँने संस्कृत और ज्योतिष में उच्च शिक्षा प्राप्त की। काफी विश्वविद्यालय पहुँचे। ज्योतिष विद्या द्विवेदीजी को अपन पूवर्जों म मिली थी। परन्तु साहित्य उनकी निजी अभिरुचि का परिणाम है। ज्योतिष में उच्चतम शिक्षा प्राप्त कर के भी उहाँने इसे अपनी आजीविका का साधन नहीं बनाया। सच पूछा जाय तो य परम्परागत ज्योतिष पर बहुत अधिक विश्वास नहीं रखते हैं। साहित्य का अनुशीलन उहाँने अपने जीवन का प्रमुख उद्देश्य बनाया है। परन्तु यहाँ भी उनकी शिक्षा, संस्कृति, साहित्य तक ही सीमाबद्ध थी। द्विवेदीजी को मनस्विता यहाँ भी परितोष न प्राप्त कर सकी और उहाँने अघेजी में हाई स्कूल की परीक्षा देकर बिदेगी साहित्य के अध्ययन का द्वार भी खोल ही दिया। परिस्थितियाँ फिर भी उनके अनुकूल न बा सकी और वे कुछ समय तक उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर में एक सामान्य अध्यापक का काय ही प्राप्त कर सके। सन् १९३० के आस-पास

द्विवेदीजी का नया जीवन अघ्याय आरम्भ हुआ। ६ नवम्बर १९३० को वे घर से गति निकेतन के लिए रवाना हुए। वे लिखते हैं '७ नवम्बर के प्रातःकाल में शांतिनिकेतन पहुँचा और सीधे आशा दीदी के घर गया उस समय बहू घर पर नहीं थी। घर के भृत्य ने बताया कि यह बलास ले रही हैं और उगली उठा कर दिखा भी दिया कि वहाँ बलास ले रही हैं। कुछ ही समय में आशा दादी से उनकी भेंट हुई। वे लिखते हैं आशा दीदी मुझे देखकर बड़ी प्रसन्न हुए, बाली कोई सूचना नहीं दी। बिना सूचना दिए ही आ गये—मैं बहा—आना तो या ही सूचना क्या देता ?

शांतिनिकेतन के निवास काल में द्विवेदीजी वहाँ के वातावरण से अत्यधिक लाभान्वित हुए। वहाँ पहुँचने तक वे बंगला भाषा नहीं जानते थे। परन्तु वहाँ रहते रहते उन्होंने कई भाषाओं का अभ्यास किया जोसा कि द्विवेदीजी ने लिखा है उन दिनों शांतिनिकेतन के वातावरण में एक संगीतात्मकता प्राप्त थी। प्रकृति की मानव परिष्कृत भूमिका भी विद्यमान थी। नवयुवक और तरुण विद्यार्थियों की उत्साहपूर्ण और मुसस्वृत गतिविधि भी चतुर्दिवस व्याप्त थी और इन सबमें ऊपर गुरुदेव का उदबोधक व्यक्तित्व उस विद्यापरी को एक अपूर्व आलोक प्रदान कर रहा है। इन तीनों के मिश्रण से संगीत प्राणता शांतिनिकेतन की एक कर्तवीय विशेषता बन गई है। इस संगीत प्राणता में सहज कला प्रेम का भी सम्यक मिश्रण है। द्विवेदीजी लिखते हैं 'ऐसा जान पड़ता था जैसे किसी अघ्यापक की प्रेरणा पर छोटे छोटे बच्चों के चित्त में रचनात्मक कला स्वयं उदभूत हो जाती है और सौन्दर्य निर्माण के प्रति उनमें जादर भाव जागृत हो जाता है।' वे कहते हैं मैंने ऐसे ऐसे विद्वानों को वहाँ अत्यन्त साधारण जीवन बिताते देखा है जिनके दर्शन के लिए दूर-दूर से लोग आते थे। सहज जीवन शांतिनिकेतन आश्रम का मूल में था। आश्रम के बयोवृद्ध मनीषियों का तपस्व्यापूर्ण जीवन विद्यार्थियों को आनन्दालास से परिपूर्ण दिनचर्या अनेक प्रकार के श्रुत उत्सवों का माहक संस्मरण नाटक, नृत्य आदि के आनन्द मुग्ध अनुष्ठान और सबसे बढ़कर गुरुदेव का प्रेमपूर्ण व्यवहार द्विवेदीजी की रमिति में स्थायित्व पा गया है।'

द्विवेदीजी के व्यक्तित्व का वास्तविक निर्माण शांतिनिकेतन में ही हो सका है। अतएव ऊपर के वर्तनत्व से इस व्यक्तित्व के निर्माण की ओर उन पर पड़ने वाले प्रभावों की रूपरेखा का अनुमान किया जा सकता है। शांतिनिकेतन

## उपमहार और प्रदेय

में रहकर द्विवेदीजी ने साहित्य के मूल्यांकन की मायना की और विशेषकर भारतवर्ष के 'मध्यकालीन साहित्य, लोक साहित्य, लोक कला आदि का अनुशीलन किया। उत्तर-भारत के विद्वान साहित्य के शिष्ट स्वरूप की ओर जितन दत्त चित्त है शातिनिकेतन के वातावरण में नागरिकता की ओर उनका आग्रह नहीं। भारतीय संस्कृति की मूलभूत भूमिवादा को दृढ़ निश्चालने की प्रवृत्ति अथवा यो जिनका भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान है। विशयकर कवि खोदनाथ की रहस्यवादी चिन्तन और मानवतावादी दृष्टि के अनुरूप शांति निकेतन के पंडितों का विशेष अभिनिवेश है। आज हमारे द्विवेदीजी भी उन्हीं सबसे परिचित हुए हैं।

द्विवेदीजी का अधिकांश साहित्यसंजन शांतिनिकेतन की भूमि में हुआ था। हिंदी साहित्य की भूमिका को अंतिम स्वरूप वही दिया गया। कबीर पुस्तक का निर्माण वही हुआ। नाथ संप्रदाय और मध्यकालीन धर्ममाधना के सूत्र वहीं से प्राप्त हुए। अशोक के फूल बाणभट्ट की आत्मकथा, वही की परिणतिया हैं। हम कह सकते हैं द्विवेदीजी का साहित्य का सबसे भास्वर अथ शांतिनिकेतन की देन है।

## साहित्य निर्माण

यद्यपि द्विवेदीजी का मुख्य काम मध्यकालीन साहित्य और लोक संस्कृति की विवेचना करना ही है, परन्तु वे संस्कृत साहित्य की सरणियों में भी आवागमन करते रहे हैं। प्राचीन भारत का कला विनोद उनकी एमो पुस्तक है जिसमें शिष्ट साहित्य के प्रणेताओं की जीवनचर्या पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यही नहीं उन्होंने संस्कृत साहित्य की विवेचना भी सम्यक्त मात्रा में की है।

विशुद्ध रूप से हिंदी साहित्य के इतिहास पर उनकी दृष्टि कुछ समय परवात गई थी और कदाचित्त तभी उन्होंने प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य का अनुशीलन किया। इन साहित्यों का अनुशीलन से द्विवेदीजी को सबसे मार्मिक वस्तु प्राचीन काव्य में ही प्राप्त हुई है। हिंदी साहित्य के आरम्भिक निबन्धों पर उनका प्रभाव दिखाई देता है। इन काव्य रूढ़ियों के आधार पर द्विवेदीजी आदिकान का इतिहास निम्न में अधिक समीप सामग्री का सक्न कर सके हैं। शांतिनिकेतन में वाणी विश्वविद्यालय में ध्यान के परवात उन्होंने हिंदी के आदि काल के स्वरूप पर पीछे गम्भीर भाषण दिए जिनमें हिंदी के आदिनाल के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा जसा कि हम अन्य अध्यायों में कह चुके हैं।

आदिकाल सम्बन्धी भाषण माला से किसी प्रकार के प्रामाणिक निष्कर्ष मल ही न निकल परन्तु उनसे एक ओर तो द्विवेदीजी की सांस्कृतिक अभिरुचियों का परिचय मिलता है और दूसरी ओर नये गोघको के विचार करने के लिये यथेष्ट सामग्री प्राप्त हुई है। जस कि जन और बौद्ध साहित्य के सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य के विद्वानों में यह भावना रही है कि आदिकाल की सृष्टि सांप्रदायिक सृष्टियाँ हैं और उन्हें साहित्य की सीमा में प्रवेश नहीं मिल सकता परन्तु द्विवेदीजी की दृष्टि उस साहित्य कोटि की नहीं, उसमें कवियों की साहित्यिक या रसात्मक दृष्टि भी परिलक्षित होती है। रहस्यवादी सिद्ध संप्रदाय के विषय में भी द्विवेदीजी का वक्तव्य अत्यन्त ही पंडितों के वक्तव्य से भिन्न प्रकार का है। वे सिद्ध साहित्य को हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि में महत्वपूर्ण स्थान देना चाहते हैं।

हिन्दी (आदिकाल) के निर्माण करने के पश्चात् द्विवेदीजी ने अपने एक शिष्य के साथ पथ्वीराज रासो के उस स्वरूप के निर्माण का उपाय किया जिससे वे रासो का मूलस्वरूप मानने में विश्वास रखते हैं। यद्यपि पथ्वीराज रासो का यह संस्करण अत्यन्त लघु है और इस पर अब तक विद्वानों की स्वीकृति नहीं मिली है परन्तु एक ऐतिहासिक कल्पना को रूपाहित करने का प्रयत्न इस संप्रदाय में परिलक्षित करने का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है। अपभ्रंश साहित्य में हिन्दुओं का योगदान था। पथ्वीराज रासो की भाषा के सम्बन्ध में द्विवेदीजी के निर्देशन में ध्यान देने योग्य प्रबंध प्रकाशित हुआ है।

## इतिहास लेखक

इस प्रकार का वैविध्यपूर्ण गोघ काय करने के पश्चात् द्विवेदीजी ने हिन्दी साहित्य नामक एक इतिहास ग्रन्थ भी लिखा है। यह सही है कि इस इतिहास ग्रन्थ के लिखने में द्विवेदीजी ने सम्पूर्ण अभिनिवेश नहीं दिखाया और उस छात्रोपयोगी बनाकर इसमें विशिष्ट विवचन को क्षीण कर दिया है फिर भी सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य पर द्विवेदीजी की एक ऐसी दृष्टि का निर्देश हो सका है जो एक सीमा तक अपनी मौलिकता रखती है। आदि कालीन और मध्यकालीन हिन्दी साहित्य पर द्विवेदीजी के विचार बहुत कुछ स्वतंत्र हैं और उनकी मानवतावादी दृष्टि के परिसूचक हैं परन्तु शय इतिहास में द्विवेदीजी कोई बड़ी मौलिकता नहीं ला सकते हैं। जहाँ पर इतिहास लेखन शैली का प्रश्न है इसमें द्विवेदीजी वस्तुमुखी शैली की अपना व्यक्तिगत निर्देशन शैली को अपनाते हैं। इसके कारण उनका इतिहास में एक सजीवता सा है पर एक समग्र वार्तात्मक दृष्टिकोण विरहित नहीं हो सका है। यदि द्विवेदीजी इस इतिहास को अधिक समय देकर

तयार करते तो उसका ऐसा स्वल्प वन सक्ता था जिस ह्रम स्वतंत्र इतिहास ग्रथ तथा विशिष्ट पद प्रधान कह सकते । आधुनिक युग के ऐतिहासिक अनुशीलन में द्विवेदीजी ने इसी एकदम स्वतंत्र या मौलिक आधार और शैली को नहीं अपनाया फिर भी द्विवेदीजी स्वच्छ-दत्तावादी प्रकृति कविया और उनकी कृतियों के अन्वेषण में प्रवेश करने में सक्षम हैं । यदि इस आधुनिक हिंदी इतिहास का अधिक सद्यतोमुखी अध्ययन और परिशीलन किया जा सक्ता तो इस ग्रंथ में वहाँ अधिक प्रौढ़ता, विचार क्षमता और मौलिकता आ सकती थी ।

इतिहास लेखन के पश्चात् द्विवेदीजी को समग्र कृतियाँ प्रकाश में नहीं आईं । उनके स्फुट निबंध और भाषण अवश्य प्रकाशित हुए हैं । सुना जाता है कि उन्होंने अपना नया उपन्यास 'चारुचंद्रलेख' काफी दूर तक लिख लिया है और इन दिनों वे लातिनय मीमाना नामक एक सौन्दर्यशास्त्र का ग्रंथ लिख रहे हैं । इसमें भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की विस्तरी हुई परम्पराओं का आकलन किया जा रहा है । हम आशा कर सकते हैं कि यह ग्रंथ द्विवेदीजी की प्रौढ़ प्रतिभा के अनुष्ण होगा और सौन्दर्यशास्त्र की शास्त्रीय परम्परा को एक स्पष्ट रूप दे सकेगा ।

साहित्यनिकेतन से काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद पर आन के पश्चात् द्विवेदीजी ने साधनाय में अपने विशिष्ट विद्यार्थियों को सम्पन्न कर जो कुछ काय किया है उसका उन्नेय हम यथाम्यान कर चुके हैं । सयोगवश इन्हें काफी विश्वविद्यालय छोड़ देना पड़ा और अब वे पत्राव विश्व विद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष होकर चटौगढ़ आ गये हैं । अभी इन्हें कई वर्षों तक अध्ययन क्षेत्र में रहना है । अनएन यागा की जा सरती है कि साहित्यनिकेतन में जिस व्यक्तित्व का निर्माण हुआ था उसका विकास और प्रतिफलन उत्तरोत्तर होता रहना और द्विवेदीजी हिन्दी साहित्य का बहुत कुछ योगदान दे सकेंगे ।

## शोध और समीक्षा

इस प्रकार उनकी जीवनी के विकास के साथ साथ उनके साहित्य निर्माण का सक्षिप्त आकलन करने के पश्चात् हम विशेषकर साध और समीक्षा के क्षेत्र में उनके कार्यों का सारांश उपरिष्ठ करना चाहते हैं । द्विवेदीजी की समीक्षाओं और साधनाय बहुत कुछ एक दूसरे से सम्बन्धित हैं बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि विगुद्ध साहित्य समीक्षा को अपेक्षा उनका साधनाय शोध को ओर अधिक रहा है । विगुद्ध समीक्षात्मक उनका कोई भी ग्रंथ प्राप्त नहीं है । आधुनिक साहित्य पर उनकी समीक्षाएँ प्रकीर्णक प्रकार की हैं । जहाँ तक साधनाय का सम्बन्ध है द्विवेदीजी का

काय कुछ तो परिचय मूलक है उमे हम छायानुवाद भी कह सकते हैं। सस्कृत साहित्य पर लिखे गये उनके निबन्ध अधिकतर इसी श्रेणी में आते हैं। परन्तु द्विवेदीजी का वास्तविक शोध काय साहित्य इतिहास और सस्कृति पर है। यहाँ पर उ होने अपनी विशेष अभिमुखता का परिचय दिया है। आठवीं-नवीं शताब्दियों से आरम्भ कर १४वीं १५वीं शताब्दियों तक प्रायः ६०० वर्षों के साहित्य का शोधन और मूल्यांकन इनकी विशेष दान है। यह समग्र साहित्य अब तक प्रायः उपनिप्त रहा है। द्विवेदीजी के काय स इस पर अभिनव प्रकाश पड़ा है। हम पिछले अध्यायों में उनके शोध काय का विवरण दे चुके हैं। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भारतीय अलंकार युग के साहित्यिक और विशयपर उनके ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों को एक नवीन जालोक देकर द्विवेदीजी ने बहुत कुछ ऐतिहासिक काय किया है। उनके विचारों से सहमत होना सबसे आवश्यक नहीं है। परन्तु उनके अध्ययन और अनुशीलन का मूल्य स्वीकार करना भारतीय विद्यालयियों के लिए अत्यावश्यक है। यह सही है कि द्विवेदीजी शोध और अनुशीलन काय में लोक सस्कृतिवादी आदर्श को लेकर चले हैं। इन्हीं शताब्दियों में सस्कृत का अतिशय सबद्ध और समृद्ध साहित्य विद्यमान है जिसकी ओर द्विवेदीजी ने अधिक ध्यान नहीं दिया। अतएव उन शताब्दियों के समग्र सांस्कृतिक जीवन का एक पक्षहीन उदघाटन द्विवेदीजी का विषय रहा है। यह पक्ष एक भाग मूलक पक्ष है। इतिहास की समग्रता कदाचित् इसमें पूर्णता से प्रतिबिम्बित नहीं हो सकी है। परन्तु इस प्रकार द्विवेदीजी के प्रयासों में कोई विशेष कमी नहीं आती। उनका लक्ष्य साहित्य के माध्यम से सम्पूर्ण सस्कृति का पर्यवेक्षण करना कदाचित् नहीं था। परन्तु सस्कृति के एक विशेष युग और पक्ष को जो समग्र विवेचना द्विवेदीजी ने की है वह हिंदी साहित्य में अपार महत्व रखती है।

यद्यपि हमारे प्रबंध में द्विवेदीजी का समीक्षक और शोधकर्ता रूप ही प्रधान है परन्तु हमने द्विवेदीजी के इतिहासकार और शैलीकार स्वरूप का विवेचन भी दो अध्यायों में किया है। एक अन्य अध्याय में हमने उनके आचार्यत्व का निर्देशन प्रस्तुत किया है। इतिहास वास्तव में समीक्षा और शोध का ही एक मिला जुला स्वरूप है। अतएव द्विवेदीजी का इतिहास ग्रन्थ भी उनके समीक्षक और शोधकर्ता स्वरूप का एक विस्तार है। अपने इतिहास ग्रन्थ में द्विवेदीजी ने अपने मध्यकालीन शाखा का पर्यवेक्षण किया है। इस दृष्टि से उसमें नयी सामग्री और नया विवेचन प्राप्त होता है। हम पिछले एक अध्याय में यह भी दाख चुके हैं कि द्विवेदीजी ने इतिहास लेखन में समन्वय लाने का प्रयत्न किया है। पूर्ववर्ती इतिहास लेखक अपने साहित्य की प्रवृत्तियों का इतिहास ग्रन्थों में निर्देश

करके और कविया की चर्चा भी करते थे। इन दोनों में तारतम्य स्थापित करने में वे अशत सफल हुए थे। द्विवेदीजी का इतिहास यद्यपि छोटा है पर पूर्ववर्ती इतिहासों की अपेक्षा उसमें समीकरण का तत्व अधिक स्पष्ट हो सका है। इसे हम हिन्दी इतिहास लेखन में विकास की एक दिशा ही कह सकते हैं। हम द्विवेदीजी की उस आफलन प्रतिभा का भी उल्लेख कर चुके हैं जिसके द्वारा वे कवि विशेष या कृति विशेष की वैद्रीय विशेषता का स्पर्श करते हुए और उस केंद्र से भी अपने विवरणों की परिधि खींचते हैं। यह भी कवि विवेचन की एक उल्लेखनीय उपलब्धि है। इन सबके साथ द्विवेदीजी की मूल मानवतावादी दृष्टि का योग हो जाने से उनके इतिहास में एक दूसरी समप्रता भी आ गई है। इस प्रकार द्विवेदीजी का इतिहास लेखन नयी सामग्री और नयी शैली का पर्याप्त मात्रा में आनयन कर सका है।

## शैलीकार

प्रचुर मात्रा में विवेचनात्मक और विचारात्मक साहित्य का निर्माण करते हुए भी द्विवेदीजी एक शैलीकार के दायित्व को भी पूरा कर सके हैं। उनकी शैली धारावाहिक भावात्मक और लोकाभिमुखी है। आचार्य गुप्त की शैली की सी तटस्थता और अनुक्रमशीलता द्विवेदीजी में नहीं है। अथर्व स्वच्छन्दतावादी लेखन की सी सस्टुनगत और सुविन्यस्त शैली से भी द्विवेदीजी पृथक् स्थिति रखते हैं। उन्होंने या तो बाणभट्ट की आत्मकथा से बाण की काव्यात्मक और सामासिक शैली के उदाहरण उपस्थित किए हैं परन्तु बदाचित यह उनकी महज शैली नहीं है। यह केवल उनके भाषा अधिकार का द्योतन करती है। द्विवेदीजी की वास्तविक शैली उनके निबन्धा में पाई जाती है। विशेषकर वैयक्तिक निबन्धों में उनकी शैली का प्रतिनिधि स्वरूप मिलता है। उन्में सरोप में सहज शैली का नाम लिया जा सकता है। अपने एक पिछले अध्याय में हम द्विवेदीजी की गद्यशैली का संक्षेप विवरण दे चुके हैं। यहाँ हम यह कहना चाहते हैं कि द्विवेदीजी की एक स्वतंत्र शैली जिसका अनुरग और बाह्य विधान अन्य शैलीकारों से स्वतंत्र है जगा कि हम कह चुके हैं उनकी शैली का अंतरग उनकी भाव प्रवणता से अनुशासित है। जहाँ तक उनके विचारात्मक और द्रोघात्मक निबन्ध की बात है वे भी इसी भावात्मकता में अनुप्राणित हैं। यह बदाचित् विषय स्थापन में पूर्णतः समर्थ नहीं हैं, फिर भी इस शैली का अपना गुण यह है कि इसके द्वारा केवल विद्वानों की ही नहीं साधारण पाठकों की भी आकृष्ट किया जा सकता है।

द्विवेदीजी की शैली की दूसरी विशेषता उसकी सवादात्मक प्रवृत्ति है।



द्विवेदीजी अपने पाठक को सदैव अपने सम्मुख रखकर लिखते हैं। कतिपय अन्य शैली गद्यकारों की भांति वे आत्मो-मुख नहीं हैं। उनकी शैली की यह बाह्यापवादिता उनको एक लोकप्रिय शैलीकार बनाने में समर्थ है।

जहां तक उनकी शैली के बहिरंग का प्रश्न है हमने यह देखा है कि द्विवेदीजी का भाषा और शब्द चयन पर बहुत अच्छा अधिकार है। इसका अच्छा उपयोग उनके साहित्यिक निर्माण में किया गया है परंतु शब्द चयन में द्विवेदीजी न तो पवित्रतावादी हैं और न परिष्कारवादी। जो कोई शब्द उन्हें अपनी सहज शैली के लिए उपयुक्त प्रतीत होता है उस चुन लेने में उन्हें कोई हिचक नहीं होती। फलतः द्विवेदीजी की शैली का बाह्य आधार यापक है और चयनशील भी है। इस दृष्टि से द्विवेदीजी अपने पूर्वज आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदीजी के अधिक समीप कह जा सकते हैं। यह अंतर फिर भी बना रहता है कि द्विवेदीजी की भाषा शैली में गतिशीलता और प्रवाह अधिक है जबकि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की शैली में अनेकरूपता है। वैसे द्विवेदीजी की शैली अधिक सयत और मन्द गति है, इन दोनों पंडितों की शैली में व्यंग्य और विनोद का भी प्रचुर स्थान है। परंतु जहां महावीर प्रसाद द्विवेदी की शैली में व्यंग्य का आधिक्य है द्विवेदीजी की शैली में विनोद की प्रधानता है। यह भी कहा जा सकता है कि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के व्यंग्य और विनोद अधिक खुल हुए हैं जबकि हजारी प्रसाद द्विवेदीजी की शैली में ये अधिक प्रच्छन्न और व्यञ्जक होकर आये हैं।

युगोन शैलीकारों में द्विवेदीजी का उल्लेखनीय स्थान है। उनकी शैली आयास की सूचना कही नहीं देती। इसलिये इस सहज कहा जा सकता है। बोलचाल के अधिक समीप होने के कारण उनकी शैली प्रेमचंद के भी समीप कही जा सकती है परंतु प्रेमचंद की भांति द्विवेदीजी में उदू का आधिक्य नहीं है और न ग्रामीण मुहावरों की अधिकता है। हम कह सकते हैं कि प्रेमचंद की अपेक्षा वे हिन्दी की अपनी परम्परा के अधिक निकट हैं। द्विवेदीजी की शैली पर बगना भाषा के साहित्यिकों का प्रभाव भी सक्षित होता है। विशेषकर उनके व्यंग्य और विनोद का स्वरूप बगानी साहित्यिकों के सामीप्यजन्य प्रभाव का द्योतक है। यह सब हात हुए भी द्विवेदीजी की शैली आधुनिक हिन्दी के क्षेत्र में अपनी स्वतन्त्र इकाई लिए हुए है और वह इकाई पर्याप्त विगिष्ट और मूल्यवान है।

### आचार्यत्व

उपयुक्त विशयताओं से समन्वित द्विवेदीजी का साहित्यिक काय तथा

उनके चरित्र और व्यक्तित्व की अल्प विशेषतायें उन्हें हिन्दी के आधुनिक आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित करने में समय हुई हैं। हम पिछले एक अध्याय में आचार्य शब्द का अर्थ और उसकी विशेषता का परिचय दे चुके हैं और यह भी बता चुके हैं कि आधुनिक हिन्दी साहित्य में भिन्न भिन्न विशेषताओं का आधार पर महावीर प्रसाद द्विवेदी, डा० श्यामसुन्दर दास, प० रामचन्द्र गुप्त निडनी पीठी के प्रमुख आचार्य कहे जा चुके हैं। इनकी तुलना में द्विवेदीजी के आचार्यत्व की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख भी कराया जा चुका है। वर्तमान पीठी में द्विवेदीजी के अतिरिक्त आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी की गणना की जाती है। इन तीनों की तुलना करना यहाँ वांछनीय नहीं है परन्तु इतना तो हम दर्शने ही हैं कि इन तीनों के व्यक्तित्व और उनका साहित्यिक कार्य बहुत कुछ पृथक् पृथक् है। प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र शास्त्रीय पद्धति के पक्ष में और आचार्य हैं। उनका प्रमुख कार्य साहित्य की शास्त्रीय व्याख्या करना है। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रचुर शोध कार्य किया है और अपनी स्वतंत्र रचनायें दी हैं। विशेषकर ऐतिहासिक दृष्टि पर उनकी मोमासायें उत्तमोत्तम हैं। उन्होंने भी हिन्दी साहित्य का अतीत नामक इतिहास ग्रन्थ लिखा और 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' नामक एक पुस्तक भी लिखी। इसके अनि-रिक्त उन्होंने घनानन्द की रीतियुक्त कवि के रूप में प्रस्थापित किया है। बिहारी, केशव, भूपण और पद्माकर आदि के सम्बन्ध में उनकी स्वतंत्र पुस्तकें प्राप्त होती हैं। साहित्य के सिद्धांत पर उनका यादगम विमर्श प्रसिद्ध ग्रन्थ है। मिश्रजी का उनकी इन्हीं रचनाओं के आधार पर हम शास्त्रीय परम्परा का आचार्य कह सकते हैं। श्री आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी के सम्बन्ध में यहाँ विशेष कुछ कहना समीचीन नहीं जान पड़ता। विशेषकर इस कारण कि वे हमारे इस प्रबंध के निर्देशन भी हैं। तथापि मनोपम कहा जा सकता है कि आधुनिक साहित्य और विशेषकर छायावादी काय के एक अभिन्न साहित्यिक भूमिका देकर प्रथम बार उसका मागोपगम विवेचन उन्होंने किया है। इसके अनि-रिक्त वास्तविक रूप में भारतीय और पश्चिमी गमना पद्धति को एक साथ सम्मिलित कर उन्होंने हिन्दी समीक्षा में एक मौलिक प्रतिमान का आविर्भाव किया है। उन्हें आधुनिक हिन्दी का प्रथम स्वच्छन्दावादी समीक्षक कह सकते हैं। हिन्दी के विशाल आधुनिक साहित्य के सम्बन्ध में इनकी प्रामाणिकता और नवीनता के साथ निरखने वाले व्यक्ति को यदि आचार्यत्व की पदवी दी गई तो हममें किसी प्रकार की संशयता नहीं है परन्तु समीक्षा में एक नये युग का विकास करने के कारण वह उपाधि उनके सम्बन्ध में उपयुक्त है। आचार्य वाजपेयी जी ने प्राचीन साहित्य और विशेषतः तुलसीदास एवं गुरदास जस प्राचीन कवियों के कर्मों का

संपादन किया और उनके काव्य पर मौलिक विचार व्यक्त किए हैं। इन कारणों से पूरे हिंदी साहित्य में उनकी एक स्वतंत्र दृष्टि का विद्यास हाँ सका है। इस समय हिंदी साहित्य के विद्यार्थियों के लिए आधुनिक साहित्य पर बाजपेयी जी के वक्तव्य प्रमुख आधार का काम कर रहे हैं।

इस भूमिका पर जब हम आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को लाकर रखते हैं तो सबसे पहले यह अभिजात होता है कि द्विवेदीजी प्रमुखतः प्राचीन साहित्य और उसके विविध स्वरूपों को प्रकाश में लाने वाले आचार्य हैं। उनका दृष्टिकोण सांस्कृतिक है, वे मानवतावादी विचारक हैं। उन्होंने साहित्य को साधन माना है साध्य नहीं, इस दृष्टि से उनका साहित्यादश अत्यंत स्वतंत्र और नवीन है। भारतीय अधकार युग की भिन्न परम्पराओं का उन्होंने प्रकाशित किया है जो हिंदी साहित्य के नवीन अध्यात्मों के लिए काफी मूल्यवान है। विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से अथवा एकदम ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर द्विवेदीजी की उदभावनाओं और निष्कर्षों के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है परन्तु लोकजीवन की भूमिका पर उन्होंने प्राचीन साहित्य का जो अनुशीलन किया है वह निस्संदेह मूल्यवान है।

द्विवेदीजी केवल समीक्षक और शोधकर्ता ही नहीं एक स्वतंत्र रचनात्मक कृतिकार भी हैं। यों तो उनके निबन्धों में यह रचनात्मक शक्ति परिलक्षित होती है परन्तु 'बाण भट्ट की आत्मकथा नामक औपचारिक कृति में वह और भी स्पष्ट हो गई है। यह उपन्यास हिन्दी साहित्य में न केवल सम्मानित है बल्कि एक स्वतंत्र पद्धति का निदर्शक माना गया है। इस उपन्यास को लिखकर द्विवेदीजी ने प्राचीन भारतीय सम्प्रदाय और सृष्टि के अंतिम उल्लेखनीय युग पर एक नया आलोक केन्द्रित किया है। हृदयवद्धन के समय की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था विभिन्न धार्मिक और रहस्यवादी चिन्तनधाराओं राजकीय परिवेश आदि के सम्बन्ध में द्विवेदीजी ने औपचारिक सीमा में यथेष्ट विवरणपूर्ण चित्र उपस्थित किए हैं। यहाँ द्विवेदीजी के कलाकार रूप के साथ उनके पंडित रूप के युगपत् दर्शन हाते हैं।

अब तक द्विवेदीजी की दो महत्वपूर्ण कृतियाँ अपनी निर्माणावस्था में हैं। एक तो वे भारतीय साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास लिख रहे हैं जो हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में एक नयी वस्तु होगी। दूसरे वे चारुचन्देलस नामक एक अन्य उपन्यास भी लिख रहे हैं जिसमें कुछ अणु-पत्रिकाओं में

प्रकाशित हुए हैं। इन दोनों ग्रन्थों के प्रणयन के पश्चात् द्विवेदीजी एक शास्त्रज्ञ विद्वान के अतिरिक्त एक विशिष्ट कलाकार के रूप में भी हमारे समक्ष आ सकेंगे। इस प्रकार द्विवेदीजी के आचार्यत्व में रचना और विचारणा के दोनों ही पक्ष समाहित हो जाते हैं जिसके कारण उनका साहित्यिक ऐश्वर्य और भी दीप्तिमान हो जाता है।

## प्रदेय

द्विवेदीजी के सम्पूर्ण प्रदेय को पहले तो ऐतिहासिक भूमिका पर देखा जाना चाहिए और इसके पश्चात् उसे अपनी तार्किक भूमि पर भी देखना आवश्यक होगा। ऐतिहासिक भूमिका से हमारा आशय आधुनिक साहित्य के विकास में द्विवेदीजी के योगदान से है। तार्किक भूमिका से हमारा आशय उनकी उन साहित्यिक और वचनारिक विशेषताओं से है जिनसे उनके कथ के स्थायी मूल्यों का आकलन हो सकता है। हमारी यह रचना विशेषकर द्विवेदीजी के समीक्षक और शोधकर्ता व्यक्तित्व से है इसलिये हम यहाँ इन्हीं दो रूपों में उनके ऐतिहासिक योगदान पर विचार करेंगे।

## ऐतिहासिक प्रदेय

द्विवेदीजी के पूर्व हिन्दी में विचारका, समीक्षकों और साहित्यिकों की एक लम्बी परम्परा चली आ रही थी। उनमें से कुछ विचारक तो विगुह साहित्यिक क्षेत्र के थे, कुछ अन्य साहित्य के साथ भाषा और इतिहास के पक्षों को मिलाकर चलते रहे हैं परन्तु साहित्य के माध्यम सामाजिक और लोकजीवन के समस्त योगों को और उस लोकजीवन की दार्शनिक और आध्यात्मिक उपलब्धियों को एक साथ मिलाकर देखने का प्रयत्न अपभ्रान्त कम किया गया था। द्विवेदीजी के साहित्य की सांस्कृतिक विधास का साधन मानकर सस्कृति के परिवेश में ही साहित्य की समीक्षा भी है। द्विवेदीजी की सस्कृति सम्बन्धी धारणा काफी विस्तृत है। उसमें समाज, सामाजिक और राजनतिक इतिहास, धार्मिक दार्शनिक उदभावनायें, लोकजीवन के आचार विचार और विश्वास सब एक साथ सप्रथित हैं। सस्कृति के इतने विस्तीर्ण स्वरूप का आधार बनाने के कारण द्विवेदीजी का साहित्यानुशीलन एक नयी ही भूमिका पर पहुँच गया है। इसे हम एक शब्द में समाहित साहित्य भूमिका कह सकते हैं। इस प्रकार की समग्र भूमिका हिन्दी के क्षेत्र में इसके पूर्व इतनी स्पष्ट नहीं थी। अतएव हम इस द्विवेदीजी का उल्लेखनीय प्रदेय कह सकते हैं।

## मानवतावादी दर्शन

अपने समस्त साहित्यिक काल में द्विवेदीजी की एक अतर्निहित दृष्टि भी दिखाई देती है वह दृष्टि एक गहन मानवतावादी है। यों तो मानवतावादी दृष्टि के अनेकानेक रूपों और प्रकारों पर पड़ना ने विचार किया है पर द्विवेदीजी जिस मानवतावादी दृष्टिकोण को उपस्थित कर सके हैं वह बहुत कुछ नियत परिभाषा का दृष्टिकोण नहीं है। उनमें मानवतावादी विशिष्ट सामाजिक वर्गों और शास्त्र सम्मन प्रतिमानों के प्रभावों का स्वीकरण नहीं है बल्कि व्यापक लोकजीवन और विशपकर बहुसंख्यक अरथज वर्गों की निर्माणात्मक प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराना ही उन्हें अभीष्ट है। मानवतावाद के इस आदेश को अपना लेने के कारण द्विवेदीजी एक प्रकार से साहित्य की शालीन और परम्परागत मापताओं से कुछ दूर भी चले गये हैं परंतु इसी कारण ये ऐसे तथ्यों का भी मग्न कर सके हैं जो दूसरी दृष्टि से अधिक मूल्यवान् हैं। भारतीय इतिहास केवल राजाओं और पड़िता का इतिहास नहीं है। उसमें उन असंख्य, अनाम और अपरिचित वर्गों और जातियों का भी योगदान है जिसका हम सम्यक् बोध नहीं था। इस प्रकार द्विवेदीजी ने मानवतावादी आदेश इतिहास का एक नए प्रकार से उन्पाटन कर दिया है। यावहारिक रूप में सत कवियों की जीवनी और उनका काव्य विभिन्न संप्रदायों की दार्शनिक और अध्यात्मिक मापताओं और विश्वासों को सहृदयता से देखने और समझने का काव्य हिन्दी के क्षेत्र में द्विवेदीजी ने सम्पन्न किया है। उनकी इसी मानवतावादी धारणा के कारण इतिहास, समाजशास्त्र, धर्म, अध्यात्म सभी पक्षों का एक नया अर्थ और एक नयी दीप्ति मिल सकी है। श्रमागत साहित्यिक आदर्शों में जिन अनेकानेक कवियों को साम्प्रदायिक समन्वय छान लिया था वह द्विवेदीजी ने नये सिरे से प्रकाश में ला रखा है। भले ही साहित्यिक भूमिका पर उन कवियों का अधिक मूल्य न हो पर सांस्कृतिक और ऐतिहासिक तथ्यों के अनुशीलन के लिये ऐसी कवियों का अपना स्वतंत्र स्थान है। इस प्रकार द्विवेदीजी ने अपने प्रयत्नों से हिन्दी के साहित्यिक क्षेत्रों में चित्त की एक नयी भूमिका प्रदान की है। यह उनका दूसरा मूल्यवान् प्रदेय है।

भारतवर्ष में अनेक मापदण्ड प्रारम्भ से ही प्रचलित हैं। अनेक जातियाँ और वर्ग यहाँ विकसित और वृद्ध माने हुए हैं। इस विविधता का आधार बनाकर विभिन्न पड़िता ने एक एक भाषा क्षेत्र के साहित्य का अनुशीलन किया था। विविधता में एकता लाने वाले योगिन दृष्टि को विस्तार देने वाले उपकरण

सामान्य साहित्यिकों की दृष्टि में नहीं आये थे। द्विवेदीजी ने समस्त भारतीय साहित्य और वाङ्मय को एक इकाई के रूप में देखने का प्रयत्न किया है। हिंदी, गुजराती, मराठी, बंगला, राजस्थानी प्रदेशों में जो एक ही सांस्कृतिक गति-विधियाँ पूर्वकाल में प्रचलित थीं उनका समाहार करके उन्हें एक समर्पित भूमिका पर ला रखने का उद्योग भी एक मूल्यवान् काय कहा जायेगा। द्विवेदीजी ने प्राचीन साहित्य के शोध में इन्हीं दृष्टि का प्रयोग किया है। फलतः वे बौद्ध जैन, सिद्ध, नाथ, निगुण, सगुण भक्ति के संप्रदायों का एक ही भारतीय भूमिका पर रखकर देखने में सलग्न हुए हैं। हिंदी के सघ, गुजराती के सघ अलग अलग नहीं हैं बल्कि उनकी भाषा अलग है। संपन्न की भूमिका पर वे समान हैं। यही नहीं एक ही संप्रदाय का विकास गुजरात, राजस्थान और उत्तरभारत में तथा एक ही नाथ संप्रदाय का विकास विभिन्न प्रदेशों में हुआ था। जब तक इस भारतीय एकता का बोध नहीं हो जाता तब तक भारतीय साहित्य को विभिन्न इकाइयों में बाँटकर पढ़ने में हम उनके समग्र मूल्यों का ज्ञान नहीं हो सकेगा। द्विवेदीजी की व्यापक दृष्टि इस महत्वपूर्ण तथ्य को अच्छी तरह समझकर आत्मसात कर ली थी। तभी उनकी समीक्षाओं और शोधों में प्रादेशिक भाषाओं की इकाई उतरी मुखर नहीं है जिसकी एक सावदेशिक भूमिका का संस्थापन। हम कह सकते हैं कि द्विवेदीजी की इस सावदेशिक सांस्कृतिक दृष्टि से विभिन्न प्रादेशिक साहित्यों में समान प्रेरणा स्रोतों को ढूँढने में अधिक सहायता मिलेगी। स्वतः द्विवेदीजी का अध्ययन अभी आशिक रूप से इस समग्रता का परिचय दे पाया है परन्तु इस दृष्टि का आधार लेकर नये युग और नयी पीढ़ियाँ के विद्यार्थी भारतीय साहित्य का समग्रता पूर्ण अध्ययन और अनुशीलन करने में मग्न हो सकेंगे ऐसी आशा की जा सकती है।

## साहित्यिक प्रदेश

साहित्य शास्त्र के अंतर्गत रस अलंकार आदि के विभिन्न मंत्रालय प्रचलित हैं और विभिन्न आचार्य अपने-अपने संप्रदायों के पक्ष में पर्याप्त विवेचन कर चुके हैं। इन समस्त संप्रदायों का समाहार संस्कृत साहित्यशास्त्र में उपलब्ध है। आचार्य सम्मत इसी समय के प्रमुख प्रतिनिधि बह जा सकते हैं। रस, अलंकार, रीति, गुण आदि साहित्यिक मत यद्यपि मूलतः मानव जीवन के कलात्मक पक्ष से सम्बन्धित हैं परन्तु अनेक बार इन तत्त्वों का मानवीय सम्बन्ध लोगों की दृष्टि से ओझल हो जाता है और तब साहित्यिक विवेचनों में गहवही होने लगती है। यह है कि साधारण भाव भूमिका तथा मानवीय सृष्टि

और आदर्शों और उसके विक्रममान मूल्यों से सम्बन्ध विच्छेद कर ये रम अलंकार आदि कोरी शास्त्रीय भूमिका पर आधारित हो जाते हैं और तब एक प्रकार से कृत्रिम काय का और कला का सजन होने लगता है। यूरोप में कला के लिए कलावाद का आन्दोलन इसी का निदर्शक है। इसके साथ ही यह भी सत्य है कि रस अलंकार आदि साहित्यिक परम्परागत तथ्यों और तत्वों के सम्बन्ध छूट जाने पर साहित्यिक प्रतिमान लुप्त होने लगते हैं और वही स्थिति में कला और साहित्य की परम्परायें टूट जाती हैं और एक विश्व खलता उत्पन्न होती है। यह एक विचित्र द्वन्द्वात्मक स्थिति है कि एक ओर इन साहित्यिक मूल्यों को छोड़ा भी नहीं जा सकता और दूसरी ओर इन मूल्यों को एकमात्र ही तत्व मान लेने पर मानवीय विकास से साहित्य का सम्बन्ध उच्छिन्न हो जाता है। एक या दूसरी ओर अति की दिशा में जाने पर विश्व खलता का उत्पन्न होना अवश्य भावी है। सञ्चुत साहित्य के शास्त्रीय युगों में कई बार ऐसे अवसर आते हैं जब साहित्यिक कृतियों का सम्बन्ध मानवीय जीवन प्रवाह से बटकर अलग हो गया है। ऐसे अवसरों पर केवल आलंकारिक और चमत्कार पूरे साहित्य की सृष्टियाँ होती रही हैं। इसी प्रकार ऐसे युग भी साहित्यिक इतिहास में प्राप्त होते हैं जब साहित्य का सम्बन्ध साहित्य की सुदृढ़ परम्पराओं से टूट गया है। वही स्थिति में लोक साहित्य की सृष्टि होने लगती है जिसमें सौन्दर्य और रस के पक्ष तिरोहित हो जाते हैं। इस द्वन्द्वात्मक परिस्थिति से प्रत्येक दूरदर्शी चिंतक को गुजरना पड़ता है। इस समस्या का हल कदाचित यह है कि साहित्य चिंतक और विचारक कला के मानवीय पक्ष और उसकी सौन्दर्य भूमिका को समन्वित करके आगे बढ़ें। वास्तव में आधुनिक युग में कला और साहित्य को एक विशेष समस्या रही है। कुछ विचारक साहित्य को उपदेशात्मकता की ओर खींच ले गये हैं और कुछ विचारक उसे विमुक्त कला की दृष्टि से देखना चाहते हैं। उपदेशात्मकता का आधिक्य साहित्य को उसकी प्रवाह क्षमता से दूर फेंक देना और युगीन भावनाओं और चेतनाओं से रिक्त कला और साहित्य भी अतिगम्य एकांत और निष्प्राण हो जायेंगे। ऐसे ही अवसरों पर ऐसे समीक्षकों की आवश्यकता पड़ती है जो एक ओर कला का सम्बन्ध जीवन से और दूसरी ओर जीवन का विनियोग कला के माध्यम से करा सकें।

आचार्य द्विवेदीजी ने अपने युग के इस साहित्य की इस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का समया धा और उन्होंने इनमें सामंजस्य लाने का उद्योग भी किया है। यह सही है कि युगीन भूमिका पर द्विवेदीजी का यह सम वयात्मक प्रयास हित्य के जीवन पक्ष की ओर कुछ अधिक झुका गया है और साहित्य तथा

कला की अपनी परम्परायें कुछ उपेक्षित हुई हैं। फिर भी द्विवेदीजी का प्रयत्न उस दिशा में है जो युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप है। प्रजातन्त्रात्मक अवस्था में प्रगतिशील मानव जीवन की आवश्यकतायें सर्वोपरि होनी हैं। जहाँ-जहाँ साहित्य वर्गीय भूमिका ग्रहण करता है और सामान्य जनता से दूर चला जाता है वहाँ वहाँ साहित्य के समीपक को उसकी वर्गीयता और विशेषाधिकार की अममानता पर उसे जनजीवन के अधिक समीप लाना पड़ता है। द्विवेदीजी का दूसरा साहित्यिक प्रयत्न इसी प्रगतिशील दिशा की ओर है। यदि उन्होंने युगीन चेतना का साथ देते हुए साहित्य के परम्परागत मानों की किसी हद तक उपेक्षा की है तो यह उनका एक अवश्यभावी दिशा निर्देश भी कहा जा सकता है। परन्तु रसों और अलंकारों की व्याख्या करते हुए द्विवेदीजी ने अनेक बार उसके मानवीय आधार के साथ साथ उसकी परम्परागत सौन्दर्य और आनन्द भूमिकाओं का उल्लेख किया है। उन्होंने इन शब्दों से किसी प्रकार तिरस्कार नहीं होने दिया। अतएव हम कह सकते हैं कि आधुनिक साहित्य की एक विषम और जटिल समस्या का समाधान करते हुए द्विवेदीजी ने सतुलन खोया नहीं है। जहाँ एक ओर उन्होंने निगुण संप्रदाय की साहित्यिक परम्पराओं से अल्प परिवर्तित कबीर जैसे कवियों को असाधारण महत्त्व दिया है वहाँ उन्होंने ससृजन साहित्य के काव्य ग्रन्थों के प्रति यथेष्ट सम्मान व्यक्त किया है। द्विवेदीजी की ये समन्वयवादी दृष्टि युगीन विकास के अनुरूप तो है ही, वह साहित्यिक समीक्षण का एक सतुलित प्रतिमान भी प्रस्तुत करती है। इसे हम तात्त्विक भूमिका पर द्विवेदीजी का एक प्रदेय ही मानेंगे।

शांतिनिकेतन में प्रमुखतः कबीर रसाद के सपक में रहते हुए और बंगाल की विद्वान् मंडली का साहचर्य प्राप्त करते हुए द्विवेदीजी ने साहित्य की आध्यात्मिक मूल्यों के साधन के रूप में भी ग्रहण किया है। रबींद्रनाथ महान् रहस्यवादी और दार्शनिक कवि हैं। उन्होंने शांतिनिकेतन में ऐसे पढ़ियों का समुदाय स्थापित किया था जो भारतीय अध्यात्म की अनेक गुणियों की मुद्रणा कर उपस्थित कर सकें। रवि बाबू ने उपनिषदों, गीता तथा अथ अध्यात्म ग्रन्थों के साथ-साथ कबीर जैसे आध्यात्मिक साधकों के चरित्र का यथेष्ट पारायण किया था। उन्होंने कबीर की पदावली का एक अग्रज अनुवाद भी अपनी ही लेखनी से प्रस्तुत किया था। उन्हीं के साहचर्य और सपर्क से भारतीय कला के क्षेत्र में भी एक विशाल परिवर्तन पटित हुआ। रवीन्द्रनाथ ठाकुर से लेकर मादलाल घोष और अथ कलाकारों के द्वारा जिन दृष्टियुक्त धारों की स्थापना हुई उसका बहुत कुछ श्रेय शांतिनिकेतन को है। साहित्यिक क्षेत्र में रबींद्रनाथ का प्रभाव प्रायः समस्त भारतीय साहित्य पर पड़ा था। ~ गारे भारत



मे रवींद्रनाथ की रहस्यवादी काव्य साधना का अनुसरण भी हुआ है। द्विवेदीजी इस महान राष्ट्रीय साहित्यिक और कलात्मक प्रवृत्तन का सीधा साक्षात्कार कर सके हैं अतएव उनके ऊपर भारतीय नवोत्थान की इस कला साधना का प्रभाव न पड़ता यह सम्भव नहीं था। द्विवेदीजी के समस्त साहित्य में अध्यात्म पक्ष की जो सुस्थिर और सुदृढ भूमिका मिलती है वह इस भारत व्यापी नव्यकला साहित्योत्थान का प्रतिरूप ही है। हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी काव्य के नाम पर प्रचलित प्रसाद, निराला और पत की काव्य स्रष्टियाँ, बिस्वुद स्वच्छन्दतावादी न होकर अध्यात्मोन्मुख बनी हुई हैं। द्विवेदीजी के व्यक्तित्व और विचारणा में इन कवियों के प्रति एक नसर्गिक आत्मोद्यता का होना आवश्यक था। हम यह देखते भी हैं कि उन्होंने हिन्दी के छायावादी कवियों पर सहानुभूतिपूर्ण टिप्पणियाँ लिखी हैं इसके विपरीत वे तथाकथित प्रगतिवादी और परिचमवादी प्रभाव से आपन्न प्रयोगवादी साहित्य को अपनी सपूर्ण सहानुभूति दे सके हैं। इस प्रकार द्विवेदीजी की अध्यात्मोन्मुख साहित्यिक चेतना कबीर से प्रसाद तक प्रसरित दिखाई पड़ती है। एक ही अपवाद प्रेमचन्द जी का मिलता है जिनमें सामाजिक जीवन और सपनों की प्रचुरता मिलती है। द्विवेदीजी ने अपने आध्यात्मिक संस्कारों के साथ प्रेमचन्द जी का भी स्वागत किया है। यह उनकी व्यापक सहानुभूतियों की परिचायक तत्व है। द्विवेदीजी के अध्यात्म और रहस्यवाद में इस सघनशील समाज सुधारक लेखक के लिये भी स्थान है। इससे उन की आध्यात्मिकता की गहराइयों और विस्तार का बोध होता है। उन्होंने हिन्दी साहित्य में एक साथ प्रसाद, पत, और प्रेमचन्द के लिये जो प्रशंसात्मक वक्तव्य दिये हैं उन्हें तालिक भूमिका पर उनका अग्य प्रदेय कहा जायगा। दो परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली साहित्य सरणियों का समान सहानुभूति से आकलन और आशंसा करने वाले समीक्षक बिरले ही होते हैं परन्तु द्विवेदीजी के व्यक्तित्व में इतने व्यापक संस्कार संयोजित हो चुके हैं कि वे रहस्यवादी काव्य और समाजवादी उपन्यास लेखन को विकास की एक ही धारा में समन्वित कर सके हैं। गंगा और यमुना का यह सगम जिस पवित्र त्रिवेणी का निर्माण करता है उसमें द्विवेदीजी ने जी खोलकर स्नान किया है।

द्विवेदीजी का एक अत्यन्त प्रिय यह भी है कि वे एक समीक्षक और शोधकर्ता ही नहीं रचनाशील साहित्यकार भी हैं। हिन्दी में पिछली पीढ़ी तक प्रायः सभी समीक्षक स्वतन्त्र रचनाकार भी रहे हैं। उदाहरण के लिये मिश्रबन्धु एक समीक्षक और इतिहास लेखक ही न थे कवि और औपन्यासिक भी थे। इसी प्रकार वृणविहारी मिश्र और लाला भगवानदीन भी सन्निय साहित्य रचयिता

य। इस परम्परा के अंतिम व्यक्ति आचार्य रामचन्द्र गुक्ल से जिन्होंने अपने गम्भीर समीक्षा काय के साथ-साथ बुद्ध चरित जसा काव्य प्राय भी लिखा। अनेकानेक छोटी बड़ी कवितायें और निबंध भी लिखे। वे कहा करते थे कि मुझे स्वतंत्र लेखन में जितना आनंद आता है उतना बौद्धिक समीक्षा काय में नहीं। परन्तु यह परम्परा वर्तमान युग में आकर बहुत कुछ क्षाण हो गयी है। आधुनिक समीक्षकों में षोड़ी बहुत स्वतंत्र रचनायें तो प्रस्तुत की हैं परन्तु वे मुख्यतः विवेचक और विश्लेषक बन बैठे हैं। परिस्थितियों के दबाव में उन्हें इस विशेषता की ओर झींच रखा है। साहित्य में यह एक उल्लेखनीय प्रश्न रहा है कि केवल विवेचना क्या साहित्यकार का एकमात्र धर्म हो सकता है और क्या कोरा विवेचन साहित्य के साथ ग्याय कर सकता है? योरोपीय साहित्य में भी इस प्रश्न पर विचार किया गया है। उनके यहाँ कवि समीक्षकों की एक समष्टि परम्परा है परन्तु वर्तमान समय में सबके सब समीक्षक कवि या उपमासकार नहीं हैं। यदि टी० यसे० इतिपठ विचारक होना साथ-साथ एक थोड़ा कवि भी है तो आई० ए० रिचर्ड्स विगुद्ध समीक्षक हैं। इनके पूर्व के समीक्षकों की दो श्रेणियाँ रही हैं। एक वह जो कवि समीक्षकों की है और दूसरी वह जो केवल विचार-कत्ताओं की है। यद्यपि यह स्वीकार किया जा सकता है कि विचारक या समीक्षक साहित्य के मर्म के साथ ग्याय करने का प्रयत्न करते हैं परन्तु कदाचित् यह आदस स्थिति नहीं जा सकती। साहित्य का तत्व और मर्म जानने के लिए साहित्यिक और रचनात्मक निर्माण की भी आवश्यकता है। वैसा न होने पर साहित्यिक विचारों में वृत्तानिकता भले ही बढ़ जाय परन्तु साहित्यिक मोन्दय सम्पूर्णतः साम्य ही उद्घाटित हो सके।

द्विवेदीजी के साथ यह मुयोग दना जाता है कि वे कोरमनोर एक समीक्षक और शोधकता ही नहीं हैं। उन्होंने भावात्मक भूमिका पर एक मानवतावादी दर्शन अपना रखा है, जिसका कारण उनका समस्त समीक्षा और शोधकाय में एक स्वतंत्र अयवत्ता भी आ गई है। परन्तु इससे भी अधिक विशेषता यह है कि वे एक स्वतंत्र रचयिता और कलाकार भी हैं। उन्होंने कई काव्यकृति नहीं लिखी परन्तु बाणभट्ट की आत्मकथा नामक उपमात्मिक कृति तैयार की है जो काव्य का पूरा आनंद देती है। इस प्रकार द्विवेदीजी ने साहित्यिक विचारणा, भावात्मक दर्शन और रचनाशील साहित्य की त्रिविध क्षमताओं में संपन्न होकर आधुनिक समीक्षकों की अगुआ एक व्यापक साहित्यकार और समीक्षक का प्रदेय पूरा किया है। वर्तमान समय में जब साहित्यिक विवेचन में वैज्ञानिकता का प्रयत्न रहा है द्विवेदीजी की समीक्षाओं एक प्रबल

म रवीन्द्रनाथ की रहस्यवादी काव्य साधना का अनुमरण भी हुआ है। द्विवेदीजी इस महान राष्ट्रीय साहित्यिक और कलात्मक प्रवृत्तन का सीधा साक्षात्कार कर सके हैं अतएव उनके ऊपर भारतीय नवोत्थान की इस कला साधना का प्रभाव न पड़ता यह सम्भव नहीं था। द्विवेदीजी के समस्त साहित्य में अध्यात्म पक्ष को जो सुस्थिर और सुदृढ़ भूमिका मिलती है वह इस भारत व्यापी नव्यकला साहित्योत्थान का प्रतिरूप ही है। हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी काव्य के नाम पर प्रचलित प्रसाद, निराला और पत की काव्य सृष्टियाँ, विदुद स्वच्छन्दतावादी न होकर अध्यात्मोन्मुख बनी हुई हैं। द्विवेदीजी के व्यक्तित्व और विचारणा में इन कवियों के प्रति एक नैसर्गिक आत्मीयता का होना आवश्यक था। हम यह देखते भी हैं कि उन्होंने हिन्दी के छायावादी कवियों पर सहानुभूतिपूर्ण टिप्पणियाँ लिखी हैं इसके विपरीत वे तथाकथित प्रगतिवादी और पश्चिमवादी प्रभाव से आपन्न प्रयोगवादी साहित्य को अपनी संपूर्ण सहानुभूति दे सके हैं। इस प्रकार द्विवेदीजी की अध्यात्मोन्मुख साहित्यिक चेतना कबीर से प्रसाद तक प्रसरित दिखाई पड़ती है। एक ही अपवाद प्रेमचन्द जी का मिलता है जिनमें सामाजिक जीवन और सधर्षों की प्रचुरता मिलती है। द्विवेदीजी ने अपने आध्यात्मिक सस्कारों के साथ प्रेमचन्द जी का भी स्वागत किया है। यह उनकी व्यापक सहानुभूतियों का परिचायक तर्क है। द्विवेदीजी के अध्यात्म और रहस्यवाद में इस सधर्षशील समाज सुधारक लेखक के लिये भी स्थान है। इससे उन की आध्यात्मिकता की गहराई और विस्तार का बोध होता है। उन्होंने हिन्दी साहित्य में एक साथ प्रसाद, पत, और प्रेमचन्द के लिये जो प्रशंसात्मक वक्तव्य दिये हैं उन्हें तालिक भूमिका पर उनका अर्थ प्रदेय कहा जायगा। दो परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली साहित्य सरणियों का समान सहानुभूति से आकलन और आशा करने वाले समीक्षक बिरल ही होते हैं परन्तु द्विवेदीजी के व्यक्तित्व में इतने व्यापक सस्कार संयोजित हो चुके हैं कि वे रहस्यवादी काव्य और समाजवादी उपन्यास लेखन को विकास की एक ही धारा में समन्वित कर सके हैं। गंगा और यमुना का यह सगम जिस पवित्र त्रिवेणी का निर्माण करता है उसमें द्विवेदीजी ने जो खोलकर स्नान किया है।

द्विवेदीजी का एक अत्यन्तम प्रिय यह भी है कि वे एक समीक्षक और शोधकर्ता ही नहीं रचनाशाल साहित्यकार भी हैं। हिन्दी में पिछली पीढ़ी तक प्रायः सभी समीक्षक स्वतन्त्र रचनाकार भी रहे हैं। उदाहरण के लिये मिश्रबन्धु एक समीक्षक और इतिहास लेखक ही न थे कवि और औपन्यासिक भी थे। इसी प्रकार कृष्णबिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन भी सक्रिय साहित्य रचयिता

ये । इस परम्परा के अंतिम व्यक्ति आधाय रामचन्द्र शुक्ल ये जिन्होंने अपने गम्भीर ममीया काय के साथ-साथ बुद्ध चरित जैसा काव्य ग्रन्थ भी लिखा । अनेकानेक छोटी बड़ी कवितायें और निबन्ध भी लिखे । वे कहा करते थे कि मुझे स्वतंत्र लेखन में जितना आनन्द आता है उतना बौद्धिक समीक्षा काय में नहीं । परन्तु यह परम्परा वर्तमान युग में आकर बहुत कुछ शीघ्र हो गयी है । आधुनिक समीक्षकों ने चाही बहुत स्वतन्त्र रचनायें तो प्रस्तुत की हैं परन्तु वे मुख्यतः विवेचक और विश्लेषक बन बैठे हैं । परिस्थितियों के दबाव ने उन्हें इस विशेषता की ओर खींच रखा है । साहित्य में यह एक उल्लेखनीय प्रश्न रहा है कि केवल विवेचना क्या साहित्यकार का एकमात्र धर्म हो सकता है और क्या कोरा विवेचन साहित्य के साथ ग्याय कर सकता है ? योरोपीय साहित्य में भी इस प्रश्न पर विचार किया गया है । उनके यहाँ कवि समीक्षकों की एक समष्टि परम्परा है परन्तु वर्तमान समय में सबसे सब समीक्षक कवि या उपन्यासकार नहीं हैं । यन्टि टी० यल० इलियट विचारक हान साथ-साथ एक श्रेष्ठ कवि भी हैं तो आई० ए० रिचर्ड्स विगुद्ध समीक्षक हैं । इनके पूर्व के समीक्षकों की दो श्रणियाँ रही हैं । एक वह जो कवि समीक्षकों की है और दूसरी वह जो केवल विचार कर्त्ताओं की है । यद्यपि यह स्वीकार किया जा सकता है कि विचारक या समाक्षक साहित्य के मर्म के साथ ग्याय करने का प्रयत्न करते हैं परन्तु कदाचित् यह आदर्श स्थिति बही नहीं जा सकती । साहित्य का सत्व और मर्म जानने के लिए साहित्यिक और रचनात्मक निर्माण की भी आवश्यकता है । वैसे न हान पर साहित्यिक विचारों में यज्ञानिकता भले ही बढ़ जाय परन्तु साहित्यिक सौन्दर्य सम्पूर्णतः सायद ही उदघाटित हो सके ।

ट्रिवेदीजी के साथ यह सुयोग देला जाता है कि वे कोरमकोर एक समीक्षक और शोधकर्त्ता ही नहीं हैं । उन्होंने सावात्मक भूमिका पर एक मानवतावादी दर्शन अपना रखा है, जिसके कारण उनके समस्त समीक्षा और शोधकाय में एक स्वतन्त्र अयवत्ता भी आ गई है । परन्तु इससे भी अधिक विशेषता यह है कि वे एक स्वतन्त्र रचयिता और कलाकार भी हैं । उन्होंने कोई काव्यकृति नहीं लिखी परन्तु बाणभट्ट की आरम्भकथा नामक उपन्यासिक कृति तैयार की है जो काव्य का पूरा आनन्द देती है । इस प्रकार ट्रिवेदीजी ने साहित्यिक विचारणा, भावात्मक दर्शन और रचनाशील साहित्य की त्रिविध क्षमताओं से संपन्न होकर आधुनिक समीक्षकों की अगुआ एक व्यापक साहित्यकार और समीक्षक का प्रदेय पूरा किया है । वर्तमान समय में जब साहित्यिक विवेचन में यज्ञानिकता का आग्रह बढ़ रहा है ट्रिवेदीजी की समीक्षायें एक प्रयत्न और

भावज्ञ साहित्यिक व्यक्तित्व का प्रतिफलन करती हैं। बहुत से वैज्ञानिक किन्तु स्वदेशीय समीक्षकों की अपेक्षा द्विवेदीजी अधिक व्यापक साहित्यिक और मानवीय भूमिका पर अपना काम सपन्न कर सके हैं। आज की साहित्यिक समीक्षा जब विज्ञान की शुष्क भूमि पर प्रवृत्त कर रही है तब द्विवेदीजी की समीक्षायें एक हरे-भरे ससार का प्रत्यय देती हैं। यह निश्चय नहीं कि हिन्दी समीक्षा भविष्य में कौन-सा रूप ग्रहण करेगी। परन्तु आशाका यह अवश्य है कि वह कौरी वचारिक मरीचिकाओं में भटक न जाये। द्विवेदीजी का समीक्षा-काय इस प्रकार की आशाकाओं का प्रतिवाद करने के लिये एक सामयिक और तात्त्विक ज्योति सकेत देती है और हम यह भी आश्वासन पाते हैं कि साहित्य समीक्षा की नई वैज्ञानिक या मनोवैज्ञानिक खाइयों और गडढों के बीच द्विवेदीजी का समीक्षा और शोध काय एक वाद रहित और निःसंशय साहित्यिक राजपथ को निर्मित कर उस पर भविष्य के साहित्यिकों की सुविधा पूर्वक तथा निरापद चलने का आह्वान करता रहेगा।

---

## लेखक की कृतियाँ

### समोशात्मक प्रथम

- १ सूरसाहित्य
- २ नखदपल में हिन्दी कविता
- ३ सूर और उनका काव्य
- ४ साहित्य का साधो
- ५ आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार
- ६ मस्युजयी (रबीन्द्रनाथ)

### गोपारमक कृतियाँ

- ७ कबीर
- ८ मध्यकालीन धर्मसाधना
- ९ नायसप्रदाय
- १० हिन्दी साहित्य का आदिकाल

### ऐतिहासिक कृतियाँ

- ११ हिन्दी साहित्य की भूमिका
- १२ हिन्दी साहित्य

### निबन्धपरमक कृतियाँ

- १३ अशोक के फूल
- १४ हमारी साहित्यिक समस्याएँ
- १५ विचार और विठकें
- १६ साहित्य का धर्म
- १७ विचार प्रवाह
- १८ कल्पलता

### छापानुवाद

- १९ प्राचीन भारत के कालांतर काल

- २० प्राचीन भारत के कलात्मक विलास
- २१ प्रबन्ध चि तामणि
- २२ पुरातन प्रबन्ध संग्रह
- २३ प्रबन्ध कोश
- २४ विश्व परिचय
- २५ मेरा बचपन
- २६ लाल कनेर
- २७ रवीन्द्रनाथ की कविताएँ

#### सम्पादित ग्रन्थ

- २८ सम्येशरासक
- २९ सक्षिप्त पृथ्वीराजरासो
- ३० नाथ सिद्धों की वाणियाँ

#### कथा-साहित्य

- ३१ बाणभट्ट (की आत्मकथा)
- ३२ चारुचन्द्रलेख
- ३३ मेघदूत (एक पुरानी कहानी)

#### अनुपलब्ध व अप्रकाशित पुस्तकों के नाम

- ३४ लालित्य मीमांसा (प्रेस में)
- ३५ सग्तों का सूक्ष्मवेद
- ३६ अपभ्रंश का रसात्मक साहित्य
- ३७ कालिदास द्वारा प्रयुक्त प्रसाधन सामग्री
- ३८ भारत नाटक परम्परा और दशरूपक (प्रेस में)

### सहायक पुस्तकें

#### आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

- १ हिन्दी साहित्य का इतिहास
- २ तुलसीदास
- ३ जायसी प्रभावली
- ४ भ्रमर गीतसार

आचार्य श्यामसुन्दरदास

- ५ माया रहस्य
- ६ हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास
- ७ माया विज्ञान
- ८ कबीर दोहावली

आचार्य नन्दलाले वाजपेयी

- ९ हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी
- १० नया साहित्य-नए प्रश्न
- ११ आधुनिक साहित्य
- १२ महाकवि सूरदास
- १३ आधुनिक काव्य रचना और विचार

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

- १४ हिन्दी साहित्य का अतीत
- १५ हिन्दी का समसामयिक साहित्य

डा० पीताम्बरदास बहध्वाल

- १६ हिन्दी काव्य में निगुण संप्रदाय
- १७ सूरदास

डा० चन्द्रशेखर पाण्डेय

- १८ तुलसीदास
- १९ बेशवदास
- २० विचार और विमर्श

डा० मंगेश

- २१ विचार और विश्लेषण
- २२ विचार और विवेचन
- २३ विचार और अनुभूति

डा० मंगलस्यरूप मिश्र

- २४ हिन्दी समीक्षा का उद्भव और विकास

डा० मुन्शीराम गर्मा

- २५ सूरदास और भगवद्भक्ति



२६ भारतीय साधना और सूर साहित्य

२७ सूर सौरभ

डा० हरिधरलाल शर्मा

२८ सूर काव्य की आलोचना

२९ सूर और उनका काव्य

डा० रामकुमार शर्मा

३० हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास

३१ हिन्दी साहित्य का इतिहास

३२ सप्त कबीर

बाबूराजी गुट्टू

३३ हिंदी के आलोचक

रामधर तिवारी

३४ हिन्दी गद्य के निर्माता

श्री व्यथित हृदय

३५ हमारे गद्यकार

डा० शिवकुमार शर्मा

३६ हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ

डा० रामाधर शर्मा

३७ हिन्दी की सद्भागिक समीक्षा

डा० विपिनबिहारी त्रिवेदी

३८ चन्द्रवरदाई और उनका काव्य

रामगोपालसिंह चौहान

३९ हिन्दी के गद्यकार और उनकी शक्तियाँ

सत्यनाम शर्मा

४० हिन्दी साहित्यावलोकन

सिंहासनराम सिद्धेरा

४१ हिन्दी के श्रेष्ठ साहित्यकार

४२ हिन्दी साहित्य में काव्य रूपों के प्रयोग

जयनाथ मलिन

४३ हिन्दी के निवन्धाकार

## पत्र-पत्रिकायें

- १ धर्मयुग, फरवरी १९६२
- २ आलोचना-आलोचनाक
- ३ सरस्वती सन्वाद
- ४ विशाल भारत, मार्च १९५४
- ५ विशाल भारत अगस्त, १९५७
- ६ विश्वभारती पत्रिका
- ७ साहित्य सन्देश, १९५५
- ८ अज्ञानता, १९५३
- ९ सम्मेलन पत्रिका, स० २०१०
- १० सरस्वती सन्वाद, अप्रैल मई जून, १९६२
- ११ साहित्य सन्देश सितम्बर १९५२
- १२ सरस्वती सन्वाद, जून, १९५९
- १३ साहित्य सन्देश, अप्रैल, १९५२
- १४ सरस्वती सन्वाद, १९५७
- १५ साहित्य सन्देश, दिसम्बर १९५२
- १६ साहित्य सन्देश, मई १९५३
- १७ सरस्वती, फरवरी १९५५
- १८ अवलम्बिका, १९५३
- १९ मगम, जनवरी १९५६
- २० साहित्य सन्देश, मार्च, १९५७
- २१ साहित्य सन्देश, दिसम्बर १९५४
- २२ प्रतीक
- २३ सम्मेलन पत्रिका, स० २०११
- २४ नया समाज, सन १९५४
- २५ नया समाज, सन १९५५
- २६ हिन्दी अनुशीलन, मार्च १९६२



